जय भिक्षु जय तुलसी जय महाप्रज्ञ

घेवरचन्द बैद की पुत्र वधु सौ. सुशीला (धर्म पत्नी चि. भंवरलाल) के १५ दिन (पखवाड़ा) की तपस्या के उपलक्ष में सप्रेम भेंट।

दिनांक 2–8–1997

घेवरचन्द बैद
कांकरिया चौक,
नोखा

जयाचार्य निर्वाण शताब्दी
के अवसर पर

आचार्य तुलसी
युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

सम्पादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

अर्थ-सौजन्य :
समाज भूषण भगवत प्रसाद
रणछोड़दास चेरिटेबल ट्रस्ट,
अहमदाबाद

प्रबन्ध-सम्पादक
श्रीचन्द रामपुरिया
अध्यक्ष, जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : १९८१

मूल्य पच्चीस रुपये

मुद्रक :
एस० नारायण एंड संस,
७११७-१८, पहाड़ी धीरज,
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

श्री जयाचार्य निर्वाण शताब्दी समारोह के अवसर पर जैन विश्व भारती के तृतीय प्रकाशन के रूप में 'प्रज्ञापुरुष जयाचार्य' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को जनता के हाथों में सौपते हुए हमे आपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

श्रीमज्जयाचार्य का जन्म-नाम जीतमलजी था। आपने अपनी कृतियों में अपना उपनाम 'जय' रखा इसलिए आप जयाचार्य के नाम से प्रख्यात हुए। आप श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य थे।

श्रीमज्जयाचार्य की जन्म-भूमि मारवाड़ का रोयट ग्राम था। आपका जन्म सं० १८६० की आश्विन शुक्ला १४ की रात्रिवेला में हुआ था। आप ओसवाल थे। गोत्र से गोलछा थे। आपके पिताश्री का नाम आईदानजी गोलछा और मातुश्री का नाम कल्लूजी था। आप तीन भाई थे। दो वड़े भाइयों का नाम सरूपचन्दजी और भीमराजजी था।

आपके ज्येष्ठ भ्राता सरूपचन्दजी ने स० १८६९ की पौष शु० ९ के दिन साधु-जीवन ग्रहण किया। आपने उसी वर्ष माघ कृ० ७ के दिन प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरे वड़े भाई भीमराजजी की दीक्षा आपके वाद फाल्गुन कृ० ११ के दिन सम्पन्न हुई और उसी दिन माता कल्लूजी ने दीक्षा ग्रहण की। इस तरह सं० १८६९ पौष शुक्ला ८ एवं फाल्गुन कृ० १२ की पौने दो माह की अवधि में माता सहित तीनों भाई द्वितीय आचार्य श्री भारमलजी के शासन-काल में दीक्षित हुए।

साधु-जीवन ग्रहण करने के समय जयाचार्य नौ वर्ष के थे। दीक्षा के वाद आप शिक्षा के लिए मुनि हेमराजजी को सौपे गए। वे ही आपके विद्या-गुरु रहे। आगे जाकर आप एक महान् आध्यात्मिक योगी, विश्रुत

इतिहास-सर्जक, विचक्षण साहित्य-स्रष्टा एवं सहज प्रतिभा-सम्पन्न कवि सिद्ध हुए।

सं० १६०८ माघ कृ० १४ के दिन तृतीय आचार्य ऋषिराय का छोटी रावलिया में देहान्त हुआ। आप चतुर्थ आचार्य हुए।

आचार्य ऋषिराय के देवलोक होने का समाचार माघ सु० ८ के दिन बीदासर पहुंचा जहां युवाचार्य जीतमलजी विराज रहे थे। सं० १६०८ माघ सुदी १५ प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र के समय आप पदासीन हुए और बड़े हर्ष के साथ पट्टोत्सव मनाया गया। आचार्य ऋषिराय ने ६७ साधुओं एवं १४३ साध्वियों की धरोहर छोड़ी।

आपने श्वेताम्बर तेरापन्थ धर्म संघ के चतुर्थ आचार्य पद को ३० वर्षो तक सुशोभित किया। आपका निर्वाण सं० १६३८ की भाद्र कृ० १२ के दिन जयपुर में हुआ। सं० २०३८ भाद्र कृ० ११ के दिन आपको निर्वाण प्राप्त हुए १०० वर्ष पूरे हुए है।

श्रीमज्जयाचार्य ने अपने जीवन-काल मे लगभग ३½ लाख पद्य-प्रमाण साहित्य की रचना की। जैन वाङ्मय के पंचम अंग 'भगवई' का आपका राजस्थानी पद्यानुवाद 'भगवती-जोड़' राजस्थानी साहित्य का सबसे बड़ा ग्रन्थ माना जाता है। यह ५०१ विविध रागिनियों में गेय गीतिकाओ मे निबद्ध है।

आपकी साहित्यिक रुचि बहुविध थी। तेरापन्थ धर्मसंघ के संस्थापक आदि-आचार्य श्रीमद् भिक्षु के बाद आपकी साहित्य-साधना बेजोड़ है। आप महान् तत्त्वज्ञानी थे। जन्मजात कुशल इतिहास-लेखक थे। सजीव संस्मरणात्मक जीवन-चरित्र लिखने की आपकी प्रवीणता अनोखी थी। आप बड़े कुशल संघ-व्यवस्थापक और दूरदर्शी आचार्य थे। आपकी कृतियों का सौष्ठव, गांभीर्य एव संगीतमयता—ये सब मनोमुग्धकारी है।

जयाचार्य को युगप्रधान आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। उन्होंने बहुत बड़े संघ को अपनी अद्भुत मनोवैज्ञानिक व्यवस्था-पद्धति से उत्कर्ष की उत्कृष्ट भूमिका में पहुंचाया।

वे स्वयं तपस्वी थे और तपस्वियों के प्रति बड़ी उदात्त भावना रखते थे। संलेषणा-संथारा के अवसरों पर वे मुमुक्षु आत्माओं को पुनीत दर्शन दे

उन्हें हर्षोत्फुल्ल कर अपने उपदेशों से उनके दृढ़ संकल्प को उसी तरह जागृत कर देते थे जैसे घन-गर्जन मयूर को मुखरित कर देता है। वे सही अर्थों में महामानव थे। उन्होंने अनेक साधु-साध्वियों को मृत्युञ्जयी होने में अपूर्व सहयोग दिया।

वे महामना थे। वड़े कृतज्ञ-हृदय थे। संघ के प्रति की गई छोटी-मोटी हर सेवा उनकी दृष्टि को आकर्षित करती थी। संघ के अभ्युदय हेतु जिसने जो भी कार्य किया, उसे उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से युग-युग के लिए अमर कर दिया। यह उन्ही की लेखनी का चमत्कार था कि उन्होने संघ के इतिहास को काव्य में गुम्फित कर उसे सुरक्षित वना दिया ताकि भावी पीढ़ी उसका रसास्वादन कर प्रेरणा पाती रहे।

प्रस्तुत ग्रंथ 'प्रज्ञापुरुष जयाचार्य' ऐसे ही युगप्रधान आचार्य, उद्भट विद्वान्, कवि, लेखक एव महान् योगी की प्रेरणास्पद जीवन-झाकियों का एक संक्षिप्त पर प्रभावशाली सम्पुट है।

ऐसे वहुमुखी प्रतिभा के घनी महामानव के व्यक्तित्व और कर्तृत्व एवं विचारों को प्रकाश मे लाने का विस्तृत उपक्रम अव तक नही किया गया। यह ग्रन्थ उस दिशा में प्रथम श्लाघ्य चरण-विन्यास है। इसमें ४४ अध्याय है और उनके अन्त: परिच्छेदों मे जयाचार्य की जीवनी के महत्त्व-पूर्ण पक्षों को उद्घाटित कर प्रथम वार जनता के सम्मुख रखा गया है।

प्रस्तुत अमूल्य ग्रन्थ के प्रणयन में युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी, युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ एवं सम्पादन मे मुनि दुलहराजजी का जो परिश्रम लगा है, वह स्वयं मुखरित हो रहा है।

श्री जयाचार्य जैसे पुनीत पुरुष की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर जय वाङ्मय एवं अन्य महत्त्वपूर्ण साहित्य प्रकाशित करने की विशाल योजना जैन विश्वभारती के सम्मुख है और हमें विश्वास है कि आप सव के सहयोग से यह संस्था उसे पूरा करने में सक्षम हो सकेगी।

इस अवसर पर हम श्री भगवत प्रसाद रणछोड़दास परिवार को हार्दिक धन्यवाद देते है जिन्होने जैन विश्व भारती मे साहित्य प्रकाशन स्थायी कोष के निर्माण हेतु स्वर्गीय समाजभूषण सेठ भगवतप्रसाद रणछोड-दास (१९२१-१९८०) की पुण्य स्मृति में पचास हजार रुपये की राशि भगवतप्रसाद रणछोडदास चेरिटेवल ट्रस्ट, १४ पटेल सोसाइटी, शाहीवाग,

अहमदाबाद, ६४, से प्रदान कराने का प्रयत्न किया। उक्त ट्रस्ट को भी हम इस उदार अनुदान हेतु अनेक धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

श्री जयाचार्य निर्वाण शताब्दी समारोह के उपलक्ष में मित्र परिषद, कलकत्ता ने जैन विश्व भारती प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना हेतु दो लाख रुपयों की राशि प्रदान करने की कृपा की है। उक्त मुद्रणालय जैन विश्व भारती को साहित्य-प्रकाशन के क्षेत्र में द्रुतगति से बढ़ने में सहायक होगा। इस अवसर पर हम मित्र परिषद् के पदाधिकारियों एवं सदस्यों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन करते है।

श्री जयाचार्य निर्वाण शताब्दी समारोह समिति के संयोजक श्री धर्मचन्दजी चौपड़ा एवं अन्य सदस्यों को भी हम उनके आर्थिक सौजन्य के लिए अनेक धन्यवाद ज्ञापित करते है।

लाडनूं (राज०)
१ सितम्बर, १९८१

श्रीचन्द रामपुरिया
अध्यक्ष, जैन विश्व भारती

प्रस्तुति

बहुत वर्ष पहले मन में एक प्रश्न उठा था—जयाचार्य की शक्ति का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर खोजा, समाधान मिला। उनकी शक्ति का रहस्य है उनकी विनम्रता। वे विनम्र थे, इसीलिए अनुशासित, ग्रहणशील और कृतज्ञता के भाव से भरे हुए थे। उनकी संकल्प-शक्ति, इच्छा-शक्ति, एकाग्रता की शक्ति और जागरूकता बेजोड़ थी। वे अच्छे शिष्य थे, इसीलिए अच्छे गुरु बने। जयाचार्य की निर्वाण शताब्दी अनुशासनवर्ष के रूप में मनाई जा रही है। अनुशासन समाज व संगठन की अनिवार्य अपेक्षा है, रही है और रहेगी। जैन साधना पद्धति सामुदायिक है इसीलिए अनुशासन और व्यवस्था को महत्त्व दिया गया।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन की एक विशिष्ट परपरा का सूत्रपात किया था। एक नेतृत्व, एक जैसी जीवन प्रणाली और एक ही तात्त्विक स्वीकृति। इस एकता से तेरापंथ का नई दिशा मे प्रस्थान शुरू हो गया।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के भाष्यकार बने। उन्होने आचार्य भिक्षु की अनुशासन और व्यवस्था-पद्धति को गतिशील बनाया। उसे पुष्ट आलंबन दिया। उसे सवारा और संविभाग (समाजवाद या साम्यवाद) के चौखटे मे उसे प्रतिष्ठित किया।

अनुशासन को प्रतिष्ठित करना सब चाहते है पर वह चाहने मात्र से प्रतिष्ठित नहीं होता। आचार्य भिक्ष ने अनुशासन के मूल स्रोत को खोजा। उन्होने निष्कर्ष की भाषा मे कहा—अनुशासन का अर्थ है साध्य या लक्ष्य की दिशा में चलना। अनुशासन के क्षेत्र मे उन द्वारा किए गए प्रयोग बहुत सफल रहे। जयाचार्य आचार्य भिक्षु के प्रत्येक चरणचिह्न का स्पर्श कर चले। उन्होंने अनुशासन की खोज और प्रयोग के साथ प्रशिक्षण

को जोड़ दिया। जहां शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण—तीनों एक साथ चलते है वहां विकास अपने आप हो जाता है।

अनुशासन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, समूचे समाज में, पूरे राष्ट्र में और पूरे जगत् में, पर प्रशिक्षण के विना उसका विकास दिवा-स्वप्न जैसा वन रहा है। जयाचार्य प्रशिक्षण की कला में वहुत दक्ष थे। वे साधनशुद्धि, हृदयपरिवर्तन, अहिंसा और अनेकांत के सिद्धांत में विश्वास करते थे। वे अपनी वात को वार-वार कहते। पर उनकी विनम्रता न पुन-रुक्ति का आभास होने देती और न कटुता का अनुभव। उन्होंने समूचे संघ को अनुशासन के सांचे में ढाल दिया।

एक प्रश्न उपस्थित हुआ—जयाचार्य निर्वाण शताब्दी का इतने वड़े स्तर पर आयोजन किया जा रहा है, इसके पीछे केवल श्रद्धा का ही वल है या उनकी कोई वड़ी देन है? इस प्रश्न का सहज-सरल उत्तर इस जीवन-वृत्त में मिलता है। मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठापना में उनके योगदान का कुछ सूत्रों में आकलन किया जा सकता है—

१. संप्रदायातीत धर्म का प्रस्तुतीकरण।
२. साधनशुद्धि का प्रतिपादन।
३. व्यक्तिगत स्वामित्व और संघीय स्वामित्व का भेदांकन।
४ व्यवस्था में संविभाग (या साम्य) के प्रयोग।
५. स्वतंत्र चिंतन का मूल्याकन और पंच-व्यवस्था का प्रयोग।
६. अनुशासन का मूल्यांकन, प्रयोग और प्रशिक्षण।
७. सेवा की अनिवार्य व्यवस्था।
८. गाथाप्रणाली (अपरिग्रही मुद्रा) का प्रचलन और उसके वदले मे सेवा और सहयोग की व्यवस्था।
९. कला का विकास।
१०. संगठन का मूल्यांकन और उसके प्रयोग।
११. व्यवस्था और अंतर्दृष्टि, अनुशासन और आत्मानुशासन का संतुलन।
१२. विनम्रता, ग्रहणशीलता और कृतज्ञता के मूल्यों की प्रतिष्ठा।

१३. विशाल साहित्य का प्रणयन—आगम-ग्रन्थों का मथन, पद्यानुवाद, गद्यानुवाद, मानवप्रकृति का विश्लेषण, संस्मरण, जीवनियां, कथाकोश, आख्यान, भक्तिकाव्य, ध्यान, मानसिक चिकित्सा आदि ।

जयाचार्य एक महान वैज्ञानिक थे । भौतिकविज्ञानी पदार्थ पर प्रयोग और परीक्षण करता है । जयाचार्य ने प्रयोग और परीक्षण किया मनुष्य पर । उनने धर्मसंघ को प्रयोगशाला में वदल दिया । उनके चैतसिक प्रयोगों का निष्कर्ष यह है—

१. व्यक्ति-परिवर्तन (या हृदयपरिवर्तन) और व्यवस्था-परिवर्तन में सामंजस्य होना अनिवार्य ।
व्यक्ति का हृदय वदले विना केवल व्यवस्था वदलने का परिणाम अच्छा नही होता । तथा व्यवस्था को वदले विना केवल व्यक्ति को वदलने की बात सार्थक नही होती ।

२. स्वतंत्रता तथा अनुशासन और व्यवस्था में सहअस्तित्व हो सकता है और वह अनिवार्य है ।

३. देश और काल के अनुसार परिवर्तन जरूरी है ।
मौलिक ग्रंथों के परिवर्तन का अधिकार नही है, पर उनकी व्याख्या में रहस्यों का प्रतिपादन किया जा सकता है ।

४. सामयिक व्यवस्था को शाश्वत सत्य का रूप नही देना चाहिए।

इन निष्कर्षो ने तेरापंथ धर्मसंघ को प्राणवान् वनाया । इस धर्मसंघ को जयाचार्य की महान् देन है । तेरापंथ और जयाचार्य जैसे पर्यायवाची वने हुए हैं । इस निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उस प्रज्ञापुरुष के चरणों में विनम्र श्रद्धांजलि, भावभरा वंदन और अभिनंदन ।

एक अकिंचन उपहार जयाचार्य के चरणों में, जनता के हाथो मे ।

आचार्य तुलसी
युवाचार्य महाप्रज्ञ

अणुव्रत भवन
२१० दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली, ११०००१
दिनांक १ सितम्बर, १९८१

अनुक्रम

प्रज्ञापुरुष जयाचार्य

१
जीवन का वातायन

जो आज भी अज्ञात है, साहित्यिक, वैचारिक, बौद्धिक, दार्शनिक और संगठन के जगत् में जो सुविज्ञात नही है, उस महान् व्यक्तित्व को जीवन-कथा साम्ययोग की आत्म-कथा है। यह आकाश-मंडल अज्ञात विभतियों के वैभव से भरा पडा है। अज्ञात अनंत है, ज्ञात बहुत थोड़ा।

जिसकी प्रज्ञा का प्रकाश साहित्य, विचार, चितन, दर्शन और संगठन-सूत्रों के कण-कण मे प्रदीप्त हो रहा है, वह है प्रज्ञापुरुष जयाचार्य।

जयाचार्य की जीवन-कथा आचार्य भिक्षु की जीवन-कथा है। जयाचार्य की जीवन-कथा तेरापथ की जीवन-कथा है। जयाचार्य की जीवन-कथा प्रज्ञा की आत्मकथा है। जयाचार्य का जीवन-सूत्र आचार्य भिक्षु की नियति से जुडा हुआ है। आचार्य भिक्षु को समझे विना जयाचार्य को नही समझा जा सकता और जयाचार्य को समझे विना आचार्य भिक्षु को नही समझा जा सकता। जयाचार्य के दर्पण में आचार्य भिक्षु का प्रतिबिंब जिस आभा के साथ उभरा है, उस आभा के साथ अन्यत्र नही उभरा है। जयाचार्य का प्रतिबिंब भी आचार्य भिक्षु के दर्पण मे अधिक सुषमा-शोभित हुआ है।

छोटा कद, छरहरा वदन, छोटे-छोटे हाथ-पाव, श्याम वर्ण, दीप्त ललाट, ओजस्वी चेहरा—यह था जयाचार्य का वाहरी व्यक्तित्व। अप्रकम्प संकल्प, सुदृढ़ निश्चय, मनस्वी, प्रज्ञा के आलोक से आलोकित अन्तःकरण, कृतज्ञता की प्रतिमूर्ति, अपने गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित, स्वयं अनुशासित, अनुशासन के जागरूक प्रहरी, संघ-व्यवस्था मे समता के प्रवर्तक और प्रयोगकार, महान् भाष्यकार और साहित्यकार, ध्यान के सूक्ष्म रहस्यों के मर्मज्ञ—यह था जयाचार्य का [illegible] ...क्तित्व।

उन्होने दोनो में अद्भुत संतुलन स्थापित किया। छोटा शरीर वड़े दायित्व के निर्वाह में और व्रड़ा दायित्व छोटे शरीर की क्षमता में कभी असफल नही वना। यह सामंजस्य की कहानी उनकी जीवन-कहानी है। यह कहानी साध्य और साधन की शुद्धि में विश्वास रखने वालों की अमर कहानी है। इसे पढकर हम भविष्य की क्रांतियों का स्वरूप वदल सकते है और कर सकते है जनता को पीड़ा और परतंत्रता से मुक्त।

व्यक्तित्व दो भागो मे विभक्त होता है—एक भाग है दृश्य और दूसरा अदृश्य। रंग-रूप, आकृति-संरचना, अंगों की वनावट—यह है दृश्य व्यक्तित्व। प्राण-शक्ति, आभा-मंडल, एकाग्रता, संकल्प-शक्ति, मनोवल, वाक्पटुता और आकर्पण-शक्ति—यह है अदृश्य व्यक्तित्व। आंतरिक व्यक्तित्व के विकसित होने पर कुरूप और कुडौल व्यक्ति भी आकर्पण का केंद्र होता है। आंतरिक व्यक्तित्व के साथ यदि वाहरी व्यक्तित्व भी आकर्पक होता है तो वह होता है मणिकांचन योग या सोने मे सुगंध।

२

तरापंथ : स्थापना और अवतरण

आचार्य भिक्षु ने नए युग का प्रवर्तन किया। उसका मूल्य उन सवके लिए है, जो क्राति मे विश्वास करते है। शान्ति शब्द सुनने में वहुत मीठा लगता है, पर कभी-कभी वह भ्रान्ति को जन्म दे देता है। श्मशान की शान्ति को मूल्य नही दिया जा सकता। साधना के क्षेत्र मे श्मशान को शान्ति जैसा वातावरण पल रहा था। गुरु और शिष्यों के संबंध सुविधावादी समझौतों के आधार पर चल रहे थे। क्राति की ज्योति-शिखा उनका पथ आलोकित नही कर रही थी। गुरु को शिष्य-समूह की अपेक्षा शायद अधिक थी। शिष्य गुरु के प्रति उतनी अपेक्षा का भार नही ढोते थे। परिणाम यह हुआ कि गुरु की अनुशासन-क्षमता मंद हो रही थी, शिष्य अनुशासनहीनता की दिशा मे आगे वढ़ रहे थे। आचार्य भिक्षु ने इस दिशा को वदलने का सकल्प किया, शिष्य-समूह की अपेक्षा से ऊपर उठ अनुशासन को नया जीवन दिया।

सत्य और संप्रदाय के संघर्ष का इतिहास वहुत पुराना है। सत्य को परंपरा चलाने के लिए संप्रदाय वनता है और वही सप्रदाय सत्य की ज्योति को ढांकने के लिए राख वन जाता है। आचार्य भिक्षु संप्रदाय मे दीक्षित हुए और उसमें रहे, पर संप्रदाय को उन्होंने सर्वोपरि मूल्य नही दिया। उनका पूरा समर्पण सत्य के प्रति था। उसकी साधना मे आने वाले कष्टों को हंसते-हंसते झेला, पर उससे विचलित नही हुए। 'मेरे पिता की तलाई है'—यह मानते हुए जो गंदा पानी पीता है, वह आचार्य भिक्षु की दृष्टि में समझदार आदमी नही होता।

आचार्य भिक्ष ने क्रांति की ज्योति जलाई, उसे संभाला आचार्य भारमल और ऋषिराय ने। अखंड ज्योति वनाने का दायित्व अपने पर ओढ़ा

जयाचार्य ने। यदि जयाचार्य नहीं होते तो आचार्य भिक्षु की क्रांति को स्थायी आधार नही मिलता। यदि जयाचार्य नही होते तो आचार्य भिक्षु की सूत्रवाणी को एक सशक्त भाष्यकार नही मिलता। यदि जयाचार्य नही होते तो आचार्य भिक्षु के स्वप्न को आकार नही मिलता।

अवतारवाद का सिद्धात किसी न किसी रूप में सवको मान्य है। जव-जव धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का अभ्युत्थान होता है तव-तव मैं अपना सृजन करता हूं—यह स्वय सृजन की वात भले ही विवादास्पद हो, पर यह निर्विवाद सचाई है कि सूक्ष्म जगत् मे अपेक्षा और उसकी पूर्ति का सार्वभौम नियम सतत क्रियाशील है। आचार्य भिक्षु अवतारी पुरुष थे। उनका अवतार इतिहास की एक विशिष्ट घटना है। उन्होंने अध्यात्म के क्षेत्र में एक अद्भुत क्रांति की, नए प्रयोग किए। उस क्राति और उन प्रयोगों को स्थायित्व देने के लिए अपेक्षा थी किसी दूसरे अवतार की। उसकी पूर्ति जयाचार्य के जन्म से हुई। तेरापंथ से मतभेद रखने वाले मित्र कहते थे—'भिक्षुजी के मन मे अपने संघ का मोह रह गया, इसलिए उन्होंने फिर जयाचार्य के रूप मे जन्म लिया है।' तेरापंथ के समर्थक कहते थे—'जयाचार्य आचार्य भिक्षु के अवतार है।' दृष्टिकोण अपना-अपना है, किन्तु जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का अवतार कहने में कोई अतिशयोक्ति नही लगती। स्टालिन को मार्क्स की आत्मा का पुनर्जन्म कहा जाता था। स्टालिन का शरीर अपना था, मस्तिष्क मार्क्स का। जयाचार्य के लिए भी यही वात घटित होती है। शरीर उनका अपना था, मस्तिक आचार्य भिक्षु का।

इसे सयोग ही कहा जाएगा आचार्य भिक्षु का स्वर्गवास हुआ (सं० १८६०) भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को और जयाचार्य का जन्म हुआ आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को। एक अवतार की समाधि और दूसरे अवतार का उद्भव और दोनो के वीच मे केवल तीस दिनों का अन्तराल। इस सयोग ने लोगों को नाना प्रकार की कल्पना करने का अवकाश दिया। जयाचार्य के मन मे भी यह कल्पना अवश्य उभरी होगी—स्वामीजी![1] मै आपका साक्षात्कार नही कर सका। कितना अच्छा होता कि मै आपका साक्षात्कार करता, आपका चरण-स्पर्श करता, एक वार आपकी तपःपूत मुखमुद्रा

---

१. आचार्य भिक्षु को 'स्वामीजी', नाम से भी सवोधित किया जाता था

को निहार लेता और आपकी क्रांति के परिणामों को स्थायी वनाने के लिए आपका आशीर्वाद प्राप्त कर लेता और आप भी मुझे अपनी अमृतवर्षी दृष्टि से नहला कर अमर वना देते। पर यह न हो सका, होता भी कैसे ? स्वामीजी ! जव आपने अनशन किया तव मै गर्भ मे था। मैं इस पांचवे अर में जन्मा, इस कलिकाल में जन्मा, फिर भी मेरे मन में इस वात का परम हर्ष है कि मै आपकी धर्म-क्राति के वाद जन्मा और मुझे आपका धर्म मिला।'[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् महावीर को सवोधित कर इस प्रकार का आत्म-निवेदन किया था—'घोर अन्धकारमयी रात्रि में दीप, जलपोत के भग्न हो जाने पर द्वीप, मरुस्थल की चिलचिलाती धूप मे पेड़ की छाह, हिमपात के समय अग्नि के ताप-जैसा दुर्लभ आपके चरण-कमल का रज-कण इस कलिकाल मे मुझे मिला है। प्रभो ! सुषमा-काल मे, सतयुग मे, मैं भ्रमण करता रहा, पर आपका दर्शन नही मिला। इस कलिकाल मे मुझे आपका दर्शन मिल गया। मेरे लिए यह परम हर्ष की वात है। मै इस कलिकाल को नमस्कार करता हूं।'[2]

जिस व्यक्ति को जिस देश और काल मे परम की उपलब्धि प्राप्त होती है, उसके लिए वह देश और काल वन्दनीय वन जाता है। जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु को परम सत्य के रूप मे देखा और उसी रूप मे उनकी वंदना की। उन्होंने वंदना के स्वर में लिखा – 'स्वामीजी जैसा साधु खोजने पर भी नही मिलता। जव-जव चर्चा-वार्ता में तीखे तर्क-वाण चलेगे तव-तव अवश्य

---

१. ते. आ. ख. १. पृ. १८६ [भिक्खूजशरसायण, ६२।२५,२६]

सरियारी मैं स्वामजी गुणधारी रे, साठ वर्ष सथार।
मास भाद्रवा मैं भलो गुणधारी रे, जीत गर्भ मैं जिवार॥
पचम काले हू ऊपनों गुणधारी रे, पिण इक मुझ हर्ष पर्म।
आप शुद्धमग धारया पछै गुणधारी रे, जन्म थई पायो धर्म॥

२. वीतरागस्तव, श्लोक ६,७ :

निशि दीपोम्वुधौ द्वीप, मरौ शाखी हिमे शिखी।
कलौ दुराप: प्राप्तोऽय, त्वत्पादाब्जरज:कण: ॥
युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृत: ।
नमोस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ॥

ही स्वामीजी याद आएंगे।[1] इस याद की पृष्ठभूमि में जयाचार्य का शिष्यत्व मुखर हो रहा है। शिष्य बहुत होते है, पर गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित शिष्य विरले ही होते है। आचार्य भिक्षु जैसे गुरु खोजने पर भी नही मिलते, तो जयाचार्य जैसे समर्पित शिष्य भी खोजने पर कठिनाई से मिलते है। जो अच्छा शिष्य होता है, वही अच्छा शासक बन सकता है। जयाचार्य धर्म-शासन के कुशल प्रशासक थे। हम इस तथ्य को आंखों से ओझल न करे कि वे शासक होने से पहले भी अच्छे शिष्य थे और शासक होने के बाद भी उनके अच्छे शिष्यत्व मे कोई अन्तर नही आया। उनकी जीवन-गाथा के आदि-चरण से अन्तिम चरण तक उसकी अनुभति पाठक को होती रहेगी।

---

१. ते. आ. ख. १ पृ. १८६ [भिक्खूजशरसायण, ६२।२१]

सोध्या तो लाधे नहीं गुणधारी रे, स्वाम सरीखा साध।
करडो काम पड्या चरचा तणी गुणधारी रे, आवैला भिक्खू याद ॥

३

जन्म और पारिवारिक वातावरण

व्यक्ति का जीवन घटनाओं का एक विशाल चक्र होता है। पहली घटना है—जन्म और अन्तिम घटना है—मृत्यु। इन दोनों के वीच अन-गिनत घटनाएं घटित होती है। घटनाओं का सिलसिला शुरू होता है जन्म से और उनकी सफलता-विफलता का लेखा-जोखा होता है मृत्यु से। जन्म किस स्थिति में हुआ, यह मूल्याकन का आधार नही वनता। मूल्यांकन का आधार वनता है, किस स्थिति में मरा। जन्म एक नियति है, एक संयोग है। मृत्यु व्यक्ति के पुरुषार्थ की स्वतंत्र चेतना की निष्पत्ति है।

जन्म के विना जीवन-कहानी का प्रारंभ नही होता, इसलिए हमें सवसे पहले जन्म को ही जानना होता है। वह एक घटना है, इसलिए उसे देश-काल के संदर्भ में ही जानना होता है।

जयाचार्य का जन्म 'रोयट'[1] ग्राम में हुआ। छोटे गाव मे वडी आत्मा के जन्म लेने की घटना कोई नई नही है। संभवतः सात्त्विक आत्मा के लिए छोटे गाव का स्वच्छ वातावरण अधिक अनुकूल होता है। जातक का जन्म मंगलवेला में हुआ। उनकी जन्म-कुडली स्वयं इसका स्वयंभू प्रमाण है।

जातक का नाम जीतमल रखा गया। इनके दो वड़े भाई थे—सरूपचंद और भीमराज।

व्यक्ति अपने शरीर की सीमा मे बंधा होने के कारण अकेला होता है, पर प्रभावों की दृष्टि से वह स्वयं में पूरा समाज होता है। उस पर सवसे

१. उस समय जोधपुर राज्य का एक गाव। वर्तमान मे राजस्थान प्रांत, जोधपुर डिवीजन, पाली जिला का एक गाव।

अधिक प्रभाव माता-पिता का होता है। स्थानांग में वतलाया गया है—जातक के तीन अवयव—मास, शोणित और मस्तिष्क—माता से प्रभावित होते है और उसके तीन अवयव—अस्थि, मज्जा, केश, दाढी, रोम और नख पिता से प्रभावित होते है।[1] विज्ञान की दृष्टि में भी आनुवंशिकता का वहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जातक को समझने के लिए उसके माता-पिता को समझना जरूरी होता है। जयाचार्य के पिता का नाम था आईदानजी ओर माता का नाम था कल्लूजी। वंश ओसवाल और जाति गोलछा। आचार्य भिक्षु ने सं० १८३६ से ४२ तक चार चातुर्मास मारवाड़ में किए थे। इसी अवधि मे वे रोयट गाव पधारे। उस समय गोलछा परिवार उनकी तपस्या और दृष्टि से प्रभावित हो उनका अनुयायी वन गया। धर्म के प्रति श्रद्धा विकसित हो गई। पूरा परिवार धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत हो गया। आईदानजी की वहिन का नाम था अजवूजी। उनमें वैराग्य की भावना जागी। वे स० १८४४ मे आचार्य भिक्षु के चरणों में दीक्षित हो गई। उन्होने श्रुत और आचार—दोनों की आराधना की। आचार्य भिक्षु ने उनका सिंघाड़ा किया—साध्वियो के एक वर्ग की अग्रणी वना दिया। आचार्य भिक्षु से इस गोलछा परिवार को धर्म का वीज मिला। साध्वी अजवूजी की दीक्षा से उसको सिंचन मिला। धीरे-धीरे वह पनपता गया।

सूर्योदय की पूर्व संध्या

एक वार साध्वी अजवूजी जनपद विहार करती हुई रोयट गांव पहुंची। उनका व्याख्यान वहुत प्रभावशाली था। गांव के लोग उसमें वहुत रस लेते थे। साध्वीजी ने कल्लूजी से कहा—तुम व्याख्यान क्यों नही सुनती ? कल्लूजी ने कहा—'महासतीजी ! जीतमल वहुत वीमार है। उसके गले धान नही उतर रहा है। हम लोग उसके जीने की आशा छोड़ चके है। चित्त में वहुत चिंता है। निरन्तर आर्त्तध्यान रहता है। किसी भी काम मे मन नही लगता।' साध्वी अजवूजी वीमारी से घिरे हुए वालक जीतमल को दर्शन देने वहां गई। परिवार के लोग एकत्र हो गए। साध्वीजी ने मंगल-पाठ सुनाया। कल्लूजी की ओर मुड़कर साध्वीजी ने कहा—'चिंता छोड़ो, चिंतन करो। मेरी एक वात सुनो। यदि यह वालक रोग-मुक्त होकर मुनि-दीक्षा ले तो

१ ठाण ३।४६४,४६५।

तुम इसे रोकोगी नही, इसकी दीक्षा में वाधा नही डालोगी, यह संकल्प लो।' कल्लूजी ने कहा—'महासती जी ! इसके जीने की आशा क्षीण हो रही है और आप दीक्षा की वात कर रही है।' साध्वीजी ने कहा—'जीतमल जीवित रहे, तभी तुम्हारे संकल्प का उपयोग होगा।' कल्लूजी ने साध्वीजी के वचन को शिरोधार्य करते हुए उस संकल्प की घोषणा कर दी। संकल्प-शक्ति का चमत्कार देखा। कुछ समय पहले जीवन मृत्यु की दिशा में जा रहा था, अव मृत्यु जीवन की दिशा में आने लगी। कुछ ही दिनो मे जीतमल स्वस्थ हो गया। वीमारी मिट गई। रोटी खाने लगा। माता-पिता और समूचा परिवार हर्ष से उत्फुल्ल हो गया।[1] लोगो ने कहा—यह संतों के भाग्य से जिया है। जिसकी नियति तेरापंथ के भाग्य-विधान के साथ जुडी हुई थी, उसे असमय मे मृत्यु कैसे उठा लेती ? यह घटना अनाथी मुनि की घटना की पुनरावृत्ति है। अनाथी मुनि की आख मे भयंकर वेदना उठी। वहुत उपचार किए, पर सव व्यर्थ। आखिर उन्होने संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया - यदि वेदना शात हो जाए तो मुनि-दीक्षा स्वीकार करूंगा। रात्रि के प्रथम चरण मे संकल्प किया और उसके अन्तिम चरण में वेदना शात हो गई। अनाथी मुनि वन गए। उनकी साधना से प्रभावित होकर ही मगध सम्राट् श्रेणिक जैनधर्म मे दीक्षित हुआ था। आईदानजी ने 'सरूप' और 'भीम' की सगाई कर दी। उनके विवाह की तैयारी कर रहे थे। परिस्थिति ने मोड लिया। मन को वात मन मे ही रह गई।

पिता की छाया उठ गई

जीतमल ने अपने जीवन के तीन वर्ष पूरे कर लिए। घर का वातावरण आनन्द से उल्लसित था। सव सुख का अनुभव कर रहे थे। मनुष्य सदा सुख चाहता है। परिवर्तन हमारे जगत् का सार्वभौम नियम है। दिन के वाद रात और रात के वाद दिन, सुख के वाद दु:ख और दु.ख के वाद सुख—यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। कुछ ऐसा ही हुआ। उन दिनो (स० १८६३) एक आकस्मिक घटना घटी। मीरखां राठ जाति का मुसलमान था। वह अपने साथियो के साथ मारवाड़ मे लूट-खसोट किया करता था।

१. ते. आ. ख. २, पृ. ५२,५३ [जयसुजश, १।८-१७]।

उसने रोयट को लूटना शुरू किया। आईदानजी को इसका पता चला। वे रोयट के जागीरदार के प्रधान थे। मीरखा शस्त्रो से सुसज्जित था। इनके पास उतनी तैयारी नही थी। वे गांव की सुरक्षा करने में अपने-आप को असमर्थ पा रहे थे। देखते-देखते गांव लूट लिया गया। वे इस आघात को सह नही सके। उनकी मृत्यु हो गई। वे अपने पीछे कल्लूजी और तीन पुत्रों को छोड़ गए। एक ओर आर्थिक कठिनाई, दूसरी ओर पति का वियोग, तीसरी ओर पुत्रो की अवस्था छोटी—इन तीनों समस्याओं का कल्लजी ने बड़े धैर्य के साथ सामना किया।

४

अज्ञात की प्रतिध्वनि

हम स्थूल जगत् को जानते है, उसी की प्रतिध्वनि सुनते है। हमारे आस-पास और भीतर एक सूक्ष्म जगत् भी है, पर उससे हम परिचित नही है। हमारे सारे व्यवहार और निर्णय स्थूल जगत् की सीमा में ही होते है। एक छोटा वच्चा जव मुनि-जीवन की चर्चा करता है या मुनि-जीवन स्वीकार करता है तव वह वात समझ मे नही आती। जिज्ञासा वनी ही रहती है, संदेह वना ही रहता है। यदि सूक्ष्म जगत् की कोई छोटी-सी खिड़की भी खुल जाए तो संदेह अपने-आप निरस्त हो सकता है। हम उस खिडकी को खोलने की दिशा में प्रस्थान ही नही करते। हम बुद्धि के खेल खेलने मे ही उलझे रहते है। जीतमल सात-आठ वर्ष की अवस्था मे भी बुद्धिमान प्रतीत होता था। उसकी आकृति पर शाति झलकती थी। इन्द्रियो पर उसका नियंत्रण था।[1] वह सवको वहुत प्रिय था। उसे धर्म वहुत अच्छा लगता था। उसकी प्रवल धार्मिक रुचि देख लोग पूछते—तू साधु वनेगा ? जीतमल कहता—जरूर वनूगा। साधु कहते—अभी तू छोटा है, अभी साधु नही वन सकता। यह वात उसे प्रिय नही लगती। गाव मे जव कभी साधु-साध्वियो का आगमन होता तव वालक जीतमल उनसे पूछता—अव मै साधु वन सकता हू या नही ? साधु वनने की अज्ञात प्रेरणा भावना तक सीमित नही रही। वह आचरण में भी उतर आई। एक दिन कपडे की झोली मे कटोरी रख जीतमल चाचा के घर गया। उसने कहा—मै साधु वन गया हूं। मुझे शुद्ध आहार की भिक्षा दो। चाचा का परिवार इस

---

१ ते. आ. ख. २ पृ. ५२, [जयसुजश, १।५]।

वाल-लीला को देख आश्चर्यचकित हो गया ।[1]

हर प्रभात सूर्योदय की सूचना दे रहा था। हर दिन जीवन को आगे वढा रहा था। हम प्रभात को जानते हैं, जीवन-वृद्धि को जानते हैं, पर चेतना की आच में पकते भावों को नही जानते। कोई नही जानता था कि जीतमल साधु वनेगा, आचार्य वनेगा ग्रौर वनेगा तेरापंथ का भाग्य-विधाता। कोई व्यक्ति एक ही दिन मे साधु और आचार्य नही वन जाता। अज्ञात में वना हुआ साधु और आचार्य ही ज्ञात जगत् मे साधु और आचार्य वनता है।

विवाह की योजना ग्रौर वैराग्य

भारतीय समाज-व्यवस्था मे विवाह-सस्कार वहुत पवित्र माना जाता है। इसमे दो व्यक्तियों के जीवन की सहयात्रा की व्यवस्था है; एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का प्रयोग है, सहयोग, समर्पण और आत्मीयता का अनुपम उदाहरण है।

अतीत की कुछ शताब्दियों मे छोटी अवस्था मे विवाह की प्रथा चल पडी। सुदूर अतीत में परिपक्व अवस्था मे ही विवाह संपन्न किया जाता था। जीतमल की अवस्था वहुत छोटी थी। फिर भी पिता का देहावसान होने के वाद परिवार वालो ने उसकी सगाई घूवारा गांव मे कर दी। वहीं उसका ननिहाल था।[2]

पति-वियोग के कुछ वर्षो वाद कल्लूजी अपने तीनों पुत्रो के साथ किशनगढ चली गईं। वहा उनके वड़े पुत्र सरूपचंद जी ने व्यापार शुरू किया। उस समय अधकार को चीरती हुई प्रकाश की एक किरण फूटी। कल्लूजी को सुनहले जीवन का प्रथम आभास हुआ। भारमल जी स्वामी के आने की उन्हे सूचना मिली। उनकी अन्तरात्मा में आह्लाद व्याप गया। दु:ख के क्षण सुख मे वदल गए। भारमलजी स्वामी जयपुर पधार रहे थे। कुछ दिन किशनगढ विराजे। ऋपिराय और हेमराजजी आदि अनेक प्रमुख साधु उनके साथ थे। कल्लूजी ने अपने पुत्रो सहित उनके सान्निध्य का लाभ उठाया।[3]

---

१ ते. आ. ख. २, पृ. ५४ [जयसुजश, २।१-४]।
२. ते. आ. ख. २, पृ ५४ [जयसुजश: २।दो. २]।
३ ते. आ. ख २, पृ. ५४ [जयसुजश, २।दो. ५,६]।

भारमलजी स्वामी ने चतुर्मास का प्रवास (सं० १८६९) जयपुर में किया। उनका आवास सेठ पदमसी ढड्ढा के घर मे था। कल्लूजी अपने तीनों पुत्रों सहित भारमलजी स्वामी के चरणों मे उपस्थित हुईं। लाला हरचंद जौहरी के घर में ठहरी। प्रातःकाल भारमलजी स्वामी प्रवचन करते थे। रात्रि के समय ऋषिराय रामचरित का वाचन करते थे। जीतमल दोनो समय प्रवचन सुनता था। प्रातःकालीन प्रवचन में तत्त्व की चर्चा होती, उसे वहुत ध्यान से सुनता और समझ लेता। दिन मे साधुओं की सन्निधि मे वैठ तत्त्वज्ञान पढ़ना शुरू किया। शायद गुरु की पाठशाला मे पढने का मौका नही मिला। उसने पहला पाठ तत्त्वज्ञान का ही पढा। 'पचीस वोल' (चौवीसवे वोल को छोड़कर) और 'तेरहद्वार' के ग्यारह द्वार उसने कंठस्थ किए। अन्य नाना प्रकार की तत्त्व-चर्चा की धारणा की।[1] इस तत्त्व-विद्या ने उस नौ वर्षीय वालक की सुप्त चेतना को जगा दिया। आचार्य भिक्षु के तत्त्व-दर्शन को पढ़ वालक जीतमल का आन्तरिक व्यक्तित्व भिक्षु के रूप मे वदलने लगा। मुनि-दीक्षा स्वीकार करने की अभीप्सा प्रवल हो गई।

लाला हरचंद जौहरी का ध्यान जीतमल की ओर आकर्षित हो गया। उन्होने देखा—यह अवस्था मे छोटा है, पर वहुत चतुर, वहुत समझदार, वहुत वुद्धिमान्, शान्त और धीर है। ऐसे वालक विरले ही होते है। उन्होने कल्लूजी और सरूपचंदजी से कहा—'जीतमल वहुत होनहार वालक है। इसकी प्रतिभा और अध्यवसाय विलक्षण है। यह मुनि वनेगा तो वडा तेजस्वी होगा। यह मुनि वनता है तो वहुत अच्छी वात है। यदि मुनि वनने की भावना परिपक्व न हो तो मै आपसे एक वात कहना चाहता हू कि मै इसे अपनी भतीजी को व्याहूंगा। वहादुरसिंह पटोलिया मेरे मित्र है। अच्छे जौहरी है। मेरी भावना है—यह उनका दत्तक पुत्र वने। पचास हजार रुपए नगद और घर की सारी संपत्ति इसके अधिकार मे आए।[2]

लाला हरचंद ने आगे कहा—'मै प्राथमिकता मुनि-दीक्षा को देता हू और मै चाहता हूं कि यह मुनि वने। यदि सयोगवश वैसा न हो तो मेरा प्रस्ताव आपके ध्यान में रहे।'

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. ५५ [जयसुजश, ३।१-६]।
२. ते. आ. ख. २, पृ. ५५,५६, [जयसुजश ३।७-१०]

वहुत वार वात वात तक और कामना कामना तक रह जाती है। जीतमल का मन भिक्षु के रंग में रंग चुका था। भोग और वैभव का आकर्षण उसके चित्त को नही छू रहा था। लाला हरचंद की पहली कल्पना साकार हुई और दूसरी केवल इतिहास का विपय वन कर रह गई। जीतमल के मन में वैराग्य की धारा अजस्र धारा होकर वहने लगी।

मुनि-दीक्षा

मुनि होने का अर्थ है—पुराने जीवन की संपन्नता, नए जीवन का प्रारंभ। मुनि का जीवन जीना वहुत वड़ी साधना है। जिसकी अंतश्चेतना चैतन्य के अनुभव में रम जाती है, वही व्यक्ति मुनि का जीवन जी सकता है। कोई व्यक्ति सहज ही चैतन्य के अनुभव में चला जाता है और कोई प्रेरणा पाकर। किसी प्रतिभा का उन्मेप नैसर्गिक होता है और किसी प्रतिभा का उन्मेप अधिगम से होता है। नैसर्गिक प्रतिभा कम होती है, इसीलिए शिक्षा का तत्र चलता है प्रतिभा को जगाने के लिए। जीतमल में मुनि होने की सहज भावना थी। सरूपचंद की भावना को साध्वी अजवूजी ने जागृत किया। चातुर्मास सपन्न हो गया। भारमलजी स्वामी के शरीर में व्रण हो गया। भयंकर वेदना, इसलिए जयपुर से विहार नहीं हो सका। फाल्गुन तक वही रहे।[1] साधु-साध्वियों के सिघाडे चातुर्मास संपन्न कर आचार्यवर के चरणो मे उपस्थित हुए। आनेवाले साधुओं में प्रमुख थे हेमराजजी स्वामी और आने वाली साध्वियो मे प्रमुख थी—हीरांजी, अजवूजी, हस्तूजी, कस्तूजी। अजवूजी ने सरूपचंद को मुनि वनने की प्रेरणा दी। वह सरूपचंद को प्रतिवोध दे रही थी। साध्वी हस्तूजी ने वीच मे ही कहा—तुम्हें दीक्षा लेनी ही है, फिर उसका यश अपनी वुआ को ही दो। हस्तूजी की वात सरूपचद के मन में चुभ गई। उसने कहा—मुझे घर मे रहने का त्याग है। सरूपचंद अव वैरागी हो गया। माता की स्वीकृति मिल गई। भारमलजी

---

१ (क) ते. आ. ख. २, पृ. ३४ [ऋपिरायचरित्त ६।१] :

भारीमले रे तन मझै, व्रण वेदन भारी हो।
तिण कारण अधिका रह्या, फागण ताई विचारी हो ॥

(ख) ते आ. ख. २, पृ. ५६ [जयसुजश ४।दो. १]।

स्वामी ने (सं० १८६९ पौप शुक्ला नवमी को) मोहनवाड़ी में वटवृक्ष के नीचे उसे मुनि-दीक्षा दी।

वड़े भाई मुनि हो गए। अव जीतमल का मन दीक्षित होने के लिए छटपटाने लगा। भारमलजी स्वामी के सम्मुख प्रार्थना की। अवस्था छोटी, वैराग्य वड़ा। एक ओर वास्तविकता, दूसरी ओर व्यवहार। भारमलजी स्वामी ने वैराग्य को महत्त्व दिया। माघ कृष्णा सप्तमी का दिन दीक्षा के लिए निश्चित कर दिया। आचार्य व्यवहार के भी पालक होते है। जो वास्तविकता को नही जानता वह जनमत की अवहेलना करता है। आचार्य इन दोनों सचाइयो को समझकर, उनमें सामंजस्य स्थापित कर चलते है। जीतमल उस समय नौ वर्ष पूरे कर दसवें वर्ष के तीन मास पूर्ण कर चुका था। भारमलजी स्वामी छोटी अवस्था को ध्यान में रख, परिस्थिति पर विचार कर दीक्षा देने स्वयं नही गए। जीतमल को दीक्षित करने ऋषिराय को भेजा। उस समय वे मुनिदशा में थे। उनकी अवस्था वाईस वर्ष की थी। वुद्धि की सीमा मे सहज ही प्रश्न होगा—हेमराजजी स्वामी जैसे दिग्गज साधु वहा उपस्थित थे, फिर ऋषिराय को दीक्षा देने क्यों भेजा? दीक्षा अध्यात्म जगत् का सवसे वड़ा अनुष्ठान है। वह अनुभवी साधुओं को छोड़ एक वाईस वर्षीय साधु से संपन्न क्यो करवाया? वुद्धि की सीमा से परे यह कोई प्रश्न नही है। भारमल के साथ ऋषिराय की नियति जुडी हुई थी। भारमलजी स्वामी ऋषिराय को पाकर निश्चिन्त थे। ऋषिराय को जीतमल की जरूरत थी। भारमलजी स्वामी ने सही निर्णय लिया। ऋषिराय ने घाट दरवाजे की ओर पूर्व दिशा मे वट वृक्ष के नीचे जीतमल को मुनि-दीक्षा मे दीक्षित किया। अपने हाथों एक शक्तिशाली वीज वोया। उसका सिंचन भविष्य के गर्भ में था। उन्हे एक ऐसा सहयोगी मिला, जो विरले मुनि को मिलता है। तेरापंथ में शिष्य एक गुरु के ही होते है। कोई मुनि अपना शिष्य वना नही सकता। ऋषिराय उस समय मुनि थे, गुरु नही थे। इसी-लिए मुनि जीतमल उनके सहयोगी के रूप में दीक्षित हुए। भविष्य की लिपि जव स्पष्ट हुई तव सवने पढा—ऋषिराय आचार्य वन गए और मुनि जीतमल उनके शिष्य। ऋषिराय अपने शिष्य का पल्लवन करते रहे। मुनि सरूपचंद और जीतमल को हेमराजजी स्वामी को सौप दिया। कुछ दिनों वाद मुनि हेमराजजी माधोपुर की ओर विहार कर गए। दो भाइयो की दीक्षा ने

भीमराजजी को प्रभावित किया। उनके मन में भी वैराग्य का बीज प्रस्फुटित हुआ। भारमलजी स्वामी के चरणों में दीक्षा लेने की भावना रखी। माता कल्लूजी भी दीक्षा लेने को तैयार थी। भारमलजी स्वामी ने फाल्गुन कृष्णा एकादशी को मोहनवाडी में उन्हें (भीमराजजी तथा कल्लूजी को) मुनि-दीक्षा स्वीकार करवाई। पूरा परिवार दीक्षित हो गया। सबसे पहले मुनि जीतमल के मन मे वैराग्य का अंकुर फूटा था। उसकी रश्मियों ने पूरे परिवार को विरक्त बना दिया। डेढ महीने की अवधि मे तीनों भाई अपनी माता सहित मुनि बन गए। भारमलजी स्वामी को शिष्य-संपदा की अनुपम उपलब्धि हुई। दोनों भाइयों ने अपनी तेजस्विता से तेरापंथ को तेजस्वी बनाया। मुनि जीतमलजी तेरापंथ के श्वास-उच्छ्वास और प्राण बन गए। भारमलजी स्वामी ने मुनि भीमराजजी को अपने पास रखा और साध्वी कल्लूजी को साध्वी अजबूजी को सौंप दिया। जीवन का पहला अध्याय संपन्न हुआ, नए अध्याय का शुभारंभ।

५

विद्याभ्यास और विद्यागुरु

प्रज्ञा स्वयं जागृत होती है, बुद्धि को जगाना होता है। मुनि जीतमलजी की प्रज्ञा जागृत थी। बुद्धि को जगाने का दायित्व मुनि हेमराजजी के कंधो पर आया। मुनि हेमराजजी आचार्य भिक्षु के योग्यतम शिष्यो में प्रमुख थे। भारमलजी स्वामी उनका बहुत सम्मान करते थे। वे आगम के मर्मज्ञ और बहुत बड़े तत्त्ववेत्ता थे। उनकी आचार-गंगा की निर्मल धारा में अवगाहन कर जनता अपने को धन्य मानती थी। धर्मसघ के निरभ्र आकाश मे वे एक तेजोमय नक्षत्र की भांति चमकते थे।

समर्थ विद्यागुरु और समर्थ विद्यार्थी का मणिकाचन योग विरल ही मिलता है। मुनि जीतमल को वह विरल योग मिला। भारमलजी स्वामी ने वह योग मिलाया। मुनि जीतमल पावन त्रिवेणी-संगम मे नहा कर निहाल हो गए। भारमलजी स्वामी जैसे समर्थ आचार्य, ऋपिराय जैसे दीक्षागुरु और हेमराजजी स्वामी जैसे विद्यागुरु को पाकर वे अपने-आप में जय-विजय का अनुभव करने लगे। उनकी स्मृति प्रखर थी। प्रथम वर्प मे उन्होंने तत्त्व-ज्ञान का अध्ययन किया। मुनि का अध्ययन गृहस्थ जैसा नही होता। वह स्मृति-कोष्ठो मे केवल आकडो को इकट्ठा नही करता, केवल शब्दो का अंबार नहीं लगाता, किन्तु वृत्तियो का परिष्कार करता है, आदतो को बदलने की साधना करता है और करता है व्यक्तित्व के रूपान्तरण का प्रयत्न। मुनि जीतमल ने अध्ययन के साथ-साथ तप और जप का अभ्यास शुरू किया। तप से सचित संस्कार क्षीण होते है और जप से चित्त इष्ट के साथ जुड़ जाता

साधना की। उनकी जीवन-यात्रा के लिए अपेक्षित प्रवृत्तियां (गति, भापा, आहार आदि) अपने-आप सम्यक् हो गईं। जीवन की सफलता का सबसे वडा सूत्र है—जागरूकता। वे क्षण-क्षण के प्रति जागरूक हो गए। विद्या विनय देती है—यह सुप्रसिद्ध सूक्त है। विनय विद्या देता है—यह भले प्रसिद्ध सूक्त न हो, पर उससे अधिक वास्तविक है। मुनि जीतमल में विनय, विवेक और विचार तीनो प्रतिस्पर्धी की भांति गतिशील हो रहे थे।[1] वे वहुत लज्जाशील थे। लज्जा आत्मानुशासन का अनिवार्य अंग है। निर्लज्जता मनुष्य को ढीठ वनाती है। उनकी वाणी मधुर थी। तत्त्वचर्चा में उनका रस था। वे प्रतिकूल वचन सुनकर भी मानसिक संतुलन नहीं खोते थे।[2] दूसरे वर्प मे मुनि जीतमल और मुनि भीम दोनो हेमराजजी स्वामी के साथ थे। मुनि सरूप भारमलजी स्वामी की सन्निधि मे रहे। तीसरे वर्प भारमलजी स्वामी ने प्रसन्न होकर मुनि सरूप को भी हेमराजजी स्वामी के पास रख दिया। तीनो भाई अध्ययन और साधना में लीन हो गए। पंद्रह वर्प की अवस्था में मुनि जीतमल ने वयालीस उपवास किए। उस समय वे मुनि हेमराजजी के साथ पाली में चातुर्मास विता रहे थे।

मुनि जीतमल अध्ययन की दिशा में निरंतर आगे वढ़ रहे थे। मुनि हेमराजजी की ज्ञानराशि उस उर्वरा में शतगुणित हो रही थी। प्रवचन की कला, तत्त्वचर्चा, आगमो के सूक्ष्म रहस्य—सभी विपयों पर वे अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे। मुनि हेमराजजी का चातुर्मास जयपुर में हुआ। उस समय मुनि जीतमल इकीसवे वर्प में थे।

आचार्य भिक्षु प्रज्ञा के धनी थे। उन्होंने आगमो का अध्ययन प्रज्ञा के वल पर किया था। आगमो की भाषा प्राकृत है। उनकी टीकाएं संस्कृत मे हैं। आचार्य भिक्षु की प्रज्ञा इतनी प्रखर थी कि उन्हें वुद्धि को सहलाने का अवसर ही नही मिला। उनका जीवन साधना की कसौटी से गुजर रहा था, इसलिए वे वुद्धि का व्यायाम नही कर सके। ऋषिराय के शासनकाल में सघ विस्तार पा रहा था। श्रद्धा के साथ वुद्धि को जागृत करने की अपेक्षा अनुभव हो रही थी। उस समय मुनि जीतमल ने तेरापंथ संघ में संस्कृत का वीज-वपन किया। उनके संस्कृत अध्ययन का इतिहास एक

१. ते. आ. ख. २, पृ. ५८ [जयसुजश, ५।२,३]।
२. ते. आ. ख २, पृ. ५९ [जयसुजश, ५।४-६]।

विलक्षण घटना है। उस समय राजस्थान में अनेक राजे राज्य करते थे। उनके राज्य मे संस्कृत विद्या का अध्ययन होता था। राजे लोग उसे प्रोत्साहन देते थे। उस पर ब्राह्मणो का एकाधिकार था। इन राज्यो मे विहार करने वाले जैन मुनि संस्कृत को भुला चुके थे। वह युग साप्रदायिक कट्टरता का युग था। एक संप्रदाय का व्यक्ति दूसरे संप्रदाय के व्यक्ति को विद्या देने मे कतराता था। मुनि जीतमल की प्रवल इच्छा थी सस्कृत पढ़ने की, पर पढ़ाने वाला कोई नहीं मिला। चाह स्वय राह खोज लेती है। एक श्रावक का पुत्र संस्कृत व्याकरण पढता था। मुनि जीतमल को इसका पता चला। उन्होने कहा—तुम दिन मे जो पढ़ते हो, वह रात को मुझे सुना देना। उसने वैसा ही किया। मुनि जीतमल का सस्कृत अध्ययन शुरू हो गया।[1]। उन्होने सारस्वत का पूर्वार्ध और सिद्धातचंद्रिका का उत्तरार्ध कंठस्थ किया।[2] शब्द-सिद्धि की साधनिका जैसे वताई, वैसे लिख ली। उनकी बुद्धि प्रखर थी। वे थोड़े अध्ययन में वहुत जान लेते थे। उन्होने इस अध्ययन के आधार पर सस्कृत टीकाओ का अपनी रचनाओ मे प्रचुर उपयोग किया। मुनि-जीवन के वारह वर्ष पूरे हुए। पुराने जमाने मे अध्ययन का काल वारह वर्ष का माना जाता था। मुनि-प्रवर का अध्ययन भी वारह वर्षो में सम्पन्न हो गया।

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. ६४ [जयसुजश, ८।४-६]।

२. ते. आ. ख. २, पृ. २०३ [जयसुजश, ६७।२६]।

६

प्रज्ञा की रश्मियां

प्रज्ञा का पढ़ाई से सम्बन्ध नही होता। वह चेतना का सहज प्रकाश है। उसकी रश्मिया फूटती है तब दसों दिशाएं आलोक से भर जाती है। सं० १८७८ वैशाख कृष्णा नवमी की घटना है। भारमलजी स्वामी केलवा मे विराज रहे थे। उनके पेट में चिरकाल से वेदना चल रही थी। शरीर की शक्ति क्षीण हो रही थी। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी चाही। उस समय सघ मे अनेक प्रभावशाली संत थे। उनमें खेतसीजी स्वामी और हेमराजजी स्वामी प्रमुख थे। भारमलजी स्वामी ऋषिराय को अपना उत्तराधिकारी वनाना चाहते थे। वे ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध थे। जयाचार्य ने उनकी तुलना जंवूस्वामी से की है।[1] वे यशस्वी और शक्ति-सम्पन्न थे। आचार्य भिक्षु ने संविधान में लिखा आचार्य जिसे चाहे, उसे अपना उत्तराधिकारी चुने। वैधानिक दृष्टि से किसी का परामर्श आवश्यक नही था। भारमलजी स्वामी जिसे चाहते, उसे अपना उत्तराधिकारी चुन सकते थे; फिर भी नया-नया काम था। उन्हे संविधान का पहला प्रयोग करना था। आचार्य भिक्षु ने भारमलजी स्वामी को युवाचार्य पद दिया, तव संविधान का निर्माण किया। अव उसके प्रयोग का समय था। उन्होने खेतसीजी और हेमराजजी स्वामी से परामर्श किया। उन्होने भारमलजी स्वामी की इच्छा का समर्थन किया।[2] भारमलजी ने उत्तराधिकार का लेख-पत्र लिखा। उसमें दो नाम लिखे। उसकी भाषा इस प्रकार

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. ४४ [ऋषिरायचरित, १२।१४]।

२. ते आ. ख. २, पृ० ३६ [ऋषिरायचरित, ७।४-७]।

है —"सर्व साध-साधवी खेतसीजी, रायचन्दजो री आगन्या माहे चालणो ।"[1]

मुनि जीतमल उस समय अठारह वर्ष के नवयुवक थे । उन्होने वद्धाजलि वंदना कर कहा—'गुरुदेव ! आपने उत्तराधिकार के लिखे पत्र मे दो नाम लिखे है । मेरी विनम्र प्रार्थना है कि उसमें एक नाम ही रखे । आप जिसका चाहे, उसका नाम रखे, पर रखे एक ही नाम ।'

भारमलजी स्वामी ने कहा—'जीतमल ! खेतसीजी मामा है, रायचद (ऋपिराय) उनका भानजा है । इसमे कठिनाई क्या होगी ?' मुनि जीतमल ने कहा—'गुरुदेव ! संवंध संवंध है, पद पद है । कठिनाई कभी भी हो सकती है । दूसरी वात—आपके हाथों आचार्य भिक्षु की मर्यादा की प्रथम क्रियान्विति हो रही है, इसलिए समूचे भविष्य का दायित्व आपकी कृति पर निर्भर है ।' भारमलजी स्वामी ने मुनि जीतमल की प्रार्थना को स्वीकार किया और मुनि खेतसीजी का नाम हटा दिया । वह पत्र आज भी सुरक्षित है और उस पर विदिया लगी हुई है । उत्तराधिकार लिखत की प्रारभिक और अंतिम पक्ति भारमलजी स्वामी ने स्वयं लिखी और वीच का सारा पत्र किसी दूसरे मुनि का लिखा हुआ है । वह हस्तलिपि मुनि जीतमल की प्रतीत होती है । इस सभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता कि मुनि जीतमल वह पत्र लिख रहे थे । जब भारमलजी स्वामी ने दो नाम लिखाए तव उसी समय उन्होने आचार्यवर से प्रार्थना की । आचार्यवर ने उनकी प्रार्थना मान ली और केवल रायचंदजी (ऋषिराय) का नाम ही उसमे रखा । एक अठारहवर्षीय मुनि की प्रज्ञा ने सघ को वडे संकट से उवार लिया । यदि एक वार उस परपरा का सूत्रपात हो जाता तो तेरापथ के नेतृत्व का भविष्य उतना निरापद नही रहता, जितना आज है ।

स० १८८४ की घटना है । ऋषिराय मालवा की यात्रा सम्पन्न कर मेवाड पधारे । 'पुर' मेवाड का अच्छा क्षेत्र है । वहा हेमराजजी स्वामी पहले विराज रहे थे । ऋषिराय वहा पधारे । हेमराजजी स्वामी ने उनकी अगवानी की । शिष्य-संपदा और धार्मिक वैभव के साथ ऋषिराय ने पुर मे प्रवेश किया । ऋषिराय वहुत प्रसन्न थे, हेमराजजी स्वामी भी वहुत प्रसन्न। सध्याकालीन प्रतिक्रमण के समय सभी मुनि ऋषिराय के पास गए । दैनिकचर्या में हुए प्रमाद के लिए आलोचना (एक प्रायश्चित्त) की । हेमराजजी

---

१. उत्तराधिकार का लिखत ।

स्वामी ऋषिराय से दीक्षा-पर्याय में वड़े थे। उन्होने आलोचना अपने-आप कर ली। दीक्षा-पर्याय में वड़े मुनि भी आलोचना आचार्य के पास करें, इस विषय पर कोई चिंतन नही हुआ था। हेमराजजी स्वामी ने उस पर गंभीरता से चिंतन नहीं किया था।

ऋषिराय संघीय व्यवस्थाओं को सुस्थिर कर रहे थे। वे आलोचना की परंपरा को निश्चित रूप देना चाहते थे। दीक्षा-पर्याय में छोटे या वड़े सभी साधु आचार्य के पास ही आलोचना करें, इस परंपरा का उन्हें सूत्रपात करना था। उन्होने कहा—'जीतमल ! तू जव तक हेमराजजी स्वामी को आचार्य के पास आलोचना करने के लिए सहमत न कर पाए तव तक तुझे चारों आहार लेने का त्याग है।'

मुनि जीतमल ने ऋषिराय के आदेश को शिरोधार्य किया। ऋषिराय उनके दीक्षागुरु और आचार्य थे। हेमराजजी स्वामी उनके विद्यागुरु थे। वे दोनों के प्रति वहुत श्रद्धानत थे। आचार्य का आदेश था, इसलिए वे हेमराजजी स्वामी के पास गए। उन्होंने कहा—मुनिप्रवर। आपने आलोचना नही की ?

हेमराजजी स्वामी—जीतमल ! मैंने कर ली।

मुनि जीतमल—किसके पास को ?

हेमराजजी स्वामी—मैने स्वयं कर ली।

मुनि जीतमल—आप पथ-प्रदर्शन करने वाले है। आप के इस कार्य से दूसरों का पथ-प्रदर्शन कैसे होगा ?

हेमराजजी स्वामी—तुम यही चाहते हो कि मै ब्रह्मचारीजी (वे ऋषिराय को इसी नाम से संवोधित करते थे) के पास आलोचना करूं ?

मुनि जीतमल—मुनिप्रवर ! मेरी यही इच्छा है।

हेमराजजी स्वामी—ठीक है। अव ऐसा ही होगा।

मुनि जीतमल का अनशन समाप्त हो गया। कठोर अनशन, जिसमें पानी पीने की भी छूट नही थी, वह अनशन अनिश्चित काल के लिए था, पर कुछ घंटों में ही समाप्त हो गया। ऋषिराय प्रसन्न, हेमराजजी स्वामी प्रसन्न और मुनि जीतमल प्रसन्न। पूरा वातावरण प्रसन्नता से भर गया। हेमराजजी स्वामी उस स्वीकृति के वाद ऋषिराय के पास आलोचना करने लगे। मुनि जीतमल की प्रज्ञा का प्रकाश तेरापंथ के कण-कण में व्याप्त हो गया।

७

संकल्प-शक्ति के प्रयोग

सं० १८७५ की घटना है। उस समय मुनि जीतमल पंद्रह वर्ष की अवस्था मे थे। मुनि हेमराजजी के साथ पाली में चातुर्मास कर रहे थे। एक दिन उन्होंने संकल्प किया—भारमलजी स्वामी के दर्शन न करू तव तक एक विगय[1] से अधिक विगय नही खाऊंगा। चातुर्मास सपन्न हुआ। पाली से प्रस्थान कर देवगढ़(मेवाड़)पहुंचे। वहा एक आकस्मिक घटना घटी। मुनि हेमराजजी शौच से निवृत्त होकर वापस आ रहे थे। गाय ने उन्हें चोट लगा दी। घुटने की ढकनी नीचे खिसक गई। भयंकर वेदना हुई। सहवर्ती मुनि उन्हे कंवल की झोली मे उठाकर स्थान पर लाए। दिल्ली वाले वैद्य मगनीरामजी ने उनकी चिकित्सा की। वैद्यजी के निर्देशानुसार मुनि सरूपचंदजी ने ढकनी को चढाया। वैद्यजी ने कहा—पीडा होगी, पर दया मत करना। वीच मे मत छोड़ देना। सरूपचंदजी स्वामी ने काफी दृढता से काम लिया। फिर भी हेमराजजी स्वामी के कष्ट को देख मन मे करुणा जाग गई। ढकनी प्रायः चढ गई। थोडी सी वाकी रही थी तव उन्होने पैर छोड़ दिया। इसलिए थोड़ी कसर रह गई। विहार नही हो सका। उन्हे नौ मास तक वहां रहना पड़ा।[2] मुनि हेमराजजी ने देवगढ़ से विहार कर गंगापुर मे भारमलजी स्वामी के दर्शन किए। लगभग तेरह महीने के वाद मुनि जीतमल का संकल्प पूरा हुआ। व्यक्ति का सवसे वड़ा वल होता है मनोवल। वह संकल्प से जागता है। इतनी छोटी अवस्था मे इतने मनोवल का कारण

१. 'विगय' विकृति का प्राकृत रूप है। विगय छह होते हैं—
   १. दूध, २. दही, ३. घी, ४. चीनी, ५. मिठाई, ६. तेल।

२. (क) ते. आ. ख. २, पृ. ६० [जयसुजश, ६।३-७]।
   (ख) अमरगाथा [हेमनवरसो, ५।२८-३३]।

था संकल्पशक्ति का विकास। जिसका अपनी इन्द्रियों पर प्रभुत्व नही होता, जो सहिष्णु नही होता—कष्टों को झेल नही पाता, जिसका चित्त चपल होता है, उसका संकल्प टूट जाता है। वही व्यक्ति अपने संकल्प को पार पहुचाता है, जो जितेन्द्रिय, सहिष्णु और स्थिरचित्त होता है। एक पंद्रह वर्ष का वालकमुनि तेरह मास तक आहार का इतना कठोर संयम करता है, इसका अर्थ है वह जितेन्द्रिय है। पंद्रह वर्ष की अवस्था मे वयालीस उपवास करने का अर्थ है वह जितेन्द्रिय भी है और कष्ट-सहिष्णु भी है। मुनि जीतमल मे न वाल-सुलभ चपलता थी और न वृद्ध-सुलभ उदास-भाव। उनमे थी ध्येय-पूर्ति की लगन और गहरी एकाग्रता।

मुनि हेमराजजी काणाणा (जिला वाड़मेर) मे थे। मुनि जीतमल मेवाड़ से फलौदी जा रहे थे। चैत्र शुक्ला एकम से उन्होंने एकान्तर तप (एक दिन उपवास, एक दिन भोजन) शुरू किया। यात्रा-पथ में जोधपुर आया। वहा सत्रह दिन ठहरे। अक्षयतृतीया के दिन हेमराजजी स्वामी के दर्शन करने का निश्चय किया। लंबे विहार और एकातर तप दोनों चलते रहे। अक्षयतृतीया के दिन सोलह मील का विहार कर वे काणाणा पहुंचे। साझ के समय उपवास की तपस्या में उन्होंने हेमराजजी स्वामी के दर्शन किए।[1]

जीने की कामना है। यही है भय। यही है हिंसा। यही है कायरता। जीने की वासना को छोड़ना वडी घटना है। वही है अभय। वही है अहिसा। वही है पराक्रम। वही है वीर का वीरत्व। जयाचार्य का शरीर छोटा किंतु उनका पराक्रम वहुत वड़ा था। शरीर के प्रति होने वाला ममत्व पराक्रम की ज्योति को मद करता है। तपस्या निर्ममत्व का एक प्रयोग है। उससे पराक्रम की ज्योति प्रज्ज्वलित होती है। आचार्यवर सर्दी के दिनो मे एक उत्तरीय (चादर) ओढ़ते थे। समय-समय पर उपवास करते थे। सं० १८७५ मे जयाचार्य ने मुनि हेमराजजी के साथ पाली मे चातुर्मासिक प्रवास किया। वहा उन्होंने वयालीस उपवास किए।[2] सं० १८८४ के पेटलावद चातुर्मासिक प्रवास मे उन्होने आछ (गर्म छाछ के ऊपर का निथरा हुआ नीला जल) पीकर पन्द्रह दिन का उपवास किया।[3]

---

१. ते आ. ख. २, पृ. ८८ [जयसुजश, २।८-१०]।
२ ते आ. ख. २, पृ. ६० [जयसुजश, ६।दो. १,२]।
३. ते. आ. ख. २, पृ. ७१,७२, [जयसुजश, ११।१२,१३]।

८

समर्पित व्यक्तित्व

हर व्यक्ति अपने-आप मे क्षमता के वीज लिए हुए पैदा होता है। कुछ में वे वीज अकुरित हो पाते है, कुछ मे वे अकुरित नही हो पाते। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को महानता से जोड लेते है, द्वैत में अद्वैत स्थापित कर लेते है, उनके क्षमता-वीज अंकुरित हो जाते है। मुनि जीतमल तीन महान् व्यक्तित्वो से जुडे हुए थे। भारमलजी स्वामी उनके आचार्य थे, ऋषिराय उनके दीक्षागुरु और मुनि हेमराजजी उनके विद्यागुरु। वे इन तीनो के प्रति समर्पित थे। उनका समर्पण स्वार्थ-भावना से प्रेरित नहीं था। वह था सत्य की गवेषणा के लिए सत्य के प्रति समर्पण। मुनि जीतमल ने समर्पण के साथ ही संयम-जीवन की यात्रा का शुभारंभ किया था। वे पहले मुनि-दीक्षा मे आए। उनके वडे भाई मुनि भीमराजजी उनके वाद दीक्षित हुए। दीक्षा के दो चरण होते है—प्रव्रज्या और उपस्थापना। प्रव्रज्या में दीक्षार्थी सामायिक (समता) की दीक्षा स्वीकार करता है और उपस्थापना में वह महाव्रतो की दीक्षा स्वीकार करता है। एक सप्ताह के वाद दूसरी दीक्षा मे प्रवेश होता है। जिसे उपस्थापना दीक्षा पहले प्राप्त होती है, वह दीक्षा-पर्याय मे वडा होता है और उसे वाद में प्राप्त करने वाला छोटा।

भारमलजी स्वामी जयपुर से प्रस्थान कर माधोपुर पधारे। मुनि हेमराजजी कोटा-बूदी की यात्रा कर वहा पहुच गए। मुनि अवस्था में तीनों भाई पहली वार मिले। वहां भारमलजी स्वामी ने मुनि भीमराजजी को चार मास पश्चात् उपस्थापना दीक्षा (वड़ी दीक्षा) स्वीकार कराई। मुनि जीतमल अभी भी सामायिक दीक्षा मे थे। उन्हें छह मास के वाद इन्द्रगढ मे उपस्थापना दीक्षा प्राप्त हुई। मुनि भीमराजजी को दीक्षा-पर्याय में वडा

करने के लिए ही ऐसा किया गया।[1] मुनि जीतमल बड़प्पन के लिए समर्पित नहीं थे, इसलिए इस घटना ने उन्हें कभी प्रभावित नहीं किया।

सं० १९०७ की घटना है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में थे। आचार्यवर ऋषिराय ने उन्हें बीदासर में चातुर्मास करने का आदेश दिया। वे चातुर्मास की स्थापना के लिए बीदासर पहुंच गए। आषाढ़ का महीना, भयंकर गर्मी, चिलचिलाती धूप, रेगिस्तानी आंधियां और झुलसा देने वाली लू। चारों ओर वर्षा की प्रतीक्षा की जा रही थी।

उस समय ऋषिराय जयपुर विराज रहे थे। बीकानेर के मदनचंदजी राखेचा ने उनके पास एक प्रार्थना पहुंचाई—इस वर्ष युवाचार्य जीतमलजी स्वामी का चातुर्मास-प्रवास बीकानेर में होना बहुत लाभकारी है, इसलिए आप हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान दें। ऋषिराय ने अपने युवाचार्य को बीकानेर मे चातुर्मास-प्रवास करने का आदेश दे दिया। यह संवाद बीदासर पहुंचा। युवाचार्य जीतमलजी स्वामी तत्काल विहार करने को तैयार हो गए। सहवर्ती साधु गर्मी की भयंकरता को देख विहार करना नहीं चाहते थे। बीदासर के श्रावक भी नहीं चाहते थे कि यहां से युवाचार्य विहार करें। मिला हुआ चातुर्मास हाथ से निकल जाए, यह उन्हें अच्छा नहीं लगा। उन्होंने युवाचार्य से प्रार्थना की—आचार्यवर का आदेश शिरोधार्य है, पर कितना भयंकर है मौसम ! यहां से बीकानेर पैंतीस कोस (सत्तर मील) है। रास्ता बहुत विकट है। बड़े-बड़े रेतीले टीले है। धूप चढ़ते ही बालू आग जैसी हो जाती है। आपका शरीर केवल आपका ही नहीं है, समूचे संघ का है। इसकी सुरक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। हम नहीं चाहते कि खतरा मोल लेकर आप यहां से विहार करें। हम यह भी नहीं चाहते कि आचार्यवर के आदेश का अतिक्रमण हो। हमारी भावना है कि आप कोई गली निकाल ले (बहाना बना लें), जिससे आदेश की अवमानना भी न हो, विहार भी न हो, हमारी भावना को भी चोट न लगे।' युवाचार्य जीतमलजी ने उनकी बात ध्यान से सुनी। फिर संक्षिप्त उत्तर दिया। उन्होंने कहा—'गली वह निकालता है जो काम से जी चुराने वाला वेतनजीवी होता है। मैं अनुशासन को अपना धर्म मानता हूं, फिर गली क्यों निकालूं।' सब मौन। प्रार्थना का प्रश्न ही

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. ५८ [जयसुजश, ५।दो. १-४]।

नहीं रहा। मुनि भी विहार को तैयार हो गए। आषाढ शुक्ला द्वितीया को विहार हुआ। शुक्ला दसमी को वीकानेर पहुंच गए। नौ दिन की छोटी यात्रा, किन्तु प्राणलेवा यात्रा। एवं कसौटी थी अनुशासन की, भावी अनु-शास्ता की और आचार्य भिक्षु के संविधान की। सव खरे उतरे। अनुशासन चिरजीवी हो गया। मुनि सरूपचंदजी को साथ ले युवाचार्य जीतमलजी ने वीदासर से प्रस्थान किया। पहला विहार लंबा था। धूप वहुत तेज। आहार कर चले, प्यास लगी। रास्ते मे पानी कहा से आए। मरणात कष्ट का अनुभव हुआ।[1] महासत्त्व पुरुष जीवन में मृत्यु को निमंत्रित कर जीते हैं, इसलिए वे तेजस्विता का जीवन जीते है। जयाचार्य की तेजस्विता का रहस्य है—उनकी हिमालय जैसी अविचल सकल्प-शक्ति, परम अर्थ से अनुप्राणित समर्पण और अडिग आत्म-विश्वास।

जयाचार्य की विनम्रता ने पद को प्रभावी बनाया, किन्तु पद ने उनकी विनम्रशीलता को प्रभावित नही किया। वे आचार्य वनने के वाद भी उतने ही विनयशील, कृतज्ञ और श्रद्धानत थे जितने पहले थे। उनकी तर्कशक्ति, वौद्धिक विलक्षणता, तत्त्व की गहराई में पैठने वाली श्रद्धा को देख किसी श्रद्धालु ने कहा—आचार्यवर! आप आचार्य भिक्षु से भी आगे है। जया-चार्य हंसे, सुन कर फूले नही। अपनी विनम्रशीलता को संजोकर वोले—तुम सचाई को नही जानते। सौ जीतमल इकट्ठे हो जाएं तो भी आचार्य भिक्षु के वाए पैर की उंगली के नख की वरावरी नही कर सकते।

विद्यागुरु, दीक्षागुरु और आचार्य—इन तीनो का भिन्न-भिन्न होना और उन सवके प्रति अर्हता के अनुरूप श्रद्धाभाव रखना, किसी को भी श्रद्धा की कमी का अनुभव न होने देना, असिधार पर चलने जैसा व्रत है। मुनि जीतमल ने इस व्रत को बड़ी पटुता से निभाया।

सं० १८८९ का चातुर्मास-प्रवास उन्होने दिल्ली मे किया। वहां से प्रस्थान कर उन्होने गोगुदे (मेवाड) मे ऋषिराय के दर्शन किए। दिल्ली चातुर्मास का सारा विवरण ऋषिराय के चरणों मे प्रस्तुत किया। वे वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—जीतमल! अव हमें गुजरात की यात्रा करनी है। तुम भी हमारे साथ रहोगे। मुनि जीतमल ने कहा—जैसी आपकी

---

1 ते. आ ख २, पृ. १०९-१० [जयसुजश ३१।१-१३]।

इच्छा। जो आपकी आज्ञा वही होगा, वैसे ही होगा। मेरी एक प्रार्थना है। दो वर्षों से मै मुनि हेमराजजी के दर्शन नही कर सका। वे अभी मारवाड़ मे है। यदि आप आज्ञा दे तो उनके दर्शन कर फिर श्रीचरणो में उपस्थित हो जाऊं। ऋषिराय ने स्वीकृति दे दी। मुनि जीतमल ने छह दिनो में सिरियारी (मारवाड) पहुंच मुनि हेमराजजी के दर्शन किए। दस दिन उनकी सेवा मे रहे। वहा से विहार कर मेवाड आए। वहां से गुजरात के लिए प्रस्थान किया।। गहन जंगल, दोनो ओर उन्नत पर्वत, पथरीली पगडंडियां, चारों ओर जगली जानवरों की आवाजे। सात मुनि और दो गृहस्थ। उस आदिवासी प्रदेश मे भीलों की झोंपडियो में विश्राम लेते-लेते वे एमनगर (?) मे पहुंचे। वहा मुनि जीतमल ने मुनि मोतीजी से कहा—आप पांच मुनि धीमे-धीमे आ जाना। मैं शीघ्रातिशीघ्र ऋषिराय के दर्शन करना चाहता हूं। वे मुनि कोदरजी को साथ ले सानद ऋषिराय के चरणो मे उपस्थित हो गए।[1]

स० १८८४ की घटना है। ऋषिराय मध्यप्रदेश की यात्रा कर रहे थे। मुनि जीतमल उनके साथ थे। वे झावुआ के जंगल से गुजर रहे थे। झाड-झंकाड़ से भरा भयावना प्रदेश। कहा जाता है—

झाडी बंको झावुओ, वचन वंको कुशलेश।
हाडा गायड बांकडा, नरबंको मरुधर देश॥

चलते-चलते देखा, एक भयावनी आकृति आ रही है। निकट आने पर देखा, सामने से एक रीछ आ रहा है। मुनि जीतमल तत्काल ऋषिराय के आगे आकर खड़े हो गए। ऋषिराय ने कहा—हम चल ही रहे है, तुम आगे क्यो आए ? पीछे चले जाओ। मुनि जीतमल ने कहा—यह नहीं हो सकता। आप संघ के आचार्य है। आपके शरीर की सुरक्षा करना हमारा धर्म है। आचार्य ने चाहा आगे मै रहूं और मुनिवर ने चाहा आगे मै रहूं। परस्पर आग्रह चलता रहा। न ऋषिराय भयभीत थे और न मुनि जीतमल। दोनो अभय। अभय की रश्मिया चारों ओर फैली। रीछ का हृदय भी उससे अभिभूत हो गया। वह रास्ते को पार कर जगल मे चला गया।

भक्ति, श्रद्धा, विनय और समर्पण—ये सव एक ही भाव-दीप की प्रकाश-रश्मियां है। मुनि जीतमल इन सवसे आलोकित हो रहे थे। उनमे

१ ते. आ. ग. २, पृ. ८५,८६ [जयसुजश, १६।दो. १-७]।

भक्ति की रेखाएं वहुत प्रस्फुट थी। वे मुनि हेमराजजी के साथ विहार कर रहे थे। मुनि हेमराजजी जहा कही वाहर जाते, मुनि जीतमल उनके साथ जाते। मुनि जीतमल कुशल लिपिकार थे। वे ग्रंथो की प्रतिलिपिया और नव-निर्माण दोनो करते थे। अचानक पता चला—मुनि हेमराजजी वाहर जा रहे है। मुनि जीतमल उस समय प्रतिलिपिया कर रहे थे। जैसे ही पता चला, उन्होने लिखना वन्द कर दिया। आधा अक्षर लिखा गया, आधा वीच में ही रह गया। यह स्थिति अनेक वार वन जाती। हार्दिक भक्ति और वहुमान जीवन का सर्वोपरि मूल्य होता है। जिसे यह उपलब्ध होता है उसके लिए जीवन की हर प्रवृत्ति अमूल्य वन जाती है। जीवन-मूल्यो को वहुमूल्य वनाने वाली सचाई से हम अपरिचित नही है, फिर भी हर आदमी इसका उपयोग इसलिए नही कर पाता कि समर्पण के आदान-प्रदान की अर्हता किसी विरल व्यक्ति को ही भाग्य-लिपि मे अंकित होती है।

९

वहुआयामी व्यक्तित्व

जयाचार्य के व्यक्तित्व में बुद्धि और अंतर्दृष्टि दोनों का अद्भुत योग था। बुद्धि दूसरे को प्रकाशित करती है। स्वयं अंधेरे में रहने वाला दूसरे को कैसे प्रकाशित करेगा? अंतर्दृष्टि अपने-आप को प्रकाशित करती है। स्वयं प्रकाशित होकर भी जो दूसरे का अंधेरा नहीं मिटाता, उसका जनहित के पक्ष में कैसे मूल्य होगा? मूल्य उस व्यक्ति का होता है जो स्वयं प्रकाशी होकर दूसरों को प्रकाशित करता है। यह कार्य वही कर सकता है, जो बुद्धि और अंतर्दृष्टि—दोनो से संपन्न होता है।

जयाचार्य दीक्षित होने के पश्चात् दस वर्ष तक मुनि हेमराजजी के साथ रहे। स० १८८१ की पौष शुक्ला तृतीया को ऋषिराय ने उन्हें अग्रणी (सिंघाडा-पति) वना दिया।[1] उस समय उनकी अवस्था इकीस वर्ष की थी। अग्रणी आचार्य का प्रतिनिधि होकर जनपद-विहार करता है। उसके साथ सहयोगी साधु रहते है। ऋषिराय ने मुनि जीतमल को तीन सहयोगी साधु दिये। इसी प्रसंग में मघवागणी ने अग्रणी की कसौटिया प्रस्तुत की है। अग्रणी का पद दायित्वपूर्ण होता है। इसलिए वही व्यक्ति अग्रणी वनाया जाता है, जिसमें दायित्व को निभाने योग्य विशेपताएं होती हैं। मुनि जीतमल ने विनय, विवेक, विद्या, बुद्धि, धृति, पराक्रम और गंभीरता—इन विशेषताओ के आधार पर अग्रणी पद प्राप्त किया।[2]

मेवाड राजस्थान का पर्वतीय प्रदेश है। अरावली पर्वत की शृंखला से जुड़ा हुआ वह प्रदेश जितना नयनाभिराम है, उतना ही शौर्य-वीर्य का

१ ते. आ खं. २, पृ. ६५ [जयसुजश, ८। १०-१२]
२. ते आ खं २, पृ. ६५ [जयसुजश, ८। ११]

प्रतीक है। उसका इतिहास स्वतन्त्रता की गाथा का इतिहास है। मुनि जीतमल के यशस्वी जीवन का पहला पृष्ठ मेवाड़-यात्रा है। वे मुनि हेमराजजी के साथ मेवाड़-यात्रा कर चुके थे। यह अग्रणी के रूप में उनकी स्वतंत्र यात्रा थी। इस यात्रा में उन्होने अनेक दिशाओ में अनेक कार्य सम्पादित किए।

ग्रन्थ-संपदा का विकास

नाथद्वारा वैष्णवों का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। वहा नन्दराजजी नामक जैन मुनि थे। मुनि जीतमल ने उसके साथ धर्म-चर्चा की। यतिजी ने अपने संदेह उनके सामने रखे। मुनिवर ने उनका समाधान किया। यतिजी ने प्रसन्न होकर कहा—आप मेरे उपाश्रय मे पधारे। मुनिवर उनके अनुरोध पर वहां गये। यतिजी ने हस्तलिखित ग्रंथ उनके सामने रखे। उस समय यतियों के पास वडे-वडे ज्ञान-भण्डार थे। उनमे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध थे। यतिजी ने कहा—ज्ञातासूत्र की प्रति के अतिरिक्त आप जो ग्रन्थ चाहे वह ले। मुनिवर ने भगवती वृत्ति, अनुयोगद्वार, दीपिका सहित उत्तराध्ययन आदि अनेक ग्रन्थ लिए।[1] नाथद्वारा से आप उदयपुर गये। वहा केसरजी भण्डारी के पास कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ थे। उस समय मुद्रित पुस्तके वहुत कम मिलती थी। अधिकाशतया हस्तलिखित ग्रन्थ ही उपयोग मे आते थे। मुनिवर ग्रन्थ-संग्रह के प्रति वहुत जागरूक थे। आचार्य भिक्षु से अव तक संघ में ग्रन्थों की कमी चल रही थी। मुनिवर संघ को ग्रन्थ-संपन्न वनाना चाहते थे। इस दिशा में उन्होने अनेक प्रयत्न किये। भण्डारीजो के ज्ञान-भण्डार से आपने दीपिका सहित सूत्रकृताग और सटीक कर्मग्रन्थ लिए।[2]

सं० १८९० की वात है। ऋषिराय काठा (मारवाड़ और मेवाड़ का संधि-स्थल) मे विराज रहे थे। मुनिवर जीतमल ने वहा ऋषिराय के दर्शन किये। ऋषिराय के मन मे चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र पढने की इच्छा थी। आचार्यवर ने कहा—जयपुर के मालीरामजी लूणिया के पास चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र की प्रति है। यदि कोई वहां से ले आये, तो उसकी प्रतिलिपि करा ले।

---

१. ते आ. ख २, पृ, ६७ [जयसुजश, ६। ११-१५]।
२. ते. आ ख. २, पृ ६७ [जयसुजश, ६। १६-१७]।

तपस्वी कोदरजी ने ऋषिराय से प्रार्थना की—यदि आप मुझे मुनि जीतमल-जी के साथ छठे सहयोगी के रूप में भेजें, तो मैं जयपुर से वह प्रति ला सकता हूं। ऋषिराय ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे अकेले जयपुर जा चन्द्रप्रज्ञप्ति की प्रति ले आए।[1]

वक्तृत्व और तत्व-चर्चा

मुनि जीतमल जितने गम्भीर ज्ञानी थे, उतने ही कुशल प्रवक्ता थे। कुछ लोग ज्ञानी होते हैं, प्रवक्ता नही होते। कुछ प्रवक्ता होते हैं, ज्ञानी नहीं होते। ज्ञानी और प्रवक्ता का मणिकांचन योग विरल ही मिलता है। मुनिवर के वक्तृत्व से मेवाड़ की जनता मंत्र-मुग्ध हो गई। वे जहां जाते वही जनता वड़ी संख्या में एकत्र हो जाती। मेवाड़ की जनता का उल्लास देखकर स्वयं मुनिवर को भी आश्चर्य हुआ।[2]

सं १८८२ का चातुर्मास प्रवास उदयपुर में हुआ। मेवाड़ के महाराणा स्वतन्त्रता की ज्योति को जलाए हुए थे। वे सभी धर्मो का सम्मान करते थे, पर मनुष्य आखिर मनुष्य है। कभी-कभी वह कुविचार से प्रेरित हो अकरणीय कार्य कर लेता है। महाराणा भीमसिंहजी के मस्तिष्क में कुछ कट्टर साम्प्रदायिक लोगों ने एक कुविचार संक्रान्त कर दिया। विचार परि-स्थिति और चिंतन से पैदा भी होता है और उसका संक्रमण भी होता है। शासक दूसरों पर अधिक निर्भर होता है। महाराणा के आसपास रहने वाले लोगों ने पर-निर्भरता की प्रवृत्ति का लाभ उठा महाराणा से कहा—तेरापंथी सन्त भारमलजी यहां आए हुए हैं। वे जहां जाते हैं वहां वर्षा नही होती, अकाल पडता है। वे दया-दान के विरोधी है। महाराणा इस कुविचार से प्रभावित हो गये। उन्होंने आचार्य भारीमलजी को उदयपुर छोड़ने का आदेश दे दिया। भारमलजी स्वामी वहां से प्रस्थान कर राज-नगर की ओर पधार गए। पीछे घटनाचक्र वड़ी तेजी से घूमा। महाराणा को अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ा। फिर एक सुविचार की प्रेरणा मिली। उन्होंने भण्डारी केशरजी से प्रेरणा पा आचार्य भारमलजी को

---

१. ते. आ. खं. २ पृ ८८ [जयसुजश २०। ५-७]।

२. ते. आ० ख. २, पृ ६६-६७ [जयसुजश ६।५-१०]।

दो प्रार्थना पत्र भेजे।[1] उनमें उदयपुर पधारने की अभ्यर्थना थी। आचार्यवर के मन में न रोप था और न तोष। वे अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित थे। लोगों ने प्रार्थना की—अव आप उदयपुर पधारें। आचार्यवर ने कहा—मेरी अवस्था वृद्ध है। अभी-अभी उदयपुर की घाटियों के नुकीले पत्थरों को रौंदता हुआ आया हूं। अव वापस वहां जाने की मेरे मन में कोई प्रेरणा नहीं है। यदि तुम लोग चाहो तो मैं साधुओं को भेज सकता हूं। उन्होंने साधुओं को भेजने की प्रार्थना की। आचार्यवर ने मुनि हेमराजजी को तेरह साधुओं के साथ उदयपुर भेजा। ऋषिराय और मुनि जीतमल—ये दोनों उनके साथ थे। महाराणा की सवारी (शोभायात्रा) निकली। सन्तों का प्रवास-स्थान रास्ते में था। महाराणा ने हाथ जोड़ वन्दना की और कहा—भले पधारे, भले पधारे। उनके मन में उल्लास झलक रहा था। महाराणा जव-जव उस रास्ते से निकलते तव-तव वन्दना करते। उनके उत्तराधिकारी जवानसिंहजी वन्दना नहीं करते। मुनि हेमराजजी एक साल तक उदयपुर में रहे। उस अवधि में महाराणा ने ग्यारह वार सन्तों से तत्त्व-चर्चा की।[2] सं० १८८२ मुनि जीतमलजी ने अग्रणी अवस्था में उदयपुर चातुर्मास किया। कुंवर जवानसिंहजी भी मुनिवर से वहुत प्रभावित हुए। वे भी वन्दना करने लगे।

---

१ पहला पत्र—

श्री एकलिंगजी

श्री वाणनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री साध श्री भारमलजी तेरेपंथी साध थी राणा भीम सिंघ री विनती मालूम है। कृपा करें अठै पधारोगा। की दुष्ठ वै दुष्टाणो कीदो जी सामुं न्ही देखेगा। मा सामु वा नगर मे प्रजा है ज्यारी दया कर जेज नही करेगा। वती कांही लपु। ओर स्माचार स्हा स्वलाल का लष्या जाणेगा। संवत १८७५ वर्षे अषाढ वीद तीज शुक्रे।

दूसरा पत्र—

श्री एकलिंगजी

श्री वाणनाथजी श्रीनाथजी

स्वस्ती श्री तेरापन्थी साध श्री भारमलजी सुं म्हारी डण्डोत वचें। अप्र आप अठै पदारसी जमा पात्र सु। आगे ही रुको दियो हो सो अबे वेगा पधारेगा। संवत् १८७६ वर्षे पोष वीद ११। वेगा आवेगा। श्री जी रो राज है सो सारा को सीर है, जी थी सन्देह काहि बी न्ही लावोगा।

२. प्रकीर्णपत्र, संख्या २८।

एक दिन महाराणा भीमसिंहजी सवारी के साथ जा रहे थे। मुनिवर को देखा, तत्काल वन्दना की और उनके पास आकर वैठ गये। उस दिन महाराणा किसी अज्ञात चिंता से घिरे हुए थे, आन्तरिक वेदना उन्हें चंचल वना रही थी। वे खिन्नता के स्वर में वोले—यह राजसी, वैभव और सम्पदा पवन की लहर है। आपके पास अध्यात्म की महान् सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति को प्राप्त करने वाला सभी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। मुनिवर ने उनके सामने आध्यात्मिक प्रवचन किया। महाराणा की चिंता आनन्द मे वदल गई। महाराणा भीमसिंहजी का मुनि जीतमल के प्रति श्रद्धा-भाव निर्मित हो गया था। उन्हे मुनिवर के साथ तत्व-चर्चा करने में वडे आनन्द का अनुभव होता था। उन्हे सवारी के साथ घूमने का आकर्षण था। वे वहुत वार साज-सज्जा के साथ नगर के विभिन्न भागों में यात्रा करते रहते थे। एक वार वहुत दिनों के वाद नगर की यात्रा में निकले। सूर्यपोल का रास्ता यात्रा के लिए निश्चित था। वह मार्ग मुनि जीतमल के प्रवास-स्थान से कुछ दूर था। यात्रा-दल सूर्यपोल के पास पहुंच गया। महाराणा ने अपने पूरे दल को वहा रोक दिया। वे स्वयं घोड़े पर सवार हो, कुछ लोगों को साथ ले, मुनिवर के पास पहुंचे। मुनिवर को वन्दना कर फिर अपने दल के साथ चले गए।[1]

सं० १९१२ की घटना है। जयाचार्य ने उदयपुर में चातुर्मास-प्रवास किया। उस समय वहां महाराणा सरूपसिंहजी शासन कर रहे थे। महाराणा भीमसिंहजी से लेकर अव तक जयाचार्य के साथ तत्व-चर्चा का सम्पर्क वना हुआ था। महाराणा ने मोखजी खिवेंसरा के द्वारा जयाचार्य से कुछ प्रश्न पूछे। आचार्यवर ने उनके उत्तर दिए। वे प्रश्न और उत्तर आज उपलब्ध नही है। जयाचार्य द्वारा प्रदत्त उत्तरो को सुन महाराणा के मन में धर्म के प्रति प्रगाढ रुचि उत्पन्न हो गई।[2]

चातुर्मास सम्पन्न हो रहा था। विहार की तैयारी थी। जयाचार्य ने मोखजी से कहा—कल हमारा विहार हो रहा है। रास्ते मे महाराणा का

---

१. (क) ते आ. ख २, पृ ७९-८० [जयसुजश, १०।७-२१]।
(ख) ते आ ख २. पृ ६२ [जयसुजश, ७।१-४]।
(ग) ते. आ. ख. २, १२६ [जयसुजश, ३९।१६]।
२. ते आ खं. २, पृ०. २३४ [जयसुजश, ४३।७-१६]।

हाथियों को युद्ध-कला सिखाने का दीवानखाना है। वहां हम एक रात रहना चाहते है। तुम महाराणा की इच्छा जान लेना। मोखजी ने जयाचार्य की भावना महाराणा के सामने रखी। महाराणा ने कहा—मुझे पूछने की क्या जरूरत है। एक रात ही क्यो ? आचार्यवर चाहे तो वहा एक मास रहे। केवल अभी ही नही, वे जव कभी यहां आएं और वहा रहना चाहे तो सुख से रहें। मेरी सदा के लिए स्वीकृति है। महाराणा ने मोखजी से कहा कल प्रात· अविलम्ब तुम मेरे पास आ जाना। 'जो आज्ञा' कहकर मोखजी वहां से चले और जयाचार्य के पास आ उन्होने सारी वात वता दी।

दूसरे दिन सूर्योदय होते-होते मोखजी महाराणा के पास पहुचे। महाराणा ने कहा—आचार्यवर आज विहार कर रहे है। तुम आचार्यवर के पास मेरी ओर से जाओ और उनके चरणों में मेरी चार बातें रखो -

१. महाराणा ने आपके चरणो मे दंडवत् कहलाया है।

२. आप कृपा कर उदयपुर फिर शीघ्र आना।

३. मुझ पर कृपा वनाए रखना।

४. आपकी कृपा से हमारे यहा सब कुछ ठीक है।

मोखजी महाराणा से विदा ले जयाचार्य के पास पहुचे। महाराणा ने जो कहलाया वह जयाचार्य के चरणो मे रख दिया। जयाचार्य ने और उपस्थित सभी साधु-साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओ ने महाराणा की भावना पर प्रसन्नता प्रगट की।[1]।

आचार्यवर-मेवाड के अनेक गावो मे घूमे। कुछ दिनो वाद गोगून्दा पधारे। महाराणा को इसका पता चला। मोखजी दर्शन करने गोगून्दा जा रहे थे। महाराणा ने उनके साथ कहलवाया—'आचार्यवर! आप गोगून्दा पधार गए है, तव फिर उदयपुर ने कौन-सी चोरी की है ? यहा आप क्यो नही पधार रहे है ? मेरी प्रार्थना है। यहा अवश्य पधारें[2]।

आचार्यवर ने महाराणा की भावना का मूल्याकन करते हुए मोखजी से कहा—अभी इतना जल्दी फिर उदयपुर जाना सभव नही है, तुम महाराणा को वता देना।

---

१ ते आ. ख २, पृ १३४-१३५ [जयसुजश ४३।१७,१८ कलश-३]।

२. ते आ ख. २, पृ० १३६ [जयसुजश ४३।३०-३१]।

जयाचार्य ने जीवन की संध्या के दो चातुर्मास जयपुर में किये। जयपुर नरेश रामसिंहजी की तत्व-चर्चा में रुचि थी। तत्व-चर्चा में रुचि रखने वाले व्यक्ति जयाचार्य के पास अनायास पहुंच जाते। उस समय के राजे-महाराजे जनता की प्रतिक्रिया जानने के लिए रात के समय वेष बदल कर नगर में घूमा करते थे। महाराजा रामसिंहजी नगर की परिक्रमा करते समय जयाचार्य की सेवा में उपस्थित हो जाते। एक वार लाला भैरूलालजी के नौकर ने महाराजा को पहचान लिया। उसने लालाजी के सामने यह वात रखी। कुछ दिनों वाद फिर महाराजा जयाचार्य के पास आए। लालाजी को जयपुर नरेश के आने का पता चला। वे भेंट लेकर दरवाजे पर खड़े हो गए। महाराजा जाने लगे तव लालाजी ने उनका अभिवादन किया और उपहार देने के लिए हाथ आगे वढ़ाया। महाराजा ने कहा—'यह उपहार लेने का समय नही है। यहा मै आचार्यवर के दर्शन करने आया हूं। यह मेरी तीर्थ-यात्रा है। यहां लेने की नही, देने की वात हो सकती है। दिन मे आने में अनेक कठिनाइया होती है, इसलिए मैं रात्रि के समय एकांत में आचार्यवर के पास आ जाता हूं और तत्व-चर्चा कर समाधान पा लेता हूं। लालाजी ! उपहार की वात छोड़ो। रात्रि के समय मेरे यहा आने का पता भी दूसरों को नही लगना चाहिए।' यह निर्देश दे महाराजा वहां से चले गए।

जयाचार्य लूणिया के वाग से जयपुर के वाजार में आ रहे थे। मार्ग में एक पादरी मिला। उसका नाम था वाल्टेन। आचार्यवर से वह वहुत प्रभावित हुआ। उसने कहा—मैं आपके स्थान पर आऊंगा। वह कुछ दिनों वाद आचार्यवर के पास आया। लम्बे समय तक तत्व-चर्चा की। आचार्यवर का तात्विक विश्लेपण सुन उसे वहुत आश्चर्य हुआ।[1] महाराणा सरूपसिंहजी, महाराज रामसिंहजी और पादरी वाल्टेन के साथ तत्व-चर्चा के उल्लेख मिलते है, पर उसका पूरा विवरण नही मिलता।

सं० १९२८ का चातुर्मास-प्रवास जयपुर मे था। वहां एक सेठ था अनंतराम दीवान। उसके पुत्र का नाम था वगतावरमल। उसका वड़ा पुत्र जल में डूवकर मर गया। सेठ अनंतराम अपने पौत्र की मृत्यु से वहुत दुःखी

1. ते. आ. खं. २, पृ. १६४-१६५ [जयसुजश, ५४।२८, यतनी ३,४]।

हो गया। उसका चिन्ताकुल मन पंखविहीन पंखी की भांति रात-दिन छट-पटाता रहता। वह जयाचार्य की गौरव-गाथा से परिचित था। उसने सोचा, इस समय जयाचार्य हमारे शोक-संतप्त परिवार को सांत्वना दे सकते है। यह सोच उसने जयाचार्य के पास अपना आदमी भेज दर्शन देने के लिए प्रार्थना कराई। जयाचार्य उसकी प्रार्थना स्वीकार कर वहा पधारे। उसके परिवार के सामने वैराग्य-रस से पूरित प्रवचन किया। मोहजीत के लेखक[1] ने मोह में फंसे हुए सेठ और उसके परिवार को मोहजयी वना दिया। काल के पंजे से कोई नही छूटता, पर जो मोहजयी हो जाता है वह सहज ही कालजयी बन जाता है। आचार्यवर की वाणी ने सेठ को शोक के समंदर से निकाल परमानंद के सागर तट पर ला खड़ा किया। छह वार के सत्सग में सेठ का मानस विलकुल वदल गया। अव सेठ पक्का भक्त बन गया। उसने प्रार्थना की आप एक मास तक यही विराजें। आचार्यवर ने कहा—चातुर्मास संपन्न हो रहा है। अब हम यहा एक मास तक नही रह सकते। सेठ प्रार्थना के स्वर में वोला—एक मास आप घाट पर मेरे वाग मे रहे। एक मास सरदारमलजी लूणियां के वाग में रहे। दो मास तक शहर के वाहर प्रवास कर फिर शहर मे पधारें और एक मास तक मेरी हवेली में रहें। आचार्यवर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। द्विमासीय उद्यान-प्रवास के वाद सेठ की नई हवेली मे पधार गए। साध्विया उसकी पुरानी हवेली में ठहरी। मर्यादा-महोत्सव का आयोजन वही हुआ। जयाचार्य ने कुछ दिन वहां ठहर कर लाला भैरूलालजी की हवेली में ठहरने की वात सोची। पुस्तक-पन्ने वहा भेज दिए। सेठ को इस वात का पता चला। उसने अत्यंत आग्रहपूर्वक प्रार्थना की—आचार्यवर ! एक मास तक आप तो मेरे घर ही विराजें। मै आपको यहां से जाने नही दूगा। आचार्यवर ने कहा—यहां कुछ असुविधाएं है। साधुओं को गोचरी के लिए वहुत दूर जाना होता है, शौच का स्थान भी दूर है, इसलिए हम लालाजी के भवन मे जाना चाहते है। सेठ ने कहा—सव ठीक है। आपको असुविधा हो रही है, फिर भी मैं आपको यहा से जाने नहीं दूगा। आपको मुझ पर कृपा करनी होगी। आप जाएंगे कैसे ? मै दरवाजे पर लेट जाऊंगा। आप मेरी छाती पर पैर रखकर ही

---

१. 'मोहजीत'—जयाचार्य की एक कृति।

जा सकते है। सेठ ने प्रार्थना करते-करते युवाचार्य मघवा के पैर पकड़ लिए। उनसे आग्रह किया—आपको मेरी भावना पूरी करनी ही होगी। पगडी एक ओर रखी हुई है, आंखों में आंसू बरस रहे हैं, युवाचार्य के पैर दृढ़ता से पकड़े हुए है। सेठ की प्रार्थना सुन, उसकी मनःस्थिति को देख जयाचार्य का अंतःकरण अनुकंपा से भर गया। आचार्यवर ने उस समय एक गाथा का उच्चारण किया -

'म्हे तो श्रावक घणा देखिया ए, ओ हद नै ओ मोड़।
कठैइ दीठो नही ए, दीठो इणहिज ठोड़ ॥'

जिन्हें आग नही पिघाल सकती, उन्हें आंसू पिघाल देते हैं। आचार्यवर का अंतःकरण पिघला। उन्होंने एक मास पूरा बिताने की स्वीकृति दे दी। मर्यादा-महोत्सव वही हुआ। पूरा माघ का महीना वही बीता। फाल्गुन कृष्णा एकम को आचार्यवर ने वहां से प्रस्थान की तैयारी की। सेठ अपने लवाजमे के साथ आचार्यवर की सेवा मे उपस्थित हुआ। आचार्यवर ने कहा—'आसा', घोटा, छड़ी ये सब ऐश्वर्य के चिन्ह है। ये हमारे साथ क्यों? सेठ ने कहा—ये आपके साथ नही है। आपके साथ मैं हूं और ये मेरे साथ है।

एक मुनि ने सेठ को गुरु-दीक्षा की प्रेरणा दी। सेठ ने कहा—ये मेरे गुरु के गुरु है, फिर गुरु-दीक्षा कहां वची है? मुनि ने कहा—चांदी बहुत अच्छी है, पर मुद्रा के विना रुपया नही वनता। सेठ ने मुनि के तर्क को स्वीकार किया और जयाचार्य से गुरु-दीक्षा ले ली।[2]

जिसे आकाश को छूना है, उसे पाताल को छूना होगा। व्यक्तित्व का विकास ऊंचाई और गहराई दोनो आयामो मे होता है, तभी वह महान् वनता है। गहराई के विना ऊंचाई आ नही पाती। आती है तो वह टिक नही पाती। मुनि जीतमल मे साधना की गहराई और तत्व-ज्ञान की ऊंचाई—दोनों विद्यमान थी। उनकी तात्विक दृष्टि से प्रकाश-रश्मियां विकीर्ण होती थी। हजारों-हजारों लोगों को उनसे आलोक मिलता था। उनके पास तत्व-जिज्ञासु लोग आते रहते थे।

सं० १८८८ का चातुर्मास-प्रवास वीकानेर मे था। वहां हरियाणा के दो भाई पहुंचे—मोमनलाल और गुलहजारी। उस समय जयाचार्य मुनि

---

१ यह गाथा आपाढभूति के व्याख्यान की है।
२ ते. आ ख २, पृ १६४ [जयसुजश, ५४।१७-३४]।

अवस्था मे थे। उन्होने मुनि जीतमल से दिल्ली शहर मे आने की प्रार्थना की। मुनिवर का मन उनकी प्रार्थना की ओर आकर्पित हो गया। दिल्ली-जाने के लिए आचार्यवर ऋपिराय से आदेश प्राप्त करना जरूरी था। मुनि कोदरजी का जंघा-वल अद्भुत था। वे वहुत लम्वे-लम्वे विहार कर लेते थे। उन्हे आचार्यवर के पास मेवाड भेजा। मुनिवर वीकानेर से विसाऊ पहुंचे, तव तक तपस्वी मुनि कोदरजी मेवाड़ में जा आचार्यवर से दिल्ली-यात्रा का आदेश ले मुनिवर के पास पहुंच गए।

मुनिवर राजगढ़ पहुंचे। वहा कालवादी सम्प्रदाय का एक अनुयायी था। उसका नाम था वालकराम। वह अपने सम्प्रदाय का मर्मज्ञ था। मुनिवर से उसने अनेक वार तत्व-चर्चा की और उसे समाधान मिला।

मुनिवर राजगढ से प्रस्थान कर ऊमरा, हांसी, भिवानी, दादरी होते हुए दिल्ली के परिसर मे पहुचे। दिल्ली शहर से दो मील दूर पहाड़ी गांव में ठहरे। आज वही पहाड़ी गांव पुरानी दिल्ली का एक भाग वना हुआ है। उसका नाम है पहाड़ी धीरज। वहां मुनिवर तीन दिन रहे।

सं० १८८१ में मुनिवर मुनि हेमराजजी के साथ जयपुर मे चातुर्मास-प्रवास कर रहे थे। उस समय कृष्णचंदजी माहेश्वरी और चतुर्भुजजी ओसवाल दिल्ली से जयपुर आए। दोनो स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने मुनिवर से अनेक प्रश्न पूछे। उनका समाधान पा उन्होने मुनि हेमराजजी से गुरु-दीक्षा ली। वे दिल्ली लौट गए। कुछ वर्षो तक वे इस अवधारणा मे स्थिर रहे। फिर मूर्ति-पूजा मे विश्वास करने वाले किशनचद-जी ने उनका विचार वदल दिया। विचार गतिशील होता है, इसलिए उसके स्थायित्व को संभव नही माना जा सकता। वे दोनो मूर्ति-पूजा मे विश्वास करने लगे। उनका विचार वदल गया, विश्वास वदल गया, पर मुनिवर के प्रति उनका धर्मानुराग नही वदला। कृष्णचंद माहेश्वरी चौथे दिन प्रभात के समय पहाड़ी गांव पहुंचा। उसने अपने वदल जाने को छिपाया नही। न हाथ झुकाए और न वंदना की। दोनों हाथों को समरेखा मे कर वोला—जिस दिन आपके दर्शन किए, उसी दिन से आपकी सूरत मेरे हृदय मे वसी हुई है। यह कहते-कहते उसकी आखे प्रफुल्ल हो गई। मुख विकस्वर हो गया। उसने कहा—अव आप शहर मे पधारे। मुनिवर ने जिज्ञासा की—ठहरने को स्थान कहां मिलेगा? हम यहा पहली वार आ रहे है। हमारे

संघ का कोई भी यहां पहले नहीं आया है। हमारे लिए यहां सब कुछ नया-नया है। क्या स्थान मिल जाएगा ? उसने कहा—स्थान की क्या कमी है। बहुत स्थान मिलेंगे। आप पधारने की कृपा करें। मुनिवर शहर में पधारे। कृष्णचंदजी और उनके कुछ साथी साथ में थे। बाजार में एक दुकान पर रहने का स्थान दिखाया। उसके पास वाले मकान में वेश्याएं रहती थी, इसलिए मुनिवर ने वहा रहना अस्वीकार कर दिया। दूसरा स्थान दिखाया, वह भी अनुकूल नही लगा। तीसरा स्थान रोगनपुरा में दिखाया। वह था गंगाराम कश्मीरी का भवन—लम्बा-चौड़ा और रमणीय स्थान। वहां मुनिवर ठहरे। कृष्णचंद माहेश्वरी प्रतिदिन प्रातःकालीन प्रवचन सुनता था। उसने कहा—आपके और मेरे विचार अब भिन्न हैं। फिर भी आप बड़े तत्ववेत्ता हैं, तत्व के गूढ़ रहस्य के मर्मज्ञ हैं, इसलिए मैं प्रतिदिन आपके पास आता हूं और आपका प्रवचन सुनता हूं। किशनचंद ओसवाल ने सोचा—कृष्णचंद फिर जयाचार्य के प्रभाव में चला न जाए। उसने कृष्णचंद की सुरक्षा के लिए तत्व-चर्चा शुरू की। कुछ दिनों तक वह बराबर चलती रही। इस विषय में चर्चा के कुछ विषयों का मघवागणी ने 'जयसुजश' में उल्लेख किया है।[1] मुनि जीतमल तत्ववेत्ता और नीतिविद् दोनों थे। मुनिवर ने देखा, किशनचंद और कृष्णचंद इन दोनों में बहुत गहरा सम्बन्ध है। यह संबंध धार्मिक अवधारणा से जुड़ा हुआ है। धार्मिक अवधारणा मे अन्तर आए बिना यह संबंध कम नही होगा और संबंध कम हुए बिना कृष्णचंद की दृष्टि सम्यक् नही होगी। तत्व-चर्चा का विषय था—मिथ्यादृष्टि की धर्माराधना। आचार्यवर ने कहा—मिथ्यादृष्टि के शील, संतोष, दया, क्षमा—ये गुण मोक्ष की सीमा मे है। किशनचंद बोला—ये गुण अच्छे हैं, पर मिथ्यादृष्टि के है, इसलिए अच्छे नही हैं। खीर अच्छी होती है, पर भंगी की खीर कौन खाना चाहेगा ? मुनिवर ने कहा—भंगी की खीर मत कहो। यह भंगी का रुपया है, जो कहीं भी नही अटकता, सब लोग उसे स्वीकार कर लेते है। कृष्णचंद माहेश्री के मन मे यह बात बैठ गई। उसका किशनचंद से विचार-भेद हो गया, सम्बन्ध भी कम हो गया। मुनिवर के प्रति उसका अनुराग बढ़ गया। दिल्ली चातुर्मास सम्पन्न होने पर मुनिवर के पास मुनि-

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. ७६-८२ [जयसुजश, ढा० १६-१७]।

दीक्षा स्वीकार कर वह उनका अंतेवासी हो गया।[1]

दिल्ली में स्थानकवासी संप्रदाय का एक प्रमुख श्रावक था। उसका नाम था खंडेराम। वह व्याख्यान सुनने आता था। उसने एक तत्व-चर्चा प्रारम्भ की। अन्य अनेक लोग उस चर्चा में रस ले रहे थे। उसने कहा—मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के दो ध्यान होते है—आर्त्त और रौद्र। वह धर्मध्यान का अधिकारी नही होता। मुनिवर ने कहा—वह धर्मध्यान का अधिकारी होता है। दो ध्यान और तीन ध्यान की चर्चा जनता में काफी प्रसिद्ध हो गई। उसने तीन ध्यान का प्रमाण चाहा। मुनिवर ने भगवती सूत्र का 'अश्रुत्वा' अधिकार दिखाया। उससे बड़ा संबल मिला, अनेक लोगों को सम्यग्दृष्टि मिली। मुनिवर का संप्रदायातीत धर्म का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक लोगों के दिल को छू गया।[2]

मुनिवर चातुर्मासिक प्रवास सम्पन्न कर मेवाड़ पहुचे। वहां आचार्यवर ऋषिराय के दर्शन कर दिल्ली प्रवास के संस्मरण सुनाए। आचार्यवर वहुत प्रसन्न हुए। उनके मन में मुनि जीतमल का स्थान और अधिक गहरा हो गया।[3]

मुनिवर जीतमल अग्रणी अवस्था में विहार करते-करते लाडनूं पहुंचे। वहा के लोगों ने मुनिवर के सामने तात्विक जिज्ञासाएं प्रस्तुत की। मुनिवर ने उनका समाधान दिया। उससे वे वहुत प्रभावित हुए। उन्होने कहा—यदि आप चातुर्मासिक प्रवास यहां विताएं तो हम आपके पथ-दर्शन में चलने का संकल्प स्वीकार कर लेगे। मुनिवर ने उन्हें अपना संघीय अनुशासन वताया। चातुर्मासिक प्रवास का निर्णय हम नही कर सकते। उसका निर्णय हमारे आचार्य करेंगे। हमे जहा आदेश होगा, वही हम चातुर्मास विताएंगे। इसलिए मै आपके अनुरोध को स्वीकार करने मे असमर्थ हूं। यदि आचार्यवर का मुझे यहां चातुर्मास विताने का आदेश मिल जाएगा तो मै यहां चातुर्मास-प्रवास कर दूंगा। मुनिवर का अनुकूल उत्तर पा सव लोग संतुष्ट हो गए। उन्होंने मुनिवर के पथ-दर्शन को स्वीकार कर आचार्य ऋषिराय की गुरु-दीक्षा स्वीकार कर ली। वे पहले आचार्य भिक्षु के संघ से

१. ते. आ. ख. २, पृ. ८४ [जयसुजश, १८।१७-२०]।

२. ते. आ. ख. २, पृ. ८३-८४ [जयसुजश, १८।४-१४]।

३. ते. आ. ख. २, पृ. ८४-८५ [जयसुजश, १९।१-४]।

पृथक्भूत मुनि चन्द्रभाणजी का अनुगमन कर रहे थे। उन लोगों में लालचंद-जी पाटणी प्रमुख थे। मुनिवर के प्रभाव से लाडनू हमारे धर्मसंघ का एक शक्तिशाली केन्द्र वन गया।[1] वहां सवा सौ वर्ष से वृद्ध साध्वियों के लिए सेवा-केन्द्र वना हुआ है। मेरी जन्म-भूमि है। वही जैन विश्व भारती का मुख्य कार्यालय और पारमार्थिक शिक्षण संस्था का आवास है। वही साधु-साध्वियों और समण-समणियों के अध्ययन की व्यवस्था है। इस विकास के वटवृक्ष का वीज-वपन मुनि जीतमल ने किया था। तेरापंथ धर्म-संघ के विकास और विस्तार मे जयाचार्य का महत्वपूर्ण योगदान है। मुनि, युवाचार्य और आचार्य—इन तीनों अवस्थाओं में वे संघ का नेतृत्व कर रहे प्रतीत होते है।

कुचामन के दो प्रसंग

सं० १९०७ की घटना है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में पद-विहार कर रहे थे। वे कुचामन पधारे। वहा के सरावगी भाई युवाचार्य श्री के पास आए। युवाचार्यवर तत्त्वज्ञ के रूप में ख्याति पा चुके थे, इसलिए वे जहां कही जाते वहा तत्त्व-चर्चा के प्रसंग उपलब्ध हो जाते। सरावगी भाइयों ने प्रश्न उपस्थित किया—आप महाजनों के सिवाय दूसरी जातियों के घरों से भिक्षा लेते है, यह उचित नही है। युवाचार्यवर ने कहा—हम ओसवालों के घरो से भिक्षा लेते है। उनके घरो मे अनेक जाति के स्त्री-पुरुप रसोई वनाने का काम करते है। इस दृष्टि से हमें ओसवालों के घरों से भी भिक्षा नही लेनी चाहिए।

आप लोग लाडनू, सुजानगढ़ के सरावगियों के साथ वैवाहिक संवंध करते है। उनके घरों से वेटियां लाते है और उन्हें वेटियां देते हैं। वे सरा-वगी ओसवालो के साथ भोजन करते है। उनकी वेटियां अनेक जाति के रसोइयों द्वारा वनाई हुई रसोई खाती है और वे ही तुम्हारे घरों में आती है। वे तुम्हारे यहां अन्य जाति के लोगों द्वारा वनाई हुई रसोई नही खाती, अपने पीहर जाती है तव वैसा भोजन खाती है। तुम उनके साथ भोजन करते हो, फिर वह अलगाव कहां रहा ? कैसे रहा ? प्रश्नकर्त्ता सव मौन थे।[2]

सभी लोग तत्त्व-जिज्ञासु नही होते। कुछ व्यक्ति जय-पराजय की ?

१, ते आ ख. २, पृ. ९० [जयसुजश, २१।१-४]।
२. ते. आ. ख २, पृ. ११४,११५ [जयसुजश, ३४।दो. १-३।गा. १-७]।

भावना से भी तत्त्व-चर्चा करते है और कुछ व्यक्ति तत्त्वज्ञ को उलझाने के लिए भी तत्त्व-चर्चा में रस लेते है। तत्त्ववेत्ता को इन सभी समस्याओ का सामना करना होता है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में कुचामन पधारे। वहां प्रसिद्ध सेठ का पुत्र काफो यशस्वी था। उसने युवाचार्यश्री की वहुत ख्याति सुन रखी थी। उसे युवाचार्यवर के आगमन का पता चला। वह दर्शन करने आया। उसने कुशल-क्षेम पूछने के वाद एक प्रश्न रखा—युवाचार्य-श्री ! कोई व्यक्ति आपके पास आकर कहे—आप कहे तो मै हिरन मारने का त्याग करूं और आप कहें तो मै मूली खाने का त्याग करू। मै दोनो मे से एक का त्याग करना चाहता हू। जो आप निर्देश दें, वही करू। अव मेरा प्रश्न है कि आप उसे दोनों मे से किसका त्याग करायेंगे ?

युवाचार्यश्री—हम कहेंगे कि तुम दोनों का त्याग करो।

श्रेष्ठिपुत्र—वह कहता है कि दोनो को त्यागने का मेरा मन नही है। मै दोनों में से एक का त्याग करना चाहता हूं। जो आपकी इच्छा हो, वह त्याग कराएं।

युवाचार्यश्रो—हमारा उत्तर होगा कि यदि तुम दोनों को त्यागना नही चाहते तो फिर तुम्हारी इच्छा हो वह करो। त्याग का चुनाव वह करेगा। हम उसका चुनाव कैसे करेंगे ?

श्रेष्ठिपुत्र ने फिर प्रश्न दोहराया। युवाचार्यवर ने अपना उत्तर दोहरा दिया। उसने अनेक वार अपना प्रश्न दोहराया। युवाचार्यवर ने अनेक वार अपना उत्तर दोहरा दिया।[1] प्रश्न था उलझन में डालने के लिए, पर दूसरों को उलझन मे से निकालने वाला एक महान तत्त्ववेत्ता इस छोटी-सी पहेली में कैसे उलझेगा, इस सचाई को भूल गया था वह श्रेष्ठिपुत्र।

आगम-प्रामाण्य

दिल्ली प्रवास की घटना है। कुछ जैन भाई आए। एक था किशन-चंद, तत्त्वज्ञान की रुचि वाला। उसने पूछा—आप आगम कितने मानते है ? जैन संप्रदायों में आगम-प्रामाण्य के विषय मे अनेक मान्यताएं है। कुछ संप्रदाय वत्तीस आगमो को प्रमाण मानते है, कुछ पैतालीस आगमो को और

---

१. ते. आ ख. २, पृ ११३, ११४ [जयसुजश, ३३।१४-२०]।

कुछ चौरासी आगमों को। आचार्य भिक्षु ने ग्यारह अंगों का प्रामाण्य स्वीकार किया।

जयाचार्य ने इस सारी परंपरा से हटकर नया ही उत्तर दिया। आचार्यवर ने कहा—हम तीन प्रकार के आगम मानते हैं : १. सूत्रागम, २. अर्थागम, ३. तदुभयागम।

सूत्रागम क्या है?

सूत्र का मूल पाठ है, वह सूत्रागम है।

अर्थागम क्या है?

मूल पाठ से मिलता (मेल खाता) वह व्याख्या ग्रंथ अर्थागम है।

तदुभयागम क्या है?

सूत्रागम और अर्थागम दोनों का योग।

इस उत्तर ने विवाद को समाप्त कर दिया। किशनचंद ने कहा—आपको आगम का चौथा प्रकार और मानना होगा।

कौन-सा?

'मिलता' आगम।

किशनचंद का व्यंग था जयाचार्य की उस टिप्पणी पर, जिसमें कहा गया था—मूल पाठ से मिलता हुआ व्याख्या ग्रंथ प्रमाण है।

जयाचार्य ने इस व्यंग का उत्तर उसी भाषा में दिया। उन्होंने कहा—'अनमिलता' आगम है ही नही। जो आगम है, वह 'मिलता' (मेल खाने वाला) ही है।

चर्चा संक्षेप में समाप्त हो गई।[1]

आचार्य भिक्षु ने पौराणिक कथाओं का प्रामाण्य नही माना। उन्होने मौलिक आगम सूत्रो का ही प्रामाण्य स्वीकार किया। उत्तरवर्ती आगमों और व्याख्या-ग्रंथों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की विस्तृत समीक्षा जयाचार्य ने की।[2]

यांत्रिक तोता

जयपुर के एक शिल्पी ने एक अद्भुत तोता वनाया, जो कुछ शब्द वोलता और दाने भी चुग लेता। उसे देख लोग वड़े आश्चर्य में डूव जाते। शहर मे वात फैल गई कि शिल्पी ने एक जीव पैदा किया है। जीव के दो

१. ते. या खं. २, पृ. ७६,८० [जयसुजश, १६।१६]।

२. चौरासी आगम अधिकार।

वड़े लक्षण हैं—वोलना और खाना। तोता दोनों काम कर रहा था। एक दिन वह शिल्पी जयाचार्य के पास आया। आचार्यवर ने उस तोते को देख कर कहा—यह यान्त्रिक है। यंत्र वोलता है, यंत्र ही खाता है। यह जीव नही है। शिल्पी मौन और साथ आने वाले दर्शक भी मौन।

प्रमाद का प्रायश्चित्त

जयाचार्य लाडनू मे विराज रहे थे। होली के दिन थे। लोग होली खेल रहे थे। एक-दूसरे पर रंग ही नही डाल रहे थे, गंदा पानी व कीचड़ भी डाल रहे थे। जयाचार्य उसी मार्ग से पधारे। रंग और पानी के कुछ छीटे जयाचार्य के वस्त्र पर गिर गए। लोगों को पता चला। वे आचार्यवर के पीछे-पीछे प्रवास-स्थल पर आए। उन्होंने अपने प्रमाद के लिए क्षमा मांगी। आचार्यवर ने शात स्वर में कहा—आप अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त करना चाहते है तो यह संकल्प करे कि भविष्य मे होली के अवसर पर गंदी वस्तुओं का प्रयोग नहीं करेगे। उन लोगों ने वह संकल्प स्वीकार कर लिया। भूल का प्रायश्चित्त परिष्कार मे हो गया।

समाधि-मरण

जयाचार्य समाधि के मर्मज्ञ थे। उनकी दृष्टि में जीने और मरने का उतना मूल्य नही था, जितना मूल्य था समाधि का। मानसिक समाधि के साथ जीना भी अच्छा है और मानसिक समाधि के साथ मरना भी अच्छा है। जीवन-मरण गौण है, मुख्य है समाधि।

आचार्यवर ने समाधि-मरण के हर अवसर पर अपने-आप को प्रस्तुत किया। समाधि-मरण की सुगंध आई और उस दिशा मे उनके चरण आगे वढ़ गए। तपस्वी मुनि रामसुखजी और कोदरजी जयाचार्य के पास समाधि-मरण को प्राप्त हुए।

तपस्वी उदयराजजी लाडनू मे थे। उनके समाधि-मरण के अवसर पर जयाचार्य वीदासर से लाडनूं पधारे।

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी का समाधि-मरण आचार्यवर की सन्निधि में हुआ। आचार्यवर ने उन्हें विस्तार के साथ आत्मालोचन कराया और उनके समाधि-मरण की सम्यक् व्यवस्था की।

साध्वी उमेदाजी को सुजानगढ़ में समाधि-मरण के अवसर पर आचार्यवर ने दर्शन दिए।

साध्वी वन्नाजी को समाधि-मरण के अवसर पर आत्मालोचन करवाया। उनकी गुणानुवाद की कुछ गाथाएं रच उन्हें सुनाईं।

साध्वी हस्तूजी के समाधि-मरण के अवसर पर आचार्यवर वीदासर से प्रस्थान कर सीधे लाडनू पधारे।

पाली में तुलसी वाई स्वर्णकार जाति की श्राविका थी। वह सात उपवास और एक दिन भोजन, फिर सात उपवास और एक दिन भोजन—इस क्रम से महीने में केवल तीन दिन भोजन करती थी। एक वार उसने पैंतीस उपवास किए। उस समय जयाचार्य पाली पधारे। उसे दर्शन दिए। उसे धर्म-वार्ता सुनाई। उसने प्रार्थना की—मुझे आजीवन अनशन स्वीकार कराएं। आचार्यवर ने कहा—आजीवन अनशन करना वहुत कठिन काम है। इसे सोचे-समझे विना नही करना चाहिए। वह वोली मैंने वहुत सोचा है, समझा है, इसीलिए प्रार्थना कर रही हूं। मैं अपनी षष्ठीपूर्ति पर आजीवन अनशन करूंगी, यह मेरा दृढ संकल्प है। मेरी षष्ठीपूर्ति में केवल दो दिन वाकी है। मुझे अनशन स्वीकार करना ही है। मै चाहती हूं कि आपके श्रीमुख से वह स्वीकार करूं।

आचार्यवर जीवन और मरण दोनों से अनासक्त थे। उनका लगाव था केवल समाधि से। उन्होंने तुलसी वाई की समाधि को देखा। उसकी समाधि ने उन्हे प्रेरित किया और आजीवन अनशन का संकल्प स्वीकार करा दिया। वह अनशन इकतीस दिन के वाद संपन्न हुआ।[1]

सफलता का योग

सं० १८६६ की घटना है। मुनिवर हेमराजजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए कोटा के पास पहुंचे। भयंकर गर्मी, चिलचिलाती धूप और लवा विहार। मुनि हेमराजजी को प्यास लग गई। पास मे जल नही था। सजीव जल पिया नही जा सकता। अचित्त (निर्जीव) जल की खोज करनी थी। मुनि जीतमल अभी वालक अवस्था मे थे। वे साहस के साथ आगे वढ़े। कोटा शहर में पहुचे। सांझ का समय था। वहुत खोज करने का अवकाश नही था।

---

१. ते. आ ख. २, पृ १३७,१३८ [जयसुजश, ४४।१-६]।

सहज ही एक वहन मिली। उसने वंदना कर कहा—मुनिवर ! अचित्त जल की आवश्यकता हो तो मेरे घर पर चलने का अनुग्रह करे। मुनि जीतमल उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसके घर गए। वहन ने वड़ी श्रद्धा के साथ जल का दान दिया। उसको आखों मे हर्ष के आसू छलक पड़े। वह गद्गद् स्वर में वोली—'मुनिवर ! वारह वर्ष पूरे हो रहे है। निरतर भावना करती हूं कि कोई मुनि आए और मेरे हाथ से अचित्त जल का दान स्वीकार करे। एक दिन भी ऐसा योग नही मिला। आज वारह वर्ष से मेरा आम फला है।'

वहन की भावना फलित हुई। इधर मुनि जीतमल की भावना फलित हुई। मुनि हेमराजजी की प्यास वुझी। प्यास वुझाने वाले हाथ सफलता के हाथ हो तो उसका स्पर्श या अतृप्ति सहज ही तृप्ति मे वदल जाती है।

१०

ग्रहणशील व्यक्तित्व

वायु ग्रहशील होती है। सर्दी को लेती है ठंडी हो जाती है, गर्मी को लेती है गर्म हो जाती है। मनुष्य भी ग्रहणशील होता है। वह अच्छाई को भी लेता है, बुराई को भी लेता है। मनुष्य केवल ग्रहणशील ही नहीं है, वह विवेकशील भी है। विवेक यह है कि बुराई को न ले, अच्छाई को ले और मुक्तभाव से ले। जयाचार्य में विवेकशीलता और ग्रहणशीलता दोनों का समन्वय था। उन्होने अच्छाई को मुक्तभाव से लिया। 'अमेध्यादपिकांचनं' (सोना अपवित्र स्थान से भी ले लेना चाहिए), 'वालादपि सुभाषितं' (अच्छी वात बच्चे से भी सीख लेनी चाहिए)—ये सूक्त उनके परिपार्श्व मे परिक्रमा कर रहे थे। उन्होंने एक विद्यार्थी से संस्कृत व्याकरण पढ़ा, यह हम जान चुके है। उनके मन में प्रश्न उठा—हम लोग आगम ग्रन्थों की प्रतिलिपि कर रहे है पर यतियों की लिपि में जो सौदर्य है, वह हमारी लिपि में नही है। उन्होंने लिपि-सौदर्य प्राप्त किया था। हम भी उसे प्राप्त कर सकते है। आचार्यवर ने एक यति द्वारा लिखित भगवती सूत्र की प्रतिलिपि को आदर्श मान उस पर ध्यान केंद्रित किया। उसके प्रत्येक अक्षर-विन्यास को गहरे ध्यान से देखा। स्वयं अपनी लिपि को उसके अनुरूप बनाने का अभ्यास किया। वे इस कार्य मे सफल हो गए। उनका अक्षर-विन्यास वहुत सुन्दर हो गया।

जयाचार्य ने अपनी गीतिकाओ मे लोकगीतों की रागिनियों का वहुत उपयोग किया। वे राग-रागिनियों को वहुत जल्दी पकड़ लेते थे। वे अनेक वार गायक ढोलियों से रागिनियां सुनते और उन्हे स्वगत कर लेते। राजस्थान में रात्रि-जागरण के कार्यक्रम वहुत चलते हैं। कही आस-पास में रात्रि-जागरण होता तव आचार्यवर भी रात्रि-जागरण कर लेते और उसमें

गाई जाने वाली रागिनियों का विभिन्न रचनाओ में उपयोग हो जाता। उन्होंने अपनी पद्यात्मक रचनाओ में सैंकड़ों-सैकड़ों रागिनियों का उपयोग किया। मोहजीत के व्याख्यान की रचना इसी ग्रहणशीलता के द्वारा हुई। आचार्यवर ने रात्रि के समय मोहजीत का आख्यान सुना और दूसरे दिन उन्होंने उस आख्यान के आधार पर व्याख्यान रच दिया।

कला के क्षेत्र में भी उनकी यह वृत्ति प्रस्फुरित रही। जो भी अच्छी वात देखी उसे हस्तगत कर लिया। जयाचार्य से पूर्व तेरापंथ के साधु-साध्वियों को वेशभूषा स्थानकवासी संप्रदाय से मिलती-जुलती थी। आचार्यवर ने उसमें कुछ परिवर्तन किया और उसे कलात्मक वना दिया। रजोहरण और प्रमार्जनी वनाने, कपड़ो की सिलाई करने तथा आहार-पात्रों को रगने व उन पर रोगन करने की कला का विकास आचार्यवर ने ही किया था। हस्तकला की दृष्टि से तेरापंथ की अपनी कुछ विशेषताएं है। इन सव का मूल वीज आचार्यवर की ग्रहणशीलता और कलात्मक दृष्टि है।

११
अन्तर्जगत् के प्रतीक

शकुन

हमारा जगत् उतना ही नही है जितना हमें दिखाई दे रहा है। स्थूल जगत् दृश्य है, वह वहुत छोटा है। सूक्ष्म जगत् अदृश्य है, वह वहुत वड़ा है। हम अपनी आंखों से सूक्ष्म जगत् को नही देख पाते। उसके नियमों को जानने में भी हम सक्षम नही है। हमारी इस अक्षमता ने ही हमें एक सीमा में वांध रखा है। उस सीमा से परे जो कुछ घटित होता है उसे हम या तो चमत्कार मान लेते है या अन्धविश्वास। शकुन के वारे मे भी हमारे ये दो दृष्टिकोण है। किन्तु अन्तर्दृष्टि संपन्न लोग उसे अंधविश्वास नही मानते। वे उसे सूक्ष्म जगत् का एक नियम मानते हैं। आचार्य भिक्षु शकुन में विश्वास करते थे।[1]

जयाचार्य शकुन-शास्त्र के मर्मज्ञ थे। वे शकुन मे वहुत विश्वास करते थे। वे यात्रा मे शकुन का उपयोग किया करते थे। कभी-कभी शकुन अपने आस-पास घटना का ताना-वाना वुन लेते है। शकुन में विश्वास न करने वालो को उसकी आलोचना का अवसर मिल जाता है। एक ऐसी ही घटना घटी। जयाचार्य लाडनूं मे विराज रहे थे। एक वृद्ध श्राविका कुनणीवाई सरावगी ने प्रार्थना की—गुरुदेव! मेरे घर मे भोज के वाद मिठाई वची है। मैं उसे साधुओं को देना चाहती हूं। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करे। जयाचार्य ने वृद्धा की उत्कट भावना देख स्वीकृतिसूचक शव्दो मे कहा—अवसर आने पर देखेंगे। दूसरा सूर्योदय हुआ। आचार्यवर

---

१. अमर गाथा [हिमनवरसा २।३]
हिवै आगल जाता अपशकुन जणाणा, तव पाछा फिर्या स्वामी महा स्याणा।

प्रातःकाल शौच-निवृत्ति के लिए जंगल गए। वे जा रहे थे तव वहुत अच्छ शकुन हुए। उनका घूमने का क्रम यात्रा में वदल गया। उन्होने सुजानगढ़ के लिए प्रस्थान कर दिया। दो साधु आचार्यवर के साथ रहे। शेप साधु वस्त्र-पात्र लेने नगर पहुंचे। उन्होने आचार्यवर के विहार की लोगों को सूचना दी।

वृद्धा को आचार्यवर के विहार का पता चला। उसकी आशा पर तुषारपात हो गया। वह साधुओं के आगमन की प्रतीक्षा मे वैठी थी। सूचना दूसरी ही मिली। उसकी आखों से आसू छलक पड़े। वह तत्काल साधुओ के स्थान पर आई। उसने उलाहने के स्वर मे कहा महाराज! मेरी वात सुनो! जयाचार्य से कह देना—सव लोग आपको गरीवनिवाज कहते है पर उन्होने आज यह दिखा दिया कि वे गरीवो के नही, धींगों के महाराज है। वडे लोगों की प्रार्थना तत्काल स्वीकार हो जाती है। मेरे जैसी गरीवन की प्रार्थना पर कौन ध्यान दे? मेरे मन मे कितनी प्रवल भावना थी। जयाचार्य उसे कच्चे धागे की भाति तोड यहां से प्रस्थान कर गए। आप मेरे मन की व्यथा आचार्यवर तक पहुंचा देना।

साधु लाडनू से प्रस्थान कर सुजानगढ पहुचे। उन्होने आचार्यवर को वंदना कर कायोत्सर्ग किया। वातचीत के प्रसग मे उन्होने वृद्धा की मानसिक वेदना आचार्यवर के सामने रखी। आचार्यवर ने वृद्धा की प्रार्थना की विस्मृति पर खिन्नता अनुभव की। उन्होने साधुओ से कहा—लाडनू के लिए प्रस्थान की तैयारी करो। युवाचार्य मघवा ने विनम्र भाव से कहा—आप यहीं विराजे। वृद्धा की भावना-पूर्ति के लिए मुझे लाडनू जाने की अनुमति दे। आचार्यवर ने युवाचार्य को लाडनू भेजा। वृद्धा आचार्यवर के इस अनुग्रह पर गद्‌गद्‌ हो गई। उसने परम प्रसन्नता का अनुभव किया।

घटना के अध्ययन से लगता है कि जयाचार्य ने शकुन के आधार पर विहार कर दिया, इसलिए वृद्ध श्राविका को मानसिक आघात लगा। लाडनूवासियो को भी वह प्रस्थान भाया नही। युवाचार्य मघवा को सुजानगढ़ से वापस आना पड़ा। यदि विहार नही होता तो ये सारी स्थितिया घटित नही होती। इसका दूसरा पहलू भी है। ये सारी घटनाएं इंधन है ज्योति प्रज्वलन के लिए। एक वृद्धा के लिए मघवा को सात मील भेजना एक विशिष्ट घटना है। इससे जयाचार्य की महानता की ज्योति प्रज्वलित होती है। महान् वही वनता है जो दूसरो के लिए कठिनाइयो को

झेलता है।[1]

जयसुजश में मघवागणी ने इस घटना का उल्लेख नही किया है। उन्हौने लाडनू में तीसरे चातुर्मास का कारण भी वृद्धावस्था को वतलाया है—

वृद्ध अवस्था जोग सू, वलि तीजो चोमास।
शहर लाडनू मे कियो, सुणज्यो तेह समास ॥

[ढा. ५८ दो. १]

स्वप्न और पूर्वाभास

नींद एक प्राकृतिक घटना है। भूख और नीद ये दोनो हमारे शरीर की रहस्यमय प्रवृत्तिया है। भूख सक्रियता की प्रेरणा है और नीद निष्क्रियता की। नीद दो प्रकार की होती है—शान्त और सक्रिय। स्वप्न शांत नीद मे नही आते। मनुष्य सक्रिय नीद में ही स्वप्न देखता है। स्वप्न न गहरी नीद मे आते है और न जागृत अवस्था में। वे अर्ध-जागृत अवस्था में आते है। वह सक्रिय नीद की अवस्था होती है।

आधुनिक स्वप्नशास्त्री स्वप्न के दो प्रकार वतलाते है—सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय स्वप्न में व्यक्ति अपने आपको कार्य करते हुए अनुभव करता है। निष्क्रिय स्वप्न मे वह दृश्य को द्रष्टा की भाति देखता रहता है।

स्वप्न के द्वारा शारीरिक और मानसिक रोगों की जानकारी मिलती है। उनकी चिकित्सा के सकेत भी मिल जाते है। भावी घटनाओं की जान-

---

१ जिसका मूल्य प्रस्थापित होता है, उसका आभास भी होता है। सुख का मूल्य है, इसलिए सुखाभास भी होता है। आभास कभी-कभी भ्रम पैदा करता है। फिर भी उसके आधार पर मूल को नही झुठलाया जा सकता। जयाचार्य को भी एक वार शकुन के आभास ने भ्रम मे डाल दिया। उसके आधार पर उनकी विहारचर्या वदल गई।

तेरापथ का इतिहास (खड १) पृ. २७३ में एक घटना का उल्लेख है। उसका सारांश यह है—

स० १९३२ और १९३३ दो वर्ष लाडनू के लिए परम सौभाग्य के थे। जयाचार्य वृद्धावस्था के कारण वही विराज रहे थे। १९३४ का चातुर्मासिक प्रवास वे दूसरे स्थान पर करना चाहते थे। लाडनू के श्रावको ने वही विराजने की प्रबल प्राथना की। जयाचार्य ने उसे स्वीकार नही किया। वहा से सुजानगढ की ओर प्रस्थान कर दिया। वे शहर से थोड़ी दूर गए। मार्ग के पास ही था एक वृक्ष। उस पर वैठा था एक लड़का। जयाचार्य को देखते ही वह जोर-जोर से चिल्लाया—साधुओ! आगे मत जाओ। आचार्यवर ने उसके सामने देखा। वह और जोर से चिल्लाया—साधुओ! आगे मत जाओ। वह वार-वार इसे दोहराता गया। जयाचार्य ने इसे वालक द्वारा किया हुआ स्वाभाविक निषेध मान वह चातुर्मास लाडनू मे ही विताया। वह निषेध दूलीचदजी दूगड द्वारा शिक्षित वच्चे ने किया था।

कारी का भी यह एक वड़ा स्रोत है। चेतन मन मे जो उलझे प्रश्न होते है उनका समाधान अवचेतन मन देता है। वह मार्ग-दर्शन देता है और चेतावनी भी देता है—यदि हम स्वप्नो के प्रति जागरूक हो, उनकी उपेक्षा न करे। हर व्यक्ति स्वप्न देखता है। वहुत कम लोग उन्हें याद रख पाते है। वे लोग वहुत ही कम होते है, जो उनका अर्थ समझने का प्रयत्न करते है। जयाचार्य सूक्ष्म जगत् की यात्रा में निकले हुए यात्री थे। इसलिए वे सूक्ष्म जगत् की किसी भी घटना की उपेक्षा नही करते थे। उन्होने जो महत्त्वपूर्ण स्वप्न देखे, वे लिख लिए। उनका अर्थ समझा और जीवन व्यवहार मे उतारा। उनके कुछ स्वप्नो मे उनके मानसिक द्वद्वो के प्रतिविंव है।

सं० १९०४ मिगसर शुक्ला पंचमी। गाव दूदू। रात्रि का अंतिम प्रहर। जयाचार्य ने एक स्वप्न देखा—आचार्य भिक्षु सामने खड़े है। जयाचार्य ने पूछा—इस समय हमारे संघ मे सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रत ये तीनो है? आचार्य भिक्षु ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। कुछ विराधना होती है। प्रायश्चित्त करने पर शुद्धि हो जाती है। फिर पूछा—वार-वार विराधना होने पर मूल वस्तु कैसे रहेगी? उत्तर मिला—विराधना से चारित्र का नाश नही होता। जितनी विराधना उतना प्रायश्चित्त करने पर शुद्धि हो जाती है। पूछा—चारित्र तो होगा? उत्तर मिला—चारित्र शुद्ध होगा। उसका भलीभांति पालन किया जाएगा। फिर प्रश्न किया—आने वाले साधु 'सरधा और आचार की जोड़' तथा 'भ्रमविध्वंसन' आदि ग्रंथों को पढकर क्या यह सोचेगे कि हमारे पूर्वज 'जवर' हुए है? उत्तर मे कहा गया—वे ऐसा अवश्य सोचेगे। इस स्वप्न के वाद जयाचार्य जाग उठे। यह स्वप्न उपस्थित साधुओ को सुनाया। छठ के दिन यह लिख लिया।[1]

सं० १९०८, आश्विन शुक्ला त्रयोदशी। रात्रि का समय। स्वप्न मे एक दोहा सुना—

देखो रे भारी करी, पंचम आरा माय।
वर्ष पचीसां आसरै, कुमिय न राखी कांय।।

इसका आशय क्या है? यह पूछने पर सरदारांजी ने कहा—आचार्य भिक्षु वहा खडे है उनसे पूछें।

सं० १९१७ फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी। आचार्य भिक्षु ने स्वप्न मे

---

१. स० १९०४ मिगसर शुक्ला ६, सोमवार : लिखत ऋप जीतमल।

एक पत्र लिखाया। जयाचार्य ने उसे स्मृति में रखा और दिन में लिख लिया। उन्होंने स्वप्न के अंत में लिखा है—मैने वही वात लिखी है जो ब्रह्मेंद्र (आचार्य भिक्षु) ने लिखाई है। निश्चयार्थ सर्वज्ञो जानाति। मैने उनकी कही हुई वात लिखी है। सचाई क्या है यह केवली जाने। लिखाने वाले ब्रह्मेद्र है या कोई अन्य है, यह भी केवली जाने। मम दोषो न दीयते। लिखितं जयगणपतिना।'

स्वप्न मे लिखाया हुआ पत्र इस प्रकार है—

पश्चिम महाविदेह (हमारे सौर-मंडल का एक सुदूरवर्ती प्रदेश) में अमरकंका नगरी। वहा सूर्यकरण नामक केवली। उनके शिष्य अमृतघोष ने पूछा—अभी भरतक्षेत्र में आचार्य कौन है? केवली ने उत्तर दिया—जयाचार्य। फिर पूछा—उनकी संपदा कैसी है? साधु-साध्वियो की आचार पालने की नीति कैसी है? आचार्य उन्हें सयम-पालन मे सहयोग कैसा देते हैं? केवली ने कहा—संपदा प्रवल है, नीति अच्छी है, सहयोग अच्छा देते है। पुण्य का उदय प्रवल है और वह जीवन पर्यंत रहेगा। पुण्य क्षीण न करे तो अतिशय और अधिक वढ़ सकता है।

अमृतघोष ने फिर पूछा—पुण्य क्षीण कैसे होता है? वह क्षीण न हो उसका क्या उपाय है? प्रश्न के उत्तर में केवली ने कहा—न्याय और नीति अच्छी होती है, न्याय मे रागवश किसी का पक्ष न किया जाए तो पुण्य क्षीण नही होते। पूछा—पुण्य क्षीण न हो और दिन-दिन अतिशय वढ़े, इसका उपाय वतलाइए। केवली वोले—आचार्य का पद वड़ा है। इस पद के गुण भी विशिष्ट होते है। पुण्यवान् पुरुष नीचवृत्ति वालों की संगत नही करते। यह उपाय है अतिशय वढ़ने का।

जयाचार्य ने और भी अनेक स्वप्न देखे। उनमे कुछ गम्य है, कुछ अगम्य भी है। गम्य स्वप्नों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। इन स्वप्नों की व्याख्या के तीन कोण हो सकते हैं—

१. मानसिक प्रतिविंव।
२. अवचेतन द्वारा चेतन के प्रश्नों का समाधान।
३. आचार्य भिक्षु द्वारा दर्शन।

जयाचार्य का दिव्य आत्माओं से संपर्क रहा है, यह अनेक घटनाओं से प्रमाणित होता है। दिव्य आत्माओं के प्रति उनकी रहस्यपूर्ण वाणी पढ़ने मात्र से यह स्वयं ज्ञात हो जाता है। स्वप्न में दिव्य आत्माओं के दर्शन से

होने वाले रोमांच की चर्चा उन्होंने वार-वार की है। हो सकता है आचार्य भिक्षु ने उन्हें स्वप्न में कुछ संकेत दिए हों। स्वप्न की भापा और उसके प्रतीको को समझना वहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे अनेक रहस्यों का अनावरण होता है।

भाग्य की रेखा

जव तक अंधेरा है तव तक दीप जलेंगे। प्रतिदिन सूर्य की रश्मियां भूमि पर प्रकाश विखेरती है और प्रतिरात्रि दीप जलते है। प्रतिदिन ऐसा क्यों होता है? यह प्रश्न नही है। प्रतिदिन अंधेरा होता है तो प्रतिदिन प्रकाश क्यों नही होगा? अंत.करण को आलोकित करने के लिए प्रज्ञापुरुप चंक्रमण करते हैं। उनका चंक्रमण कभी नही रुकेगा। जयाचार्य ने अतर्यात्रा के साथ-साथ वाहर की यात्राएं भी वहुत की। उन्होने ज्ञान के क्षेत्र में ही पद-यात्राएं[1] नही की, कर्म के क्षेत्र मे भी लंवी-लंवी पद-यात्राएं की। राजस्थान, हरियाणा, गुजरात और दिल्ली—ये उनके विहारक्षेत्र रहे। उनकी एक वर्ष में सवसे लंवी यात्रा चौदह सौ मील की हुई। उस पद-यात्रा का प्रारभ दिल्ली से हुआ और उसकी संपन्नता वालोतरा (राजस्थान) में हुई। उनका चातुर्मास दिल्ली मे था। एक दिन वे जंगल मे घूम कर अपने प्रवास-स्थल मे आए। उनके पीछे-पीछे एक सामुद्रिक (हस्तरेखाविद्) आया। उसने वालू पर अंकित जयाचार्य के पैरों की रेखाएं देखी। वह सदेह से आदोलित हो गया। पद-रेखाएं वताती है प्रवल राजयोग और यह व्यक्ति नगे पैर रास्तो पर चल रहा है। दोनो विरोधी वाते है। क्या समुद्र-शास्त्र मिथ्या है? राजयोग की रेखा वाला व्यक्ति नंगे पैर घूम रहा है तव मेरी विद्या सत्य कैसे होगी? इन प्रश्नों मे उलझा हुआ वह जयाचार्य के प्रवास-स्थल पर पहुंचा। उसने देखा, नगे पैर घूमने वाला व्यक्ति एक तेजस्वी संन्यासी है। धर्म का शासन राज्यशासन से अधिक शक्तिशाली और अधिक गरिमा-मंडित है। ये रेखाएं इस संन्यासी के धर्मशासन का शास्ता होने की सूचक है, यह वात उससे छिपी नहीं रही।

जयाचार्य के जीवन की पुस्तक का प्रत्येक पृष्ठ हमारे सामने है। इसलिए ज्योतिष के आधार पर उसे समझने की कोई सार्थकता प्रतीत नही होती। पर जिज्ञासा एकमुखी नही होती। हमारी जिज्ञासा का एक कोण यह है कि उनके कर्तृत्व की प्रखरता मे सौर-मंडल ने सहयोग किया या

१. पदो की यात्रा, शब्द-यात्रा।

असहयोग ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए हम जयाचार्य की जन्म-कुंडली और उस पर दो ज्योतिर्विदों का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं—

जन्म-कुंडली

	संवत्	स्थल	आयुमान
जन्म	१८६०	रोयट	गृहस्थ, ९ वर्ष
दीक्षा	१८६९	जयपुर	साधु, १२ वर्ष
अग्रणी	१८८१	पाली	अग्रणी, १२ वर्ष
युवाचार्य पद	१८९४	नाथद्वारा	युवाचार्य, १५ वर्ष
आचार्य पद	१९०८	वीदासर	आचार्य, ३० वर्ष
स्वर्गवास	१९३८	जयपुर	सर्व आयु ७८ वर्ष
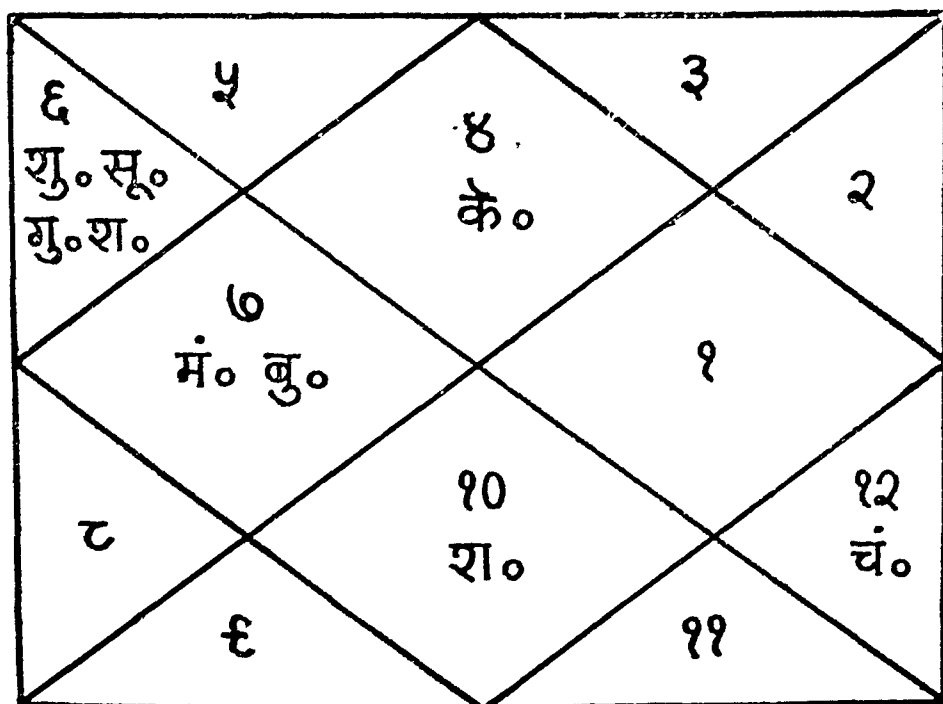
१. ज्योतिर्विद् एम. एस. सीतारामैया

महानता, विशेषतया अध्यात्मिक महानता, ईश्वरीय वरदान है। जन्म-कुंडली के द्वारा व्यक्ति की महानता सहज ही जानी जा सकती है। जैन समाज के महान् आध्यात्मिक नेता श्रीमज्जयाचार्य की जन्म-कुंडली में उनकी महानता का भरपूर दिग्दर्शन होता है। उनकी विद्वत्ता, साहित्यिक प्रतिभा, पैनी तर्क-शक्ति, मानवोचित गुणों का विस्तार तथा आध्यात्मिक

मूल्यों के प्रति उनका समग्र समर्पण-भाव—ये सव तत्त्व उनकी जन्म-कुडली में परिलक्षित होते है।

उनका कर्क लग्न है, जिसका स्वामी चन्द्र है। इसी से वे भारत के अन्य आध्यात्मिक धर्म-गुरुओं रूपी नक्षत्र-मंडल के एक देदीप्यमान् नक्षत्र है। जयाचार्य की भाति आद्य शंकराचार्य, अरविन्द घोष, स्वामी शिवानन्द जैसे सभी महापुरुषो की कुडलियो मे कर्क लग्न है। सभी अध्यात्म-योगियो की कुंडलियों के अध्ययन का यही निष्कर्ष है कि चन्द्र एवं वृहस्पति का संबंध नौवे घर से है जो धर्म और अध्यात्म मे प्रवृत्ति कराता है। जयाचार्य की कुडली में लग्न का स्वामी चन्द्र है। वह नौवे घर मे स्थित है। चन्द्र पूर्णतया वली है, क्योंकि जयाचार्य का जन्म शुक्ल-पक्ष की चतुर्दशी को हुआ था। चन्द्र पर देव-गुरु वृहस्पति की सीधी दृष्टि पड रही है। चन्द्र और वृहस्पति का पारस्परिक संबध भी है तथा वृहस्पति नौवे घर का स्वामी है। जन्म-कुडली मे वृहस्पति और चन्द्र के द्वारा केशरी योग वना हुआ है जो समाज पर नेतृत्व का परिचायक है। नौवे घर मे लग्नेश चन्द्र का होना भी महत्त्व-पूर्ण है। गुरु की दृष्टि पडने से वह और भी वली वन गया है।

चन्द्रमा का संबंध मन से है। चन्द्र पर सूर्य, शनि और शुक्र की भी दृष्टि है। रवि, गुरु, शुक्र और शनि—ये चारों ग्रह कन्या राशि के है। चारों ग्रहों की दृष्टि नौवे घर मे स्थित चन्द्रमा पर पड़ने से पाचों का सबध हो गया है। घर का स्वामी या दृष्टि या स्थान—इन संबंधो में से एक संबध बुध के साथ भी हो जाता है, क्योंकि कन्या राशि का स्वामी बुध है। चन्द्रमा का संबंध मन से, बुध का बुद्धि से, सूर्य का आत्मा से, गुरु का ज्ञान से तथा शनि का संबंध ध्यान और अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त स्वानुभव से है। इनके साथ शुक्र का सुन्दर और मृदु योग करे, तो पता चलेगा कि शुक्र दुर्बल है, परन्तु वह दुर्बलता बुध के कारण नही रहती, जो कन्या का स्वामी है तथा लग्न से चतुर्थ स्थान केन्द्र में स्थित है। इस प्रकार शुक्र भी नौवें घर पर शुभ दृष्टि डाले हुए है। इन्ही ग्रह-योगो के प्रताप से जयाचार्य ने आत्मा का साक्षात्कार किया और अपने विशाल ज्ञान का उपयोग किया जो अनुभवों द्वारा उपार्जित, बुद्धि के द्वारा परिष्कृत और काव्य-शक्ति द्वारा अनुप्राणित था। वे आदर्श और ध्येय की व्याख्या करने मे कुशल थे।

आध्यात्मिक ज्ञान का द्योतक केतु लग्न मे स्थित है। इससे सिद्ध होता है कि जातक न केवल दूर-दृष्टि-सम्पन्न है, अपितु सम्यक् ज्ञान के मूल तक

पहुंचने में समर्थ एवं विश्लेषणात्मक वुद्धि से समन्वित है। लग्न में केतु होने का अर्थ है ज्ञान-भण्डार के विश्लेपण तथा मानवता के उद्देश्यों एवं आकांक्षाओं को मूर्तरूप देने की क्षमता। ऐसा व्यक्ति छोटा या वड़ा कोई भी कार्य सुन्दरता से कर सकता है, चाहे वह व्याकरण की विधि हो अथवा ऋपि-मुनियों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का समन्वयीकरण हो। केतु मोक्ष कारक है, अतः यह उचित ही है कि जातक द्वारा रचित साहित्य उदात्त ग्रौर शाश्वत आनन्द की वृष्टि करे।

देखा गया है कि आद्य शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, स्वामी शिवानन्द प्रभृति विख्यात आध्यात्मिक विभूतियों की कुण्डलियों में रवि और शुक्र, शनि और चन्द्र तथा गुरु और चन्द्र का अपूर्व योग है। ऐसे सभी व्यक्ति महान् लेखक तथा धर्मोपदेष्टा थे। उनके द्वारा रचित साहित्य ने काल की सीमा का अतिक्रमण किया है। जयाचार्य भी उन्ही की भाति एक महान् लेखक ओर धर्मोपदेष्टा है और उनके साहित्य ने काल की सीमा लांघ दी है। उनकी रचनाएं अव भी उतनी ही नवीन और प्रेरणादायक है जितनी कि रचना-काल के समय थी। कुण्डली का तृतीय घर साहित्यिक कृतियों तथा जन-कार्यो से सम्वन्धित है और छह ग्रह इसको प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि उनकी लेखनी विभिन्न विपयों में चली है। मूल मे उनकी व्याकरण की रचनाएं है, जिनके पश्चात् उन्होंने क्रम-क्रम करके धर्म संघ का संविधान, प्राचीन रचनाओ का समन्वय, विवादास्पद समस्याओ का युक्तियुक्त समाधान तथा अति मनमोहक काव्य में आचार सम्वन्धी आत्मान्वेषी नियमों की रचना करके साहित्य में अभिवृद्धि की।

इस कुण्डली मे शुभ योग भी विद्यमान हैं। पञ्चम घर का स्वामी मंगल चतुर्थ घर में है और इससे केन्द्र कोण योग वनता है, जो प्रतिष्ठा और भाग्योदय का सूचक है। कई आध्यात्मिक महापुरुपों की कुण्डलियों में मंगल या तो चतुर्थ स्थान पर है या चतुर्थ पर दृष्टि डाल रहा है। पूर्व लेखानुसार चन्द्र और गुरु की पारस्परिक दृष्टि होने से केशरी योग वनता है। नौवें घर के स्वामी गुरु की नौवे घर पर दृष्टि तथा दसवे घर के स्वामी मंगल की स्वयं के दसवे घर पर दृष्टि से नौवें तथा दसवे घरों को वल मिलता है। नौवाँ घर धर्म और पूर्व पुण्यो का है और वली है। इसी भांति दसवां घर कर्म और क्रिया का है और वली है। अतः कोई आश्चर्य नही है कि जयाचार्य की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ उनके जीवन काल में ही क्रियान्वित होने लग गईं।

वारहवें और तीसरे घर के स्वामी बुध की चौथे घर मे स्थिति है और ग्यारहवें घर के स्वामी शुक्र के दुर्बल होने से जातक ने गृह एवं सम्पत्ति का त्याग किया है। सातवे स्थान में राहु की स्थिति के वावजूद सप्तम घर के स्वामी शनि का नीच शुक्र से योग तथा सप्तम घर पर मंगल और गुरु की दृष्टि संन्यासमय जीवन का द्योतक है।

चन्द्र की स्थिति से ज्ञात होता है कि जयाचार्य ने वचपन से क्रमश शनि, बुध, केतु, शुक्र, सूर्य और चन्द्र की विंशोत्तरी दशाएं भोगी। वर्ष-तालिका से पता चलता है कि ये सारी तिथियां लग्न तथा तीसरे घर से सम्वन्धित है। दशाओ का यह परस्पर-सम्वन्ध वताता है कि जयाचार्य द्वारा मानवता के प्रति की गई नि:स्वार्थ आध्यात्मिक सेवाओ मे कभी कोई व्यवधान उपस्थित नही हुआ।

भारत में अनादि काल से ज्योतिष शास्त्र के द्वारा जातक के जन्म-समय का उसके भाग्य से अटूट सम्वन्ध वताया जाता रहा है।

महान् सन्त श्रीमज्जयाचार्य को हमारा शत शत प्रणाम।

२. विष्णुदत्त शर्मा शास्त्री

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, मेरठ

सूर्यफलम्—

विक्रान्तो वलयुक्तो विनष्टसहज: तृतीयगे सूर्ये।
लोके मनोऽभिराम. प्राज्ञो जितदुष्टपक्षश्च॥

[कल्यान वर्मा]

यह व्यक्ति पराक्रमी, वलवान्, परिवारहीन, सर्वजनप्रिय, सुन्दर और प्राज्ञ होगा तथा अपने पक्ष के विरोध मे चलने वाले दुष्टो को जीतने वाला होगा।

चन्द्रफलम्

धर्मे चन्द्रे चारु कान्ति: स्वधर्मनिरत: सदा।
वीतरोग: सतां श्लाघ्य: पापहीनश्च जायते॥

['काशीनाथ']

यह मनुष्य सुन्दर, स्वधर्म परायण, नीरोग, सज्जनमान्य और निष्पाप होगा। **पाश्चात्यमत**—धर्म और शास्त्रो का प्रेमी, अध्यात्मज्ञानी, योगी, कल्पनाशक्ति से युक्त, स्थिरचित्त और तेजस्वी होगा।

भौमफलम्

'भौमे वन्धुमते तु वन्धुरहितः स्त्रीनिर्जितः शौर्यवान् ।'

[वैद्यनाथ]

यह व्यक्ति परिवार रहित, स्त्रीजित् और पराक्रमी होगा ।

बुधफलम्—

चतुर्थे यस्य ज्ञ प्रवरजन मैत्री क्षितितले-
ऽधिकारोऽपि द्वारे भवति वसुधा भर्तुरिमतः ।।

इस मनुष्य की मैत्री संसार के श्रेष्ठ मनुष्यो से होगी। इसे राज दरवार में भी सम्मान प्राप्त होगा ।

गुरुफलम्—

जीवे तृतीये तेजस्वी कर्मदक्षो जितेन्द्रियः ।
मित्राप्तसुखसम्पन्नस्तीर्थवार्ताप्रियो भवेत् ।।

[काशीनाथ]

यह तेजस्वी, कार्य करने मे चतुर, जितेन्द्रिय, मित्र तथा आप्त जनों के सुखो से सम्पन्न और तीर्थयात्रा करने वाला होगा ।

शुक्रफलम्—

विदारसुखं संपदं उदासीनमप्रियं भोगं च ।

यह स्त्री-सुख तथा सम्पत्ति से रहित होगा, उदासीन तथा ऐश्वर्य के प्रति अनासक्त होगा ।

शनिफलम्—

छायात्मजे तृतीयस्थे, प्रसन्नो गुणवत्सलः ।
शत्रुमर्दी नृणां मान्यो, धनी शूरश्च जायते ।।

[काशीनाथ]

यह प्रसन्नचित्त, गुणों का प्यारा, शत्रु-विजेता, लोगों मे आदरणीय, धनी और शूरवीर होता है ।

राहुफलम्—

पाश्चात्य मत—गृहस्थी से असन्तोप रहता है ।

केतुफलम्—

यवनमत—शरीर कृश होता है, और रोग से पीडित रहता है ।

१२

मातृऋण से उऋण

कल्लू जी तपस्विनी साध्वी थी। समूचे धर्मसंघ मे उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव था। उनके तीन पुत्र दीक्षित थे। वे तीनो ही अपनी-अपनी विशेषता के कारण संघाकाश मे चमकते सितारे थे। अपने शक्ति-शाली पुत्रो के कारण नही, अपनी साधना के वलपर ही उन्होने संघ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। सं० १८८६ का चातुर्मास संपन्न कर मुनि जीतमल ने आचार्यवर ऋषिराय के दर्शन किए। आचार्यवर ने खेरवे मे साध्वी कल्लूजी को दर्शन दिए। साध्वी श्री कल्लूजी के तीनो पुत्र मुनि सरूपचन्दजी, मुनि भीमराजजी और मुनि जीतमल, वहा उपस्थित थे। उस समय साध्वी श्री कल्लूजी ने संलेखना (तपस्या द्वारा समाधि-मरण की तैयारी) की आज्ञा मागी। आचार्यवर ने कहा—'अभी तुम्हारी शक्ति अच्छी है, अभी संलेखना क्यो ? अभी इसकी उतावल क्या है ? साध्वी श्री ने विनम्रस्वर मे कहा—'गुरुदेव ! मेरे मन मे इसकी भावना जाग गई है। तपस्या से मुझे प्रेम है। खाने की अपेक्षा मुझे न खाना ज्यादा अच्छा लगता है। आप कृपा कर मुझे इसकी स्वीकृति दे।' अत्यन्त आग्रह के साथ उन्होने आचार्यवर से संलेखना की स्वीकृति प्राप्त कर ली। मुनि जीतमल उनके पास तत्वज्ञान की चर्चा करते। उससे उन्हे वड़े आनन्द का अनुभव हुआ। आचार्यवर ने पचीस दिन ठहर वहा से थली प्रदेश की ओर विहार कर दिया। मुनि सरूपचन्दजी और मुनि जीतमल आचार्यवर के साथ ही विहार कर गये। मुनि भीमराजजी को मातुश्री के पास रखा।

साध्वी श्री कल्लूजी पहले ही वहुत तपस्या कर चुकी थी। संलेखना

के आराधना-काल में उनका तपस्या-क्रम निम्न प्रकार चला—

१. एक मास तक अवमोदरी—अल्प आहार।

२. पन्द्रह दिन तक एकान्तर—एक दिन उपवास और एक दिन आहार।

३. दो सौ दिन मे पचास तेले—तीन-तीन दिन के उपवास और वीच-वीच में एक दिन आहार।

४. पारणा के दिन आहार की मात्रा अति अल्प।

५. तीन दिन का उपवास।

६. ग्यारह दिन का उपवास।

७. आठ दिन का उपवास।

८. गर्म छाछ के ऊपर का पानी पी तीन दिन का उपवास।

९. तीन मास तक एकांतर—एक दिन उपवास और एक दिन आहार।

१०. वहुत दिनों तक फिर अवमोदरी—अल्प आहार।

इस संलेखना की आराधना से उनका शरीर कृश हो गया। सं० १८८७ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी के दिन के अन्तिम पहर में उन्हे अनशन स्वीकार कराया गया। वे लगभग एक पहर अनशन की अवस्था में रही उसी अवस्था मे उनका महाप्रयाण हो गया। साढ़े सतरह वर्ष तक संयम की साधना कर वे विदेह हो गई।[1] एक महान् पुत्र की महान् माता का जीवन शौर्य और पराक्रम से भरा था। उन्होंने अपने पति के देहावसान के वाद पुत्रो की पालना में भी पराक्रम का परिचय दिया। दीक्षित हो जाने पर साधना के क्षेत्र में भी उनका जीवन सदा ज्योति की भांति प्रज्वलित रहा। वे अपने महान् पुत्र के आचार्यपदाभिषेक का क्षण नही देख सकी। पर वे अपने पुत्र के कर्तृत्व की प्रतिमा का साक्षात्कार कर चुकी थी। उनसे कैसे छिपा रहा होगा अपने प्रिय पुत्र का भविष्य! वह साध्वी कोई सामान्य साध्वी नही थी। वह थी एक विशिष्ट साधना में रत तपस्विनी साध्वी!

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. ७४-७५ [जयसुजश ढा० १३]

१३

युवाचार्यपद पर मनोनयन

तेरापंथ धर्मसंघ मे आचार्य का चुनाव नही होता। आचार्य अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन करते है। आचार्य द्वारा मनोनीत व्यक्ति समूचे संघ को मान्य होता है। यह पद्धति सविधान और परम्परा दोनो द्वारा समर्पित है। यह भावधारा धर्मसघ की रग-रग मे रक्तधारा की भाति प्रवाहित है। मुनि जीतमल तेरह वर्ष तक अग्रणी अवस्था मे रहे। इस अवस्था मे उनके कर्तृत्व की प्रतिध्वनि आचार्यवर ऋषिराय के कानों में गूजती रही। उनका वौद्धिक वैभव और वक्तृत्व समूचे संघ को आकर्षित करता रहा। लाड़नू से वीकानेर तक की जनता को उन्होने संवोधि दी। जयपुर, अजमेर, किशनगढ़ आदि अनेक क्षेत्रो, मेवाड और मारवाड में उनका प्रभाव एकछत्र हो गया। मालवा और गुजरात मे उनकी यशोगाथा गाई जाने लगी। वे जहा गये वही उन्होने अपनी छाप छोडी।[1] आचार्यवर ऋषिराय मुनि जीतमल की क्षमता का अंकन कर रहे थे। उचित समय आने पर उन्होंने मुनिवर का अपने उत्तराधिकारी के रूप मे मनोनयन किया। उस समय आचार्यवर नाथद्वारा (मेवाड) मे विराज रहे थे। सं० १८९४ आषाढ़ मास। आचार्यवर ने उत्तराधिकारी के मनोनयन का पत्र लिख मुनि सरूपचन्दजी को सौप दिया। आचार्यवर ने उन्हे निर्देश दिया, अभी इसे गुप्त रखना है। चातुर्मास समाप्त होने पर जव जीतमल यहा आएगा तभी उत्तराधिकारी के मनोनयन की वात को प्रगट करेंगे।

उस समय मुनि जीतमल थली प्रदेश से विहार कर आषाढ़ मास मे

---

१. ते आ ख. २ पृ. ६६-६२ [जयसुजश ढा० ९-२२]

पाली पहुंचे। आचार्यवर ने चातुर्मास नाथद्वारा में विताया, मुनिवर ने पाली में। दोनों में क्षेत्रीय दूरी थी, पर अंतःकरण की दूरी नही थी। मुनि जीतमल युवाचार्य वन गये पर उन्हें इसका पता नही था। वे अभी मुनि अवस्था मे ही चल रहे थे। यह एक निदर्शन है वास्तविक और व्यवहारिक जगत् के घटनाक्रम का। चातुर्मास सम्पन्न हुआ। मुनि जीतमल पाली से प्रस्थान कर फलोदी पहुंचे। वहां से खीचन आए।

आचार्यवर ने मेवाड़ से दो साधुओं को मुनि जीतमल के पास भेजा। दो पत्र लिख कर उन्हें दिये, एक छोटा और दूसरा वडा। आचार्यवर ने कहा—'छोटा पत्र पढ़ने की तुम्हें आज्ञा नहीं है। यह पत्र केवल जीतमल ही पढ़ेगा। तुम यहां से मारवाड़ जाओ और ये दोनों पत्र जीतमल को सौंप देना।' दोनों मुनि आचार्यवर की आज्ञा शिरोधार्य कर वहां से चले, कुछ ही दिनों मे वे मारवाड़ में प्रवेश कर खीचन में मुनि जीतमल के पास पहुंच गये। मुनिवर को उनके आकस्मिक आगमन पर वड़ा आश्चर्य हुआ। मुनिद्वय ने आचार्यवर का मौखिक संदेश सुनाया—'आचार्यवर ने आपके स्वास्थ्य की मंगल-कामना की है। आज से आपको समुच्चय की पांति (आहार के संविभाग) से मुक्त किया है। आचार्यवर के ये दो पत्र प्रस्तुत हैं। आप इन्हें स्वीकार कर हमें कृतार्थ करें। यह छोटा पत्र केवल आपके लिए है और वड़े पत्र को सव पढ़ सकते हैं। मुनि जीतमल ने छोटा पत्र पढ़ा। वह उनके मनोनयन का पत्र था। आचार्यवर ने अपने हाथ से लिखा था—

ॐ नमो सिद्धम्

भिक्षु भारीमाल त्यांको शरणं। ऋषि भिक्षु पाट भारीमाल ऋषिराय पाट ऋषि जीतमल जुगराज पद स्थापनं। विनैवंत ऋषिराय नी आज्ञा परमाणे चालसी जीवै जितरै। घणा हरख स्यूं, स्वमत थी ए काम कीधो, वीजा नों जश इण में छै नही।

(अनुवाद) भिक्षु भारीमल, उनकी शरण। ऋषि भिक्षु के पट्ट पर भारीमाल, ऋषिराय के पट्ट पर जीतमल की युवराज पद पर स्थापना, विनयवान ऋषिराय की आज्ञा के अनुसार चलेगा जीवन पर्यंत। वहुत हर्ष से और अपने मन से (या अपनी मति से) यह कार्य मैंने किया है। कोई दूसरा इस कार्य में यशोभागी नहीं है।

इस पत्र को पढ़ने के वाद मुनि जीतमल की मुद्रा गम्भीर हो गई। वे दो क्षण के लिए स्तब्ध से रहे। उनका मानस इस आकस्मिक उपलब्ध दायित्व की एषणा में लग गया।

वड़े पत्र में लिखा था—ऋषि जीतमल से सुख-प्रश्न विदित हो। तुम पर मेरा वहुत ध्यान है, दिन-दिन प्रेम वढ रहा है। तुम वहुत प्रसन्न रहना। यहां शीघ्र आ जाओ। शरीर का यत्न करना। तुम्हारे आने से सव काम अच्छे होगे। अधिक रसायन उत्पन्न होगा। कोई कमी नही रहेगी। तुम्हारी और मेरी भावना एक है। शेप समाचार छोटे पत्र मे है। वह तुम जान लेना। उसे अपने मन में रखना। मूल वात यह है कि तुम्हे शीघ्रातिशीघ्र यहा आना है। विलम्व नही करना है। मुनि सरूपचंद पर मेरी दृष्टि वहुत अनुकूल है। साध्वी दीपांजी तुम से वहुत प्रसन्न है। उनकी वंदना स्वीकार कर लेना। उदयपुर में अच्छा उपकार हुआ है। मेरा यह जिनशासन का भार तुम्हारे कंधों पर है।

मुनिवर ने आचार्यवर के दोनो पत्र पढे। सारी स्थिति ज्ञात हो गई। उन्होने अपने सहवर्ती तीन साधुओ से कहा—तुम धीमे-धीमे आना। हम लोग लम्बे-लम्बे विहार कर आचार्यवर के पास शीघ्र पहुच रहे है। मुनिवर एक साधु को साथ ले आगे वढ गये। आपने एक संकल्प किया—आचार्यवर के दर्शन नही होगे तव तक मार्ग में आने वाले गावो मे एक दिन से अधिक नही रहूंगा। किसी भी गाव में दूसरे दिन न आहार करूंगा और न पानी पीऊंगा। इस संकल्प के साथ आपकी यात्रा शुरू हुई। जोधपुर, पाली होते हुए मेवाड़ पहुचे। नाथद्वारा मे एक रात का प्रवास कर उसके वाहरी भाग में गए। उधर आचार्यवर उदयपुर से विहार कर नाथद्वारा के वाहरी भाग मे पहुंचे। मुनि जीतमल ने वही आचार्यवर के दर्शन किए। उन्होने अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया। आचार्यवर भी वहुत प्रसन्न हुए। सारा वातावरण उत्साह से भर गया। मुनिवर आचार्यवर के साथ फिर नाथद्वारा मे आए। आचार्यवर ने मुनि जीतमल के युवाचार्यपद पर किए गए मनोनयन की घोषणा कर दी।[1] समूचे संघ मे मुनि जीतमल की जय का स्वर गूज उठा। प्रसन्न था आकाश, प्रसन्न थी धरती, प्रसन्न था

१. ते. आ. ख २ पृ. ६२-६५ [जयसुजश, ढा० २२,२३]।

वातावरण। मुनि जीतमल के मनोनयन में कुछ वाधाएं थी। वाधाओं के वादल फट गए। इसलिए प्रसन्न था आकाश। वे सर्वसह थे इसलिए उनके मनोनयन से प्रसन्न थी सर्व संघभूमि। उनकी सृजनात्मक शक्ति और कृतित्व की सुरभि से सुरभित था वातावरण, इसलिए वह भी प्रसन्न था। प्रसन्नता की परिस्थिति में मुनि जीतमल अव युवाचार्यपद पर अभिषिक्त हो गए।

युवाचार्यपद की कसौटी—

आचार्य अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन करते हैं, यह कोई आकस्मिक घटना नही है। वे मनोनीत किये जाने वाले व्यक्ति का दीर्घ-काल तक परीक्षण करते है, उसे विभिन्न कसौटियो से कसते है। ऋषिराय ने अपने युवाचार्य को जिन कसौटियों से कसा था, वे ये है :—[1]

१. विनय और अनुशासन।
२. गण के प्रति वात्सल्य।
३. आचार-कुशलता, संयम-कुशलता।
४. प्रवचन की योग्यता।
५. गण के सचालन मे निपुणता।
६. आवश्यक साधन-सामग्री के संकलन की क्षमता।
७. आचरणात्मक और क्रियात्मक क्षमता।
८ धैर्य।
९. पराक्रम।
१०. गम्भीरता।
११. गण के प्रति समर्पण।

गण-संचालन की क्षमता हर किसी में नही होती। उसके लिए विशेष योग्यता की अपेक्षा होती है। आगम साहित्य में उसकी छह कसौटियां वत-लाई गई है। गण का संचालन वही कर सकता है जो श्रद्धाशील होता है, सत्यवादी होता है, मेधावी होता है, वहुश्रुत होता है, शक्तिशाली होता है,

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. ९२ [जयसुजश, २५।८-१०]।

कलहरहित होता है।[1]

आचार्यवर ने इन आगमिक मानको का उपयोग कर मुनि जीतमल को युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त कर दिया। आचार्यवर ने मुनि जीतमल का मनोनयन उनके परोक्ष में किया। इस मनोनयन की सवसे पहले जानकारी मुनि सरूपचंद को हुई, मुनि जीतमल को वाद मे हुई। वे पाच-छह मास तक अज्ञात अवस्था में युवाचार्य रहे। अज्ञात के ज्ञात हो जाने पर संघ को एक आश्वासन मिला। कुछ व्यक्ति अन्यमनस्कता और संदेह को लिए हुए भी थे। कुछ लोग चाहते थे कि मुनि जीतमल को आचार्य पद न मिले, वह किसी दूसरे को मिले। कुछ व्यक्ति इस संदेह मे थे कि इतने वड़े-वड़े साधुओं पर मुनि जीतमल कैसे अनुशासन कर पाएंगे ? इन दोनो प्रतिक्रियाओं के साथ नियति जुड़ी हुई नही थी। उस नियति ने आचार्यवर ऋषिराय को आश्वस्त किया और मुनि जीतमल के भविष्य में शासन के विकास का प्रतिविव देखा।

---

१ ठाण ६।१ : छहिं ठाणेहिं सपण्णे अणगारे अरिहति गण धारित्तए, त जहा—सड्ढी पुरिसजाते, सच्चे 'पुरिसजाते, मेहावी पुरिसजाते, वहुस्सुते पुरिसजाते, सत्तिम, अप्पाधिकरणे।

१४

आचार्यपद का अभिषेक

जयाचार्य पन्द्रह वप तक युवाचार्य अवस्था में रहे। इस अवधि मे वे ऋपिराय के साथ वहुत कम रहे। उन्होंने स्वतन्त्र विहार कर अनेक जनपदों को प्रतिवुद्ध किया। थली प्रदेश (तत्कालीन वीकानेर राज्य) में उनकी प्रेरणा से धर्म की व्यापक चेतना जागृत हुई। आचार्यवर ऋपिराय ने सं० १९०८ का चातुर्मासिक प्रवास उदयपुर में किया। चातुर्मास सम्पन्न होने पर आचार्यवर जनपद विहार करते-करते छोटी रावलियां पहुंचे। उन्हे कभी-कभी श्वास का प्रकोप हो जाता था। माघ कृष्णा चतुर्दशी का दिन। आचार्यवर ने सध्याकालीन प्रतिक्रमण वैठे-वैठे किया। उनके शरीर मे कोई विशेप व्याधि नही थी, कोई विशेप उपद्रव नही था। सामान्य था स्वास्थ्य और शान्त था मानस। आयुष्य की समाप्ति ही उनके अवसान का कारण वनी। प्रतिक्रमण के पश्चात् सोने की इच्छा हुई। उन्होने साधुओं से कहा—प्रमार्जनी लाओ। साधुओ ने वह प्रस्तुत कर दी। स्थान का प्रमार्जन कर वे लेट गए। लेटते ही पसीने से भीग गए, श्वास का प्रकोप वढ़ गया। उन्होंने कहा—अव तक सोने पर श्वास का प्रकोप नही होता था। आज यह पहली वार हुआ है। वे तत्काल वैठ गए। कुछ साधु उनके पीछे सहारा दिये वैठे थे। वैठे-वैठे वे महाप्रयाण कर गए। सं० १९०८ माघ कृष्णा चतुर्दशी, एक मुहूर्त रात्री के लगभग।[1] आचार्यवर का महाप्रयाण, युवाचार्य की अनुपस्थिति। आचार्यवर मेवाड़ में थे, युवाचार्य थली प्रदेश में। माघ के कृष्णपक्ष में युवाचार्यवर वीदासर में विराज रहे थे। माघ शुक्ला अष्टमी के दिन एक पत्र आया। उसमें समाचार था—

१ ते. आ. खं २, पृ. ४५-४६ [ऋपिरायचरित ढा० १३]।

आचार्यवर ऋषिराय का माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन स्वर्गवास हो गया। आचार्यवर के स्वर्गवास का समाचार युवाचार्य को दस दिन के वाद मिला। सीमित संचार-साधनो की परिस्थिति मे इसे आश्चर्य नही कहा जा सकता।

आचार्यवर के स्वर्गवास का सवाद सुन युवाचार्य को मानसिक आघात जैसा लगा। उन्होने उस घटना को दृढ़ता के साथ सहा। उस सवेदना के अवसर पर युवाचार्य ने उपवास किया और आचार्यवर के प्रति श्रद्धासिक्त भावांजली समर्पित की। अव युवाचार्य सहज ही आचार्य हो गए। फिर भी औपचारिकता पूर्वक आचार्यपद पर आसीन होना अभी शेष था। माघ शुक्ला पूर्णिमा, वृहस्पतिवार, पुष्य नक्षत्र, विष्टिकरण, शुभ मुहूर्त और शुभ वेला मे चतुर्विध तीर्थ के समक्ष युवाचार्य आचार्यपद पर विराजमान हुए। उस समय साधु-साध्वियो ने उनका अभिनन्दन किया।

'जय जय नद ! जय जय भद्र ! भद्रं ते।
अजित पर विजय पाएं, विजित की रक्षा करे।'

इस अभिनंदन पदावली का स्वर गूज उठा। जन-जन का मन उत्साहित हो गया। वीदासर के राजा भी उस पदारोहण समारोह मे उपस्थित थे। यह पदारोहण एक धर्माचार्य का था, इसलिए इसमे त्याग-वैराग्य के विकास का उपक्रम भी चला। मुनि रामजी ने जीवन-पर्यत बेले-बेले की तपस्या (दो दिन का उपवास और तीसरे दिन आहार, फिर दो दिन का उपवास और तीसरे दिन आहार) का सकल्प लिया। अन्य लोगो ने भी नाना प्रकार के त्याग किए। आचार्यवर उस दिन अनेक घरो मे स्वय गोचरी (आहार और वस्त्र लाने के लिए) गये। इससे जनता मे प्रसन्नता की लहर दौड गई।[1] जयाचार्य आचार्यपद पर आसीन हुए उस समय उनके पास साधु-साध्वियो के वर्ग कम थे। वे आचार्यवर ऋषिराय के पास पहुंचे हुए थे। वे ऋषिराय के स्वर्गवास के वाद जयाचार्य के पास नही पहुंच पाए, उससे पहले ही युवाचार्य का आचार्य पदारोहण अभिषेक सम्पन्न हो गया। आचार्यवर वीदासर से विहार कर लाडणू पहुचे। वहा मेवाड़ से आने वाले साधु-साध्वियो के वर्गो ने आचार्यवर के दर्शन किए। वहा साधुओं की संख्या चालीस और साध्वियो की संख्या चवांलीस हो गई।[2] आने वाले साधुओ ने

१. ते. आ. ख २, पृ. ११७-११८ [जयसुजश ३५।१-६]
२. ते. आ. ख. २, पृ. ११९ [जयसुजश ३६।दो.१-३]

असंतोष की भाषा में कहा—'आप हमारे आने से पहले ही पदासीन हो गये। हमारे मन की बात मन में रह गई।' आचार्यवर ने कहा—'तुम लोग होते तो क्या करते ?' साधु बोले—'हम पट्टोत्सव मनाते, अभिनंदन करते, नई चादर ओढाते।' आचार्यवर ने मुस्कराते हुए कहा—'ये सब तुम अब भी कर सकते हो। बात संपन्न हो गई। शोभाचन्दजी बेंगानी ने प्रार्थना की—आचार्यप्रवर ! एक बार फिर बीदासर पधारें और वहां कोई बड़ा आयोजन करें। वे बड़े शासन-भक्त और समर्थ व्यक्ति थे। आचार्यवर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर सुजानगढ़ से बीदासर पधारे। वहां मेवाड़ से आए हुए साधु-साध्वियों ने पट्टोत्सव मनाया।

कुछ साधु सोचते थे—जयाचार्य का पदारोहण हमारी कुछ शर्त्तों को स्वीकारने के बाद ही हो सकेगा। किन्तु दूरदर्शी और नीतिज्ञ शास्ता ने ऐसा अवसर ही नहीं दिया। वे इस प्रकार के चिन्तन से अनभिज्ञ नहीं थे। उनकी अभिज्ञता और विज्ञता ने सूझ-बूझ से काम लिया। शर्त्त मनवाने की बात सोचने वाले साधुओं के आगमन से पूर्व ही पदारोहण-विधि संपन्न हो गई। इसके साथ उनके मानसिक स्वप्न भी संपन्न हो गए। जयाचार्य शर्तों के बारे में जानते थे। वे शर्त्तें संघ की एकता के लिए हितकर नहीं थीं। आचार्यवर का ध्यान उन शर्त्तों में नहीं उलझा। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति संघ के विकास की दिशा में लगा दी।

१५
संघ-विकास के सूत्र

जयाचार्य ने संघके विकासके लिए वहुतप्रयत्न किया। उनमे प्रतिभा औरकार्यक्षमता दोनो गुणविद्यमान थे। उनमें ध्यान-वलऔर मनोवल दोनो थे। इसलिए वे सघ-विकास के लिए निरंतर जागरूक रहे। सघ का विकास वही कर सकता है :—

(१) जो अश्रुत धर्मों को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए जागरूक रहता है।

(२) जो सुने हुए धर्मों के मानसिक ग्रहण और उनकी स्थिर स्मृति के लिए जागरूक रहता है।

(३) जो संयम के द्वारा नए कर्मों का निरोध करने के लिए जागरूक रहता है।

(४) जो तपस्या के द्वारा पुराने कर्मो का विवेचन और विशोधन करने के लिए जागरूक रहता है।

(५) जो असंगृहीत शिष्यों को आश्रय देने के लिए जागरूक रहता है।

(६) जो नवदीक्षित मुनि को आचार का सम्यग् वोध कराने के लिए जागरूक रहता है।

(७) जो ग्लान की अग्लानभावसे सेवा करने के लिए जागरूक रहता है।

(८) जो साधर्मिकों मे परस्पर कलह उत्पन्न होने पर ये मेरे साधर्मिक किस प्रकार अपशव्द, कलह और तू-तू मैं-मैं से मुक्तहो—ऐसा चिंतन करते हुए लिप्सा और अपेक्षा रहित होकर, किसी का पक्ष न लेकर, मध्यस्थभाव को स्वीकार कर, उसे उपशांत करने के लिए जागरूक रहता है।[1]

---

१ ठाण, ८।१११।

संघ की अनेकपरम्पराएँ होती है, उसके विधि-विधान होते हैं। उनके प्रति उपेक्षा नही बरती जाती तभी संघ फूलता-फलता है। उसी आचार्य के नेतृत्व मे संघ फूलता-फलता है :—

(१) जो संघ में आज्ञा व धारणा का सम्यक् प्रयोग करता है।

(२) जो संघमें छोटे-बड़े के क्रमसे वन्दना का सम्यक् प्रयोग करता है।

(३) जो जिन सूत्र-पर्यायों को धारण करता है उनकी उचित समय पर संघ को सम्यक् वाचना देता है।

(४) जो संघ के ग्लान तथा नवदीक्षित साधुओं की यथोचित सेवा के लिए सतत जागरूक रहता है।

(५) जो संघ को पूछकर अन्य प्रदेश में विहार करता है।

(६) जो संघ के लिए अनुपलब्ध उपकरणों को यथाविधि उपलब्ध करता है।

(७) जो संघ मे प्राप्त उपकरणों का सम्यक् प्रकार से संरक्षण तथा संगोपन करता है, विधिका अतिक्रमणकरसंरक्षणऔरसंगोपन नही करता।[1]

जयाचार्य ने संघ-विकास के सूत्रों को क्रियान्वित किया था, इसलिए वे संघ को प्रगति की दिशा में ले जा सके। प्रगति के पथ पर चलना सहज-सरल नही होता। उसके लिए संपन्नता आवश्यक होती है। आचार्य के लिए आठ प्रकार की संपन्नता उपेक्षित है :—

(१) आचारसंपदा—संयम की समृद्धि।

(२) श्रुतसंपदा—श्रुत की समृद्धि।

(३) शरीरसंपदा—शरीर-सौन्दर्य।

(४) वचनसंपदा—वचन-कौशल।

(५) वाचनासंपदा—अध्यापन-पटुता।

(६) मतिसंपदा—बुद्धि-कौशल।

(७) प्रयोगसंपदा—वाद-कौशल।

(८) संग्रहपरिज्ञा—संघ-व्यवस्था में निपुणता।[2]

जयाचार्य शारीरिक सौन्दर्य से अधिक संपन्न नही रहे होंगे, किन्तु उनका आन्तरिक सौन्दर्य अनुपम था। उनकी संपन्नता की तुलना में कोई खड़ा रह सके वैसा व्यक्ति खोजने पर कठिनाई से मिलेगा।

१. ठाण ७।६
२. ठाणं ८।१५

१६
अनुशासन

आचार्य के दो परिषदे होती हैं—अतरंग और वाह्य । अंतरंग परिषद् के सदस्य होते है—साधु और साध्वियां । वाह्य परिषद् के सदस्य होते हैं—गृहस्थ । ऋषभदासजी मोदी गृहस्थ थे फिर भी अपनी प्रगाढ श्रद्धा और समर्पण के कारण वे अतरंग परिषद् के सदस्य वन गए थे । जयाचार्य का विशिष्ट अनुग्रह उन्हे उपलब्ध था । एक दिन वातचीत के प्रसंग मे जयाचार्य ने कहा—सव संत ठीक है । वे जैसे ऋषिराय के प्रति व्यवहार करते थे वैसा ही व्यवहार अव मेरे साथ कर रहे है । मोदीजी ने कहा—वहुत अच्छी वात है । गुरुदेव ! पर मै एक कहानी सुनाना चाहता हू । एक जागीरदार के नौकर का नाम था शंभू । वह जागीरदार के मुंह लगा हुआ था । जागीरदार के कपड़ो और गहनो की व्यवस्था उसके जिम्मे थी । वह मौका देख कभी कपड़े और कभी गहने चुरा अपने घर ले जाता । कपड़े और गहने न मिलने पर कहता—उन कपड़ो और गहनो को चूहे ले गए । जागीरदार जानता था उसकी दुर्बलता को, पर वह था मुहलगा और कृपापात्र । इसलिए वात आगे नही वढती, वही समाप्त हो जाती । जागीरदार बूढा था । एक दिन वह वीमार हो गया । उसे अपना महाप्रयाण सामने दीखने लगा । उसने शंभू से कहा—अव मेरा पुत्र पदमसिंह गद्दी वैठेगा । उसका स्वभाव वड़ा तेज है । अव तू अपने चूहो को समझा देना, अन्यथा वह छठी का खाया हुआ निकाल लेगा । शंभू की आदत वदल गई । वह साहूकार हो गया ।

मोदीजी ने कहा—आपका अनुशासन वहुत प्रभावी है । कोई शंभू था वह भी वदल गया है ।[1]

---

१. ते. आ ख २, पृ. १२८ [जयसुजश, अन्तर्गत ४०।१-३] ।

जयाचार्य अनुशासन के पक्ष में सदा सतर्क रहे। यह सतर्कता कठोरता या कोमलता से परे का तत्त्व है। कठोरता के पीछे कष्ट देने की नीति होती है। सतर्कता के पीछे केवल व्यवस्था वनाए रखने की नीति होती है।

सं० १६३८ की घटना है। जयाचार्य जयपुर में विराज रहे थे। जीवन का अंतिम वर्ष चल रहा था। संघीय-व्यवस्था का संचालन युवाचार्यश्री कर रहे थे। आचार्यवर का अधिकतम समय स्वाध्याय-ध्यान में ही लग रहा था। सायंकालीन प्रतिक्रमण प्रारंभ हो गया। युवाचार्यश्री आचार्यवर के पास ही वैठे थे। एक साधु [जुहारजी] शौचार्थ वाहर जंगल में गया था। वह लौटा तव तक कुछ अंधेरा हो गया। युवाचार्यश्री ने कहा—'इतनी देर कैसे की ? सूर्यास्त कव-का हो चुका, जल्दी आना चाहिए ? भविष्य मे ध्यान रखना। आज देरी की उसके लिए पांच कल्याणक (प्रायश्चित्त का एक माप विशेष) स्वीकार करो।'

साधु वोला—'दैहिक आवश्यकता है। देरी हो गई उसका मैं क्या करूं ? मैं प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करूंगा।'

युवाचार्यश्री मौन रहे। जयाचार्य ने ध्यान संपन्न कर उस साधु को वुलाया। 'प्रायश्चित्त स्वीकार नही करोगे, यह निर्णय है तुम्हारा?'—आचार्यवर ने पूछा। 'क्या यह अनुशासन की अवहेलना नहीं है ? तुमने अनुशासन का भंग किया है, इसलिए मैं तुम्हारा संघ से संवंध-विच्छेद करता हूं।' उस साधु ने सोचा नही था कि अनुशासन-भंग का यह परिणाम होगा।

१७

आत्मानुशासन और अनुशासन का समन्वय

महात्मा गांधी ने कहा था—वैयक्तिक स्वतंत्रता को अस्वीकार कर सभ्य समाज का निर्माण नही किया जा सकता। साथ-साथ यह भी कहा—अवाध व्यक्तिवाद वन्य पशुओ का नियम है। स्वतंत्रता और नियत्रण के बीच एक सीमा-सेतु है। व्यक्ति और समाज दोनो की निश्चित मर्यादा है। हम सापेक्षदृष्टि का प्रयोग नही करते इसलिए या तो नितांत स्वतंत्रता के पक्षधर वन जाते है या परतंत्रता के, या तो नितांत व्यक्तिवादी वन जाते है या नितांत समाजवादी। अच्छी व्यवस्था के लिए अपेक्षा है स्वतंत्रता और समाजवाद के समन्वय की। समन्वय नही हो रहा है, यह सचाई है। इसका कारण मानवीय दुर्बलता है। सत्ता पर अधिकार होने के वाद शासक की दृष्टि में नियत्रण का अतिरिक्त मूल्य हो जाता है। सत्ता की पकड़ शिथिल न हो, इस दृष्टि से वैसा करना स्वाभाविक भी है। इस स्थिति में समाजवाद व्यक्तिवाद से प्रभावित हो जाता है, स्वतंत्रता नियत्रण के भार से दव जाती है, स्वतंत्रता और समाजवाद दोनों का समन्वय हो नही पाता।

जयाचार्य इस समन्वय के सफल प्रयोगकार थे। उन्हे वैचारिक स्वतत्रता का पक्ष आचार्य भिक्षु से विरासत मे मिला। समानता पर आधारित व्यवस्थाओ को उन्होने स्वयं विस्तार दिया। आज का तेरापंथ वैचारिक समृद्धि और समत्व-प्रतिष्ठित व्यवस्था—दोनो से संपन्न है।

आत्मानुशासन मर्यादा की मर्यादा है। मनुष्य को अमर्यादा से मर्यादा मे जाना होता है फिर मर्यादा से अमर्यादा मे। मर्यादा एक मध्य विराम है।

मर्यादा की मर्यादा है—चेतना की जागरूकता।

मर्यादा की मर्यादा है—प्रज्ञा, तपस्या और साधना।

मर्यादा की मर्यादा है—सौहार्द, शान्ति, सचाई और संतुलन।

मर्यादा की मर्यादा है—अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, सापेक्षता।

मर्यादा की मर्यादा है—बाहर की आवाज भीतर तक पहुंचे और भीतर को आवाज बाहर आए, व्यवहार और आचरण को प्रभावित करे।

मर्यादा की मर्यादा है—अनुशास्ता तपस्वी है और अनुशासित भी तपस्वी है।

उस समय प्रतिदिन प्रातःकाल मर्यादापत्र का वाचन होता था। गुरुवार (स० १९२६ आश्विन शुक्ला दसमी) के दिन चतुर्विध संघ की उपस्थिति में मर्यादा-पत्र का वाचन हो रहा था। उस समय जयाचार्य ने कहा—इस शासन में बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएं है—

१. एक ही आचार्य के नाम सब शिष्य-शिष्याओं की दीक्षा होगी।

२. सब एक ही आचार्य की आज्ञा में रहेंगे।

३. काम का संविभाग, बोझ का संविभाग, आहार का संविभाग होगा।

एक तो मै आहार की पांती से मुक्त हूं। सरूपचंदजी स्वामी को मैने उससे मुक्त किया है। मघजी मेरे उत्तराधिकारी है, इसलिए वे उससे मुक्त है। साध्वियो मे केवल गुलाबाजी को मैने उससे मुक्त किया है। और किसी को भी मैने उससे मुक्त नही किया है।[1]

मर्यादा सब पर लागू होती है, यह उसकी व्यापकता है। कुछ व्यक्तियों को उनकी विशिष्ट मर्यादाशीलता के कारण अमुक अमुक मर्यादा से मुक्त भी किया जा सकता है। यह मर्यादा का लचीलापन है। मर्यादा व्यापकता और लचीलेपन के कारण अधिक उपयोगी बनती है।

अनुशासन और आत्मानुशासन का समन्वय हर कोई नही कर सकता। वही कर सकता है जो देश-काल को जानता है। वर्तमान परिस्थिति को नही जानने वाला अनुशासन कैसे कर सकता है और आत्मानुशासन को कैसे जगा सकता है? वर्तमान को समझने का अर्थ शाश्वत सत्यो की उपेक्षा

---

१. प्राचीन पत्र, उपदेश पत्र, सख्या ३८।

नही हो सकता । जयाचार्य वड़े सहिष्णु थे । जो क्षमा करना नही जानता वह कैसे अनुशासन कर सकता है और कैसे आत्मानुशासन को जागृत कर सकता है ? अनुशास्ता को समय के साथ वोलना होता है और समय के साथ मौन रहना होता है । जो समय पर मौन रहना नही जानता, वह कैसे अनुशासन कर सकता है और कैसे आत्मानुशासन को जगा सकता है ? अनुशासन और आत्मानुशासन का सूत्र है—अनुशास्ता अपनी क्षमता को जगाए, समता को जगाए और ममता को जगाए ।

१८

अनुशासन के नये आयाम

वीज वोने पर पेड़ होता है, फूल और फल अपने आप हो जाते है। जो माली अनुशासन का वीज वोना जानता है वह अनुशासन के फल को उपलब्ध हो जाता है। जो सीधा अनुशासन लाना चाहता है वह वैसे ही असफल होता है जैसे संतरे का वीज वोए विना कोई संतरा चाहता है। आचार्य भिक्षु अनुशासन का बीज वोने मे वहुत दक्ष थे। उन्होंने अपने साधु-साध्वियों मे साधुत्व और साधु-संघ के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा पैदा की। अनुशासन अपने आप फलित हो गया। श्रद्धा अनुशासन का मूल वीज है।

उन्होंने साधु-साध्वियो को धृति का पाठ पढाया। अनुशासन अपने आप फलित हो गया। धृति अनुशासन का वीज वोने के लिए उर्वरा है।

उन्होने अपने साधु-साध्वियो को कष्ट-सहिष्णुता का सूत्र सिखाया। अनुशासन अपने-आप फलित हो गया। कष्ट-सहिष्णुता शीतल जलधारा है। उसका स्पर्श पा अनुशासन का वीज अंकुरित हो जाता है।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के पदचिन्हों पर चले। उन्होने श्रद्धा, धृति और कष्ट-सहिष्णुता को द्विगुणित करने का प्रयत्न किया, अनुशासन के फल को सुरक्षित रखने के लिए व्यवस्था के वातानुकूलित भवन का निर्माण किया।

मर्यादा-सूत्रो का वाचन

आचार्य भिक्षु ने साधु-संघ के लिए अनेक मर्यादा-पत्र लिखे। जयाचार्य ने उनके आधार पर गण-विशुद्धि करने वाले अठाईस मर्यादा-सूत्रों का

निर्माण किया। उन सूत्रों का वाचन परिषद् के बीच साधु-साध्वियों की हाजरी (उपस्थिति) मे किया जाता था, इसलिए उनका नाम 'गणविशुद्धि-करण' हाजरी रखा गया। मर्यादा-सूत्रों का वाचन एक कार्यक्रम बन गया। सं० १९१० में जयाचार्य रावलियां (मेवाड़) में थे। वहां पौष कृष्णा नवमी के दिन मर्यादा-सूत्रों के वाचन का क्रम प्रारंभ किया गया। प्रात.कालीन व्याख्यान मे सब साधु खड़े होकर उन्हे सुनते।[1] यह क्रम एक मास तक चलता रहा। जयाचार्य ने एक स्वप्न देखा—साधु खड़े-खड़े मर्यादा-सूत्रों को सुनते हैं। परिषद् को दर्शन नही होता। इसलिए सब साधु बैठे-बैठे उन्हें सुने तो अच्छा रहे।[2] वे स्वप्न-शास्त्र, शकुन-शास्त्र और ज्योतिष विद्या के मर्मज्ञ थे। उन्होंने स्वप्न की भाषा को समझा और साधुओं को बैठे-बैठे मर्यादा-सूत्र सुनने का निर्देश दे दिया।

लंबे समय तक प्रतिदिन प्रात.कालीन व्याख्यान में मर्यादा-सूत्रों के वाचन का क्रम चला। जयाचार्य ने देखा, साधु-साध्वियों के अन्तर्मन में अनुशासन, व्यवस्था और संगठन का संस्कार जम गया है, तब उन्होने मर्यादा-सूत्रो का वाचन सप्ताह मे दो बार शुरू कर दिया। कभी-कभी वह पक्ष मे एक बार होता था। इसका अपना महत्त्व स्थापित हो गया। मर्यादा-सूत्रों के वाचन के दिन जनता की उपस्थिति अधिक होती, अन्य संप्रदायों के लोग भी उसे सुनने के लिए बड़े लालायित रहते।[3] साधु-साध्वियो के वर्ग जो आचार्य से अलग विहार करते, उन्हें भी चतुर्दशी के दिन परिषद् मे मर्यादा-सूत्रो के वाचन का निर्देश दिया गया। यह व्यवस्था तेरापंथ संघ को अनुशासित व संगठित रखने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। मर्यादा महोत्सव जैसे अवसर पर जब पांच सौ साधु-साध्विया पंक्तिबद्ध खड़े होकर मर्यादा के संकल्प को दोहराते है, वह दृश्य देखते ही बनता है।

लेखपत्र में हस्ताक्षर

जयाचार्य ने अनुशासन को हृदयंगम कराने के लिए अनेक प्रयोग किए। आज तेरापंथ में अनुशासन सहज है। किन्तु प्रारंभ मे वह ऐसा नही था। बहुत लंबी साधना के बाद वह सहज बना। संघ से बाहर हो जाने

१. ते. आ. ख. २, पृ. १२६ [जयसुजश, ३६।६-८]।
२. ते. आ. ख. २, पृ. १२६ [जयसुजश, ३६।६-१०]।
३. ते. आ. ख. २, पृ. १३८ [जयसुजश, ४४।११]।

वाले साधु कहते--हम तो संकोचवश संघ में रह रहे थे। हम संघ के साधु-साध्वियों को साधु नही मानते थे, अपने आप को भी साधु नहीं मानते थे। साधकों में भी एक प्रकार की विचित्र मनोवृत्ति पल जाती है। वे दूसरों को हीन वताने मे तथा उन्हें हीन वतलाने के लिए अपने आप को भी हीन वतलाने मे रस लेने लग जाते है। जयाचार्य ने इस समस्या को सुलझाने के लिए लेखपत्र मे प्रतिदिन हस्ताक्षर करने की प्रणाली चालू की। साध्वियों में यह समस्या उभरी नही थी। इसलिए लेख-पत्र में हस्ताक्षर करने की अनिवार्यता केवल साधुओ के लिए ही थी। यह लेखपत्र उच्छृंखल मनोवृत्ति वालों के लिए धर्म-संकट वन गया।

गतद्दिवस-वार्ता निवेदन

साधुचर्या के कुछ मौलिक आधार होते है। दिन आते है और चले जाते है। भोजन-पानी साधु के लिए भी आवश्यक होते है। उसके लिए आवश्यकतम होती है जागरूकता। साधु की चर्या है :—

१. चार वार स्वाध्याय करना।

२. स्थान से वाहर जाए तव 'आवश्यक कार्य से जा रहा हूं', इस संकल्प का उच्चारण करना। वापस स्थान पर आए तव 'मैं आवश्यक कार्य से निवृत्त हो चुका हूं', इस संकल्प का उच्चारण करना। गमनागमन की प्रवृत्ति की, तदर्थ कायोत्सर्ग करना।

३. एक पहर रात्रि से पहले न सोना, दिन में न सोना।

४. स्त्रियों और साध्वियों से विना प्रयोजन वातचीत न करना। साध्वियो की चर्या है—पुरुषों और साधुओं से विना प्रयोजन वातचीत न करना।

५. प्रतिदिन लेखपत्र दोहराना।

यह जागरूकता की चर्या है। साधु के लिए इसका अनुशीलन आवश्यक है। स्वाध्याय की विस्मृति हो सकती है। अस्वस्थ-दशा मे दिन में सोना पड़ सकता है। प्रयोजनवश स्त्रियों से, पुरुषों से वातचीत की जा सकती है। प्रयोजनवश चर्या मे होने वाला परिवर्तन आचार्य के ध्यान में रहे, जिससे कि वे अनावश्यक परिवर्तन का नियमन कर सके। इस दृष्टि से गत-दिवस-वार्ता सुनाने की व्यवस्था की गई। पहले दिन जैसी चर्या रहे वैसी दूसरे दिन आचार्य को निवेदित कर देना, इसका सांकेतिक शब्द है 'गतदिवस-वार्त्ता निवेदन'। यह व्यवस्था आज भी चालू है। आहार के पश्चात् आचार्य के टहलने का समय होता है। उस अवधि में यह कार्यक्रम संपन्न हो जाता है।

१९

मर्यादा महोत्सव

उत्सव एक प्रेरणा है प्रगति की ओर प्राण का प्रवाह है जीवन की सरिता मे । जयाचार्य ने तेरापंथ में उत्सवों की स्थापना की । उस समय के कुछ साधुओं ने इसका विरोध किया । उन्होने कहा—'उत्सव मनाना निषिद्ध है । साधु उत्सव नही मना सकते ।' जयाचार्य ने इसका समाधान दिया । उनका कहना था—'साधु गृहस्थ की भाति उत्सव नही मना सकते, किन्तु अपने ढंग से तो मना सकते है । साधु के लिए जो करणीय नही है उसका निषेध हो सकता है पर करणीय का निषेध कैसे हो सकता है ? आचार्य-वंदना का निषेध कैसे हो सकता है ? अनुशासन के अभिवर्धन का निषेध कैसे हो सकता है ?' जयाचार्य का वहुश्रुत और समर्थ व्यक्तित्व शब्द की उलझन से ऊपर था । इसलिए कोरे शब्द की पकड़ उसे प्रभावित नही कर पाई । आचार्य भिक्षु तेरापंथ के प्रवर्तक थे । जयाचार्य के परम इष्ट और परम गुरु । उनका स्वर्गवास भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था । उस दिन आचार्य भिक्षु का चरमोत्सव मनाने की परंपरा का सूत्रपात किया । इसका प्रारभ सभवतः १९१४ की भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ । यह आज भी वड़ी गरिमा के साथ मनाया जाता है ।

जयाचार्य मालवा की यात्रा करते हुए इंदोर पहुचे । सं० १९११ की घटना है । सर्दी का मौसम था । उस समय वहत्तर साधु-साध्वियां आचार्य-वर की सन्निधि मे उपस्थित थे ।[1] आचार्यवर माघ शुक्ला पूर्णिमा को पट्टासीन

---

१. ते. आ. ख. २, पृ १३२ [जयसुजश, ४२।११] ।

हुए थे। कुछ साधुओं के मन में एक कल्पना जागी—पूर्णिमा के दिन आचार्यवर की वंदना की जाए। उन्होंने अपनी भावना आचार्यवर के सामने प्रस्तुत की। उनकी प्रगाढ़ भावना अस्वीकृत नहीं हुई। माघ पूर्णिमा को आचार्य-वंदना का कार्यक्रम रखा गया। वह परंपरा स्थायी हो गई।[1] आज भी वर्तमान आचार्य का पट्टोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है।

माघ का महीना तेरापंथ के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ संघ का पहला मर्यादा पत्र सं० १८३२ मृगसर कृष्णा सप्तमी को लिखा था। बीच-बीच में कई मर्यादा-पत्र लिखे। अंतिम मर्यादा-पत्र उन्होंने सं० १८५९ माघ शुक्ला सप्तमी को लिखा। भारमलजी स्वामी का उसी मास में स्वर्गवास हुआ था। ऋषिराय का पदारोहण और स्वर्गवास—दोनों उसी मास में हुए थे। उसी मास की पूर्णिमा के दिन जयाचार्य का पदारोहण हुआ था। जयाचार्य ने माघ मास और उसकी सप्तमी को मर्यादा महोत्सव के लिए चुना। उनके शब्दों में यह दिन तेरापंथ के लिए मंगलमय है।

माघ शुक्ला सप्तमी के दिन पट्टोत्सव और मर्यादा महोत्सव—दोनों मनाए जाते थे। कुछ वर्षों बाद केवल मर्यादा महोत्सव ही मनाया जाने लगा। उसे मनाने की पद्धति पहले ही शुरू हो गई थी। उसका विधिवत् स्वरूप सं० १९२९ बालोतरा (जिला बाड़मेर) से प्रारंभ हुआ। घटना इस प्रकार घटी—पचपदरा के श्रावकों की प्रार्थना पर जयाचार्य ने पट्टोत्सव वहां मनाने की घोषणा कर दी। बालोतरा के श्रावक उसे अपने यहां मनाने का आग्रह कर रहे थे। घोषणा हो जाने पर भी उनका आग्रह कम नहीं हुआ। वह और अधिक बल पकड़ता गया। तब जयाचार्य ने माघ शुक्ला सप्तमी के दिन मर्यादा महोत्सव बालोतरा में मनाने की घोषणा की। वह कार्यक्रम बहुत सफल रहा। तब उसे वैधानिक रूप मिल गया। अब वह मर्यादा महोत्सव तेरापंथ के संगठन का आधार तत्त्व बना हुआ है। संगठन के आधारभूत तत्त्व होते हैं—

१. संगठन के सदस्यों का सम्मिलन, संगोष्ठी और विचारों का विनिमय।

२. वर्तमान की समस्याओं पर विचार-विमर्श और उनके समाधान की खोज।

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. १३२ [जयसुजश, ४२।१२]।

३. संगठन के नेता द्वारा अनुशासन और व्यवस्था की देखभाल, कमियों का संशोधन और भविष्य के लिए जागरूकता का निर्देश।

४. नेता के प्रति श्रद्धापूर्ण समर्पण।

५. मर्यादाओं या अनुशासन-सूत्रों के प्रति आस्था की व्यंजना और उनका संकल्पपूर्वक पुनरावर्तन।

मर्यादा महोत्सव के साथ ये सभी आधार-तत्त्व जुड़ गए। चातुर्मास की समाप्ति होने पर साधु-साध्वियों के सभी वर्ग आचार्य की दिशा मे प्रस्थान कर देते है। आचार्य के दर्शन कर अपने सहवर्ती साधुओं या साध्वियों तथा पुस्तकों और स्वयं का समर्पण करते है। वर्ग के मुखिया अपनी-अपनी वार्षिकचर्या का लिखित विवरण आचार्य को प्रस्तुत करते है। आचार्य उसका गहराई से अध्ययन कर सारी स्थिति को अपने ध्यान में ले लेते है। प्रत्येक वर्ग को अपने पास बुला, पारस्परिक व्यवहार और आचार-विचार और मर्यादा-पालन के संबध में पूछताछ करते है। खामियो के लिए प्रायश्चित्त देते है और विशेष उपलब्धि के लिए प्रोत्साहन। अध्ययन-अध्यापन की जानकारी लेते है। मर्यादा का यह महान् पर्व वार्षिक महास्नान जैसा होता है। इसमें अतीत की शुद्धि, वर्तमान में भारहीनता और भविष्य के लिए नई पुष्टि मिल जाती है।

इस अवधि में विचार-मंथन का क्रम भी चलता है। जो भी विमर्श-नीय विषय होते है, उस पर विमर्श करने के लिए आचार्य द्वारा वहुश्रुत साधुओं तथा साध्वियो की एक समिति नियुक्त हो जाती है। वह समिति विचार-मंथन से प्राप्त निष्कर्ष आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करती है। आचार्य स्वीकृति योग्य विषय पर अपनी स्वीकृति देकर उसे क्रियान्वित कर देते है और जो स्वीकृति योग्य नही लगता उसे फिर चिंतन के लिए छोड़ देते है।

इस संगम के समय अध्ययन-अध्यापन की प्रेरणा दी जाती है। वक्तृत्व, कविगोष्ठी, समस्यापूर्ति, साहित्यगोष्ठी, प्रेक्षा ध्यान, शिक्षा विषयक अनेक कार्यक्रम आयोजित होते हैं। इस प्रकार यह दो मास का समय विविध आकर्षणों का केन्द्र होता है।

सप्तमी के आसपास एक दिन साधु-साध्वियों की सामूहिक शिक्षा का आयोजन होता है। उसमें आचार्य अलग विहार करने वाले साधु-साध्वियों को विदाई-संबल देते है। अगले वर्ष में करणीय कार्य का निर्देश पाकर सभी

साधु-साध्वियां अपने आप को लाभान्वित अनुभव करती हैं। इसी समय एक मर्यादापत्र के वाचन का कार्यक्रम होता है। उसे 'वड़ी हाजरी' कहते है। मर्यादापत्र वाचन के वाद साधु-साध्वियां दीक्षापर्याय के क्रम से पंक्तिवद्ध खड़े होकर मर्यादा-पालन की शपथ को दोहराते है। वह श्वेत पंक्ति और उसका लयवद्ध घोष सचमुच मनोहारी होता है। माघ शुक्ला सप्तमी के दिन मर्यादा महोत्सव का मुख्य आयोजन होता है। उस दिन आचार्य भिक्षु-स्वामी द्वारा लिखित मर्यादापत्र का वाचन करते है, मर्यादा के महत्त्व को समझाते है तथा साधु-साध्वियां और श्रावक समाज भी मर्यादा के विषय मे अपने भाव प्रगट करते है, संघ और संघपति के प्रति अपनी विनम्र भावांजलि समर्पित करते है। उस दिन आचार्य अलग विहार करने वाले साधु-साध्वियो के वर्गो के चातुर्मासों की घोषणा करते है। अनुशासन और संगठन का नयनाभिराम दृश्य देखते ही वनता है।

तेरापंथ की संघीय व्यवस्था की प्राणप्रतिष्ठा मे जयाचार्य के चिंतन और पराक्रम का महान् अवदान है। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य के दूरदर्शी उपक्रमों से आज हमारा संघ आकार में छोटा होते हुए भी प्रकार में वहुत वड़ा है। हम आकार की अपेक्षा प्रकार में अधिक विश्वास करते है। जव-जब इस संघ के प्रकार की प्रशस्ति होती है तव-तव अनायास उस आचार्य-युगल की स्मृति हो आती है। हम उनके प्रति श्रद्धानत हो जाते है।

२०

अनुशासन के आधार

अनुशासन के पाच आधार होते है—

१. व्यक्तिगत स्वतंत्रता और नियंत्रण की सीमा।

२. वैचारिक स्वतंत्रता और संयम की सीमा।

३. सहिष्णुता।

४. हृदय परिवर्तन में आस्था और स्वभाव-परिवर्तन में आस्था।

५. अप्रतिवद्धता।

संघ के हर सदस्य को सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया जाता है। आचार्य का यह एक विशिष्ट गुण होता है। इसीलिए इतना वडा संघ एक अनुशासन में चलता हैं। संघ का कोई सदस्य विरोधी विचार भी आचार्य के सामने रख सकता है। यह उसे अधिकार है। किन्तु हर किसी के सामने वैसा विचार रखने का उसे अधिकार नही है। आचार्य विरोधी विचार को सुनते है और उसका समाधान देते हैं। विरोध की चेतना समाप्त हो जाती है, कष्ट झेलने की क्षमता क्षीण हो जाती है, विरोधी विचार सुनने की शक्ति नही होती, सहिष्णुता नही होती तव संगठन निर्जीव हो जाता है। अनुशासन की सफलता का सवसे वडा रहस्य है व्यक्ति की आंतरिक चेतना को वदलने का उपक्रम। उसको वदले विना कोई भी व्यवस्था-परिवर्तन सफल नही हो सकता। इस दिशा में जयाचार्य के प्रयत्न वहुत उल्लेखनीय है। उन्होने साधु-साध्वियो को प्रोत्साहन दिया; अपनी विनम्रता, मृदुता और उदारता से उनका हृदय जीता। फलतः अनुशासन का कल्पतरु शतशाखी हो गया।

अप्रतिवद्धता अनुशासन का सवसे महत्त्वपूर्ण आयाम है। जयाचार्य

ने इसे वहुत सूक्ष्म-दृष्टि से देखा। उन्होंने सावु-साध्वियों के जनपद-विहार की ऐसी व्यवस्था की, जिससे कोई भी क्षेत्र किसी एक ही सावु या साध्वी से प्रतिवद्ध न रहे, किसी एक का प्रभाव-क्षेत्र न वने, किन्तु वह सभी सावु-साध्वियों का प्रभाव-क्षेत्र रहे।

एक वार ऋपिराय ने कुछ साधुओं को विहार-पट्टी (स्थायी विहार-क्षत्र) देने का वचन दिया। उस समय जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में थे। उन्हें ऋपिराय का वह वचन संघ की एकसूत्रता के हित में नहीं लगा। उन्होंने ऋपिराय से प्रार्थना की—'स्थायी विहार-क्षेत्र देने से क्या अपना व्यक्तिगत प्रभाव जमाने का प्रयत्न नहीं होगा ? क्या अलग-अलग संप्रदाय नहीं वन जाएंगे ? क्या एक के प्रभाव-क्षेत्र में दूसरे सावु का जाना समस्या-पूर्ण नहीं वन जाएगा ?' ऋपिराय ने अपने युवाचार्य की वात पर ध्यान दिया। वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई। उन्होंने संक्षिप्त उत्तर में उसका समा-धान दे दिया। वे वोले—"मैंने विहार-पट्टी देने का वचन दिया है। क्षेत्रों के नाम नही खोले हैं। चोटी तो तेरे ही हाथ में रहेगी।'

युवाचार्य और ऋपिराय के वीच जो वार्तालाप हुआ वह युवाचार्य ने स्थान पर आकर लिख लिया। लिखने से पहले उन्होंने आहार भी नहीं किया। गुरु और शिष्य के वार्तालाप का स्थान था वीठोड़ा गांव का वाहरी तालाव, उसके पास एक पेड़, उस पेड़ की छाया में। वार्तालाप का समय था सं० १९०२ पौप कृष्णा ११ गुरुवार। पहला प्रहर पूर्ण हो गया था, दूसरे प्रहर का आरंभ हो रहा था।

जयाचार्य आचार्य वन गए। मुनि छोगजी ने प्रार्थना की—ऋपिराय ने वचन दिया था विहार-पट्टी का। अव कृपया उसका निर्देश दे। जयाचार्य ने कहा—तुम नागौर-पट्टी में विहार करो। वे नागौर-पट्टी नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—कोई दूसरी पट्टी दें। जयाचार्य ने कहा—दूसरी पट्टी देने का भाव नहीं है। वे चले गए। कुछ देर वाद आकर वोले—अच्छा नागौर-पट्टी में ही विहार करने की अनुमति दें। जयाचार्य ने कहा—अव वह भी नहीं। वह समय वीत चुका। पहले तुम तैयार नहीं थे वहां जाने को। अव मैं तैयार नही हूं वहाँ भेजने को। चर्चा समाप्त हो गई। जयाचार्य का लक्ष्य पूरा हो गया। प्रतिवद्धता के वीज का वपन हुआ ही नहीं।

आचार्य भिक्षु ने क्षमा का कीर्तिमान स्थापित किया था। पर अनु-

शासन के क्षेत्र में उन्होंने किसी को क्षमा नहीं किया। जयाचार्य भी उन्हीं के पदचिन्हों पर चले। उन्होंने शिक्षापद में लिखा—आचार्य उन्ही साधु-साध्वियों का सम्मान वढाएं जो अनुशासन को सह सके। दूसरों के सामने अनुशासन देने पर जो मुरझा जाते है, उनका सम्मान वढ़ाना खतरे से खाली नही होता। खामी होने पर आचार्य अग्रणी साधु-साध्वियों को भी परिषद् में उलाहना दे सकते हैं। उसे झेलने की क्षमता हो तो अग्रणी वनें। मै पहले चेता देता हूं, फिर मत कहना कि हमें चेताया नही गया। अनुशासन को सहना सभी साधु-साध्वियां सीखें, पर अग्रणी के लिए यह और अधिक आवश्यक है। वे जैसे व्याख्यान देना सीखते है वैसे ही अनुशासन को सहना सीखे।

जयाचार्य ने चातुर्मास की प्रतिवद्धता को भी समाप्त कर दिया। श्रावक चातुर्मास की प्रार्थना कर सकते है, पर किसी साधु या साध्वी का नाम लेकर चातुर्मास की प्रार्थना नही कर सकते। एक वार पाली (राजस्थान) के श्रावकों ने जयाचार्य से प्रार्थना की—हमारे क्षेत्र में साधुओ का चातुर्मास दें। जयाचार्य को यह प्रार्थना उचित नही लगी। चातुर्मास के लिए साधुओ और साध्वियों का भेद क्यों? उन्होंने श्रावको को इंगित भी किया पर वे जयाचार्य के इंगित को समझ नही पाए, वे अपनी वात पर अड़े रहे। जयाचार्य ने उस समय चातुर्मास की स्वीकृति नही दी। पाली के श्रावक अपने नगर लौट आए। उन्हें विश्वास था कि हमारे नगर मे साधु या साध्वी किसी का चातुर्मास जरूर होगा। चातुर्मास-प्रवास का समय निकट आ गया। फिर भी जयाचार्य ने पाली चातुर्मास की घोषणा नही की। आषाढ़ी पूर्णिमा विलकुल निकट आ गई। सव क्षेत्रों के चातुर्मास निश्चित हो गए। केवल पाली नगर ही वाकी रहा। अव श्रावको के मन उद्वेलित हो गए। पाली मे चातुर्मास न हो, यह उन्हे मान्य नही हुआ। उन्होने परस्पर परामर्श कर खेरवा में एक संदेशवाहक भेजा। उसने खेरवा के श्रावकों को संदेश-पत्र दे दिया। उसमे समाचार था—जयाचार्य ने खेरवा में चातुर्मास-प्रवास करने वाली साध्वियो (चतुरांजी छोटा, तोसणी वाला, अग्रणी थी, उन्हें) को पाली मे चातुर्मास-प्रवास करने की आज्ञा दी है। अत· वे कल यहां पहुंच जाएं। आषाढ़ी चतुर्दशी को यह समाचार साध्वियो के पास पहुंचा। आषाढ़ी पूर्णिमा को दस मील की दूरी तय कर साध्वियां वहा पहुंच गई। श्रावण

के प्रथम दिन चातुर्मास-प्रवास का प्रारंभ हो गया। अव विहार नही हो सकता था।

पूर्णिमा का पाक्षिक प्रतिक्रमण संपन्न हुआ। स्थानीय श्रावकों ने साध्वियों से क्षमा-याचना की। उन्होने सकुचाते हुए कहा—'आपको जयाचार्य की यहां चातुर्मास-प्रवास करने की आज्ञा का संवाद भेजा गया, वह सही नही है। हमसे यह अपराध हो गया है। उसके लिए हम क्षमा चाहते है।' साध्वियां इस अकल्पित कहानी को सुनकर सन्न रह गईं। उन्हें श्रावकों की वात पर विश्वास नही हुआ। क्या ऐसा हो सकता है? क्या श्रावक ऐसी भयंकर भूल कर सकते है? उनके मन मे ये प्रश्न उभरने लगे। वे अनुशासनहीनता की घटना पर वहुत व्यथित हुई। उन्होंने एक निर्णय किया और श्रावकों के घर से आहार लेना और व्याख्यान देना वंद कर दिया। कुछ दिनों तक यह क्रम चालू रहा।

यह सं० १९१२ की घटना है। जयाचार्य उस वर्ष का चातुर्मास-प्रवास उदयपुर मे कर रहे थे। पाली के कुछ प्रमुख श्रावक जयाचार्य के दर्शन करने वहां गए। प्रातःकालीन प्रवचन में समय प्राप्त कर उन्होंने अपनी प्रमादकथा आचार्यवर के सामने रखी और प्रार्थना के स्वर में कहा—'गुरुदेव! हम आपकी आज्ञा के चोर है, हमने अपराध किया है, आप जो चाहें वह दंड हमें दे।'

स्वरशास्त्र की भाषा मे जयाचार्य की शरीर रचना अग्नितत्त्व-प्रधान थी। अग्नितत्त्व की प्रधानता वाला व्यक्ति अनुशासन का प्रवर्तक होता है। अनुशासन प्रवर्तक को अनुशासन की इस प्रकार अवहेलना क्षम्य नहीं हो सकती। जयाचार्य के मन पर इसका वहुत प्रभाव हुआ। उन्होने परिषद् के वीच उन श्रावको को कड़ा उलाहना दिया। उन श्रावकों ने उसे वड़ी विनम्रता से झेला। वे वीच-वीच में वोलते रहे—'गुरुदेव! हमने वहुत वड़ा अपराध किया है, आपको और संघ को हमने धोखा दिया है। इसलिए आप जितना उलाहना दें उतना थोड़ा है। हम प्रार्थना करते है, हमें इसका औ दंड दिया जाए।'

अनुशासन में अग्नितत्त्व और जलतत्त्व दोनों काम करते है। कोरा अग्नितत्त्व जला देता है और कोरा जलतत्त्व वहा देता है। एक से स्थिति-स्थापन नही होता। गर्मी और सर्दी दोनों का योग ही ऋतुचर्या को स्वस्थ

वनाता है। उलाहना और प्रोत्साहन—ये दोनों मिलकर ही अनुशासन की गाड़ी को गतिशील वनाते हैं। कुछ दिनों तक पाली के श्रावक अपने अपराध के लिए क्षमा मागते रहे। जयाचार्य उनकी अनुशासननिष्ठा की कसौटी करते रहे। उन्होंने अनुभव किया—कठोर अनुशासन करने पर भी इन की विनम्रता वढ़ी है। मनुष्य गलती कर सकता है पर जिसमे अनुशासन को सहने की क्षमता होती है वह गलती सुधार लेता है। जयाचार्य ने अनुभव किया—इन श्रावको में अनुशासन की निष्ठा है, इसलिए अव ये प्रतिष्ठित होने योग्य है। उन्होने प्रवचन में परिपद् के वीच उनकी विनम्रता को सराहा, अनुशासन-प्रियता की प्रशंसा की और शिव की भांति आशुतोप वनकर अपना अगला चातुर्मास पाली मे करने की घोषणा कर दी। सारी परिपद् इस दृश्य को चित्रवत् देखती रही। उस अकल्पित घोषणा ने सवको आश्चर्यचकित कर दिया। पाली के श्रावक आए थे अपने प्रमाद की क्षमा मांगने के लिए और मिल गया आचार्यवर का चातुर्मास। यह थी विनम्रता की महिमा, यह थी अनुशासन-प्रियता की प्रतिष्ठा।

२१

अनुशासन और विसर्जन

वेष एक आधार है पहचान का। उससे गृहस्थ और मुनि की पहचान होती है। पर यह बाह्यदृष्टि की पहचान है। अन्तर्दृष्टि की पहचान का साधन दूसरा होता है। जिसमें अहंकार और ममकार सक्रिय होते हैं वह होता है गृहस्थ और जिसमें ये निष्क्रिय होते हैं, वह होता है मुनि। यह अंतर्दृष्टि की पहचान है। आचार्य भिक्षु ने इसी (अहंकार और ममकार-विसर्जन के) सूत्र को अपने अनुशासन का आधार बनाया। जयाचार्य ने उस सूत्र की बहुत मार्मिक व्याख्या की। उन्होंने लिखा—अग्रणी साधु-साध्वियों ने अपने पास रहने वाले साधु-साध्वियों पर ममत्व करने का त्याग किया है और ममत्व-विसर्जन के लेखपत्र पर हस्ताक्षर किए है, इसलिए आचार्य जब चाहें तब किसी भी वर्ग से किसी भी साधु या साध्वी को ले तो मन में तनाव न आए और अग्रणी उसे आचार्य को न सौंपे तब तक आहार न करे, पानी न पिए।[1] अग्रणी साधु या साध्वी का स्वर्गवास होने पर उनके सहवर्ती साधु या साध्वियां उनके पुस्तक-पन्ने आचार्य को सौंप दें, उन पर अपना अधिकार न जताएं।[2] कोई इस आकांक्षा से सेवा न करे कि सेवा से वह अग्रणी बन जाएगा। यह आवश्यक नही है कि सेवा करने वाले को अग्रणी बनाया जाए। इच्छा हो तो सेवा करना, अग्रणी बनने की इच्छा से सेवा मत करना।

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा री चौपाई १।११]

ममत धणियाप करवा तणा, किया त्याग नै अक्षर लिखाया।
गुरु माग्यां सूं मन न बिगाडणो, सूंप्या बिन च्यारू आहार पचखाया ।।

२. वही, [शिक्षा की चौपाई १।१७]

संत सती सिंघाडाबंध ते, कदा पंडित मरण सुपाया।
सर्व पोथ्यां सुगुरु नै सूंपणी, मन सूं धणियाप मिटाया ।।

यह स्पष्ट चेतावनी है, फिर मत कहना, मैने सेवा की और मुझे अग्रणी नही वनाया।[1] यदि तुम्हारे मन में अहंकार प्रवल हो तो अग्रणी मत वनना। गुरु अहंकार को पालते नही है। वे उस पर चोट करते है। क्या तुम में चोट को सहने की क्षमता है ? अग्रणी की भूल मालूम पड़ने पर उसे परिषद् के वीच में उलाहना दिया जा सकता है। यदि उसे सह सको तो अग्रणी वनना, अन्यथा नहीं, फिर यह मत कहना—गुरुदेव ! आप मुझे उलाहना दें, वह परिषद् के वीच में न दे, एकांत में दे। गुरु ऐसा करने के लिए बधे हुए नही हैं, यह साफ-साफ समझ लेना। वे कभी-कभी कड़वी दवा भी दे देते है। जो साधु अग्रणी वनने की भावना रखता है और परिषद् में उलाहना देने पर कुम्हला जाता है, वैसे साधु को आगे नही बढाना चाहिए। अग्रणी के लिए यह आवश्यक है कि वह सूत्र-सिद्धांत और व्याख्यान सीखता है, वैसे ही सहन करना सीखे।[2]

जयाचार्य समर्पित व्यक्ति थे। समर्पण का अर्थ है अहंकार और ममकार का विसर्जन। साधना की भूमिका से वाहर घूमने वाले इसका मूल्यांकन नही कर सकते। वे समर्पण को चमचागिरी मानते है। वे इस सचाई को नही जानते कि अहंकार का विसर्जन दूसरों के लिए नही होता, दूसरों के प्रति नही होता, वह अपने लिए और अपनी विकास-भूमिका के प्रति होता है। आचार्यवर ने अनेक घटनाओं द्वारा अहंकार-विसर्जन का मूल्य प्रस्थापित किया है।

---

१ तेरापंथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १।१८]

गुरु राखै जठै रहिणो निज भणी, सिघाडो करवो नियम नाह्या।
मन हूवे तो कीज्यो चाकरी, गुरु आगूच शब्द सुणाया॥

२ वही [शिक्षा की चौपाई १।२१-२५]

इमहिज सिघाडावध तणी, खामी पड्या निषेधे अथाया।
मन हूवे तो आगै विचरज्यो, गुरु आगूच शब्द सुणाया॥
चोडै मोनै निषेधो मती, कदा गुरु नहीं मानै वाया।
तिण सूं चोट खमणी पहिला धार नैं, अगवाण विचरो मुनि राया॥
वारूवार जतावू था भणी, पछै कहोला पहिला न फुरमाया।
सुगुर काण राखै नहीं, करलो ओषध देत सवाया॥
हूस राखै सिघाडा तणी, चोड़ै निषेध्या मुख कुमलाया।
तास कुरव न वधावणो, खमिया तोल वधै अधिकाया॥
रीत ए सहू श्रमण-श्रमणी तणी, अगवाण नै तो अधिकाया।
सूत्र वखाण सीखै सही, तिम खमवो सीख्या सुख पाया॥

भारमलजी स्वामी ईडवा में विराज रहे थे। ऋपिराय व्याख्यान कर रहे थे। किसी घटना का वर्णन करने मे उनसे कोई प्रमाद हो गया। भारमलजी स्वामी भीतर वैठे सुन रहे थे। उन्होंने वही से कहा —'रायचंद ! क्या गप्पें हांक रहा है ?' ऋपिराय ने विनम्रतापूर्वक आचार्यवर की सूचना को स्वीकार किया। व्याख्यान संपन्न होने पर भीतर आकर वोले—गुरु-देव ! ग्राप मुझे परिषद् के वीच उलाहना नही देते, अकेले में ही देते तो अच्छा होता। भारमलजी स्वामी ने सतयुगी को वुलाकर कहा -'सुनो, रायचन्द क्या कहता है। यह कहता है—आप हमें उलाहना दे तो एकांत में दे, दूसरों के सामने न दे। मैं ऐसा क्यों करूंगा ? अव कोई उलाहना देना होगा, सवके सामने दूंगा। वोलो, तुमक्या कहते हो।' सतयुगी ने कहा—'आप जैसा चाहें वैसा करें।' ऋपिराय ने भी अपने संसारपक्षीय मामा सतयुगी की वात का समर्थन किया।[1] इस अहंकार-विसर्जन ने ऋपिराय को तेरापंथ का शास्ता वना दिया।

अहंकार-विसर्जन की दूसरी घटना है मुनि वेणीरामजी का प्रसग। आचार्य भिक्षु पीपाड़ में थे। उन्होंने मुनि वेणीरामजी को वुलाने के लिए संवोधित किया। वे नहीं वोले। दूसरी-तीसरी वार संवोवित करने पर भी नहीं वोले। आचार्य भिक्षु ने गुमानजी लूणावत मे कहा—वेणो अव संघ मे नही रह सकेगा, ऐसा लगता है।' गुमानजो यह सुन अवाक् रह गए। वे मुनि वेणीरामजी के पास गए। उन्होंने सारी वात वताई। आचार्य भिक्षु के वे शव्द सुन मुनि वेणीरामजी कांप उठे। वे तत्काल आचार्य भिक्षु के पास आ उनके चरणो में लुट गए। अपनी भूल के लिए क्षमा मांगने लगे। आचार्य भिक्षु ने कहा—तीन वार मैंने तुझे वुलाया, फिर तू क्यों नही वोला ? मुनि वेणीरामजी ने हृदय की भावना से पैरों को नहाते हुए कहा—'गुरुदेव ! मैंने एक वार भी आपका संवोधन नही सुना। यह कैसे हो सकता है, आप मुझे संवोधित करें और मै न वोलूं, न पास में आऊं ?' उन्होंने अहंकार को

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १।२६-२८]

भारीमाल ईडवा मझै, परपदा मे निपेद्या सवाया।
ते मुनिवर कहै स्वाम नै, मोनै छानै कहो ऋपिराया॥
ताम स्वाम भारीमालजी, सतयुगी मुनि नै वोलाया।
सुणो खतसीजी ए इम कहै, मोनै छानै कहो ऋपिराया॥
छानै कहा म्है किण विधै, हिवै तो चोड़ै कहिवौ सवाया।
इम सुण ऋपिराय जी, हद सीख धार पद पाया॥

त्याग, अपनी ऋजु भावना प्रगट कर, आचार्यवर को प्रसन्न कर लिया।[1]

जो मुनि अहकार-विसर्जन करना जानते है, वे उच्च पदो पर प्रतिष्ठित होने योग्य है। उन्हें उच्चता के स्थान पर कैसे प्रतिष्ठित किया जाए, जो लोगो के सामने उलाहना देने से सिकुड़ जाते है, अहकार का विषधर जिन्हे डसने लग जाता है।[2] सतयुगी, वेणीरामजी, हेमराजजी और ऋषिराय—ये चारों गण के स्तंभ थे। उन्होने अहंकार को त्यागा इसलिए वे गण केतंभ वने। गण के भार की धुरा उसकी भुजाओं पर है, जो अहंकार को छोड़ देता है।[3]

मुनि मोजीरामजी अग्रणी थे। वे विहार कर आ रहे थे। मार्ग मे लावा सरदारगढ मे रुक गए। भारमलजी स्वामी को उनका वहा रुकना अच्छा नहीं लगा। वे वहा से प्रस्थान कर राजनगर पहुचे। भारमलजी स्वामी ने सव संतों को बुलाकर कहा—मोजीरामजी आ रहे है। कोई भी साधु उन्हे वंदना न करे। मुनि मोजीरामजी स्थान पर पहुचे। सव साधु देख रहे है। पर कोई भी साधु न वंदना करता है, न भार लेता है और न उठकर अगवानी करता है। वे भारमलजी स्वामी के चरणों में उपस्थित हुए, वंदना की। विनम्र स्वर मे इस अप्रत्याशित परिस्थिति का कारण पूछा।

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १।२९-३२]

भिक्षु स्वाम पीपाड मे, वैंणीरामजी नैं बोलाया।
दोय तीन बार हेलौ पाडियौ, पिण बोल्या नही ऋपिराया।।
लूणावत गुमानजी तेहनैं, इम स्वाम भिक्षू बोल्या वाया।
वैंणो छूटतो दीसै अछै, जव गुमानजी त्या पासै आया।।
कही स्वाम भिक्षु नी वारता, सुण त्रास अधिक दिल पाया।
आय पगा पड्या स्वाम नैं, अै तो सुवनीत महा मुनिराया।।
स्वाम कहै हेलो पाडियो, तूं वोल्यो नही किण न्याया।
वैंणीरामजी कहै म्हैं सुणियौ नही, घणो विनय करी नै रीझाया।।

२ वही [शिक्षा क चौपाई १।६३]

इसडा सुवनीत गुरा तणा, ज्यारो काण-कुरव वधाया।
चोड़ै निपेध्या वेदल हुवै, त्यारो कुरव वधै किण न्याया।।

३. वही [शिक्षा की चौपाई १।३९-४०]

सयजुगी नै वैंणीरामजी, वलै हेम अनै ऋपराया।
गण स्तभ ज्यू च्यारू महा गुणी, समभाव सह्या तज माया।।
गण भार-धुरा ज्यारी-भुजा, ते पिण मान अहकार मिटाया।
तो ओरा री कुणसी चली, गुरु सर्व उपर कहिवाया।।

ग्राचार्यवर ने कहा—मेरी इच्छा के विपरीत तुम लावा सरदारगढ़ में रहे। वे वोले—गुरुदेव! मुझे इसका तनिक भी आभास नहीं था। यदि मुझे इसका किंचित् भी आभास होता तो मै वहा नही ठहरता। उन्होंने विनम्र व्यवहार से भारमलजी स्वामी को विश्वास दिलाया। आचार्यवर ने संतों से कहा—अव इन्हें वंदना करो। आचार्यवर का आदेश पाकर सव संतों ने परस्पर वंदना की, सभी हर्ष से आप्लावित हो गए।'[1]

अहंकार और ममकार—ये केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही दोप नहीं है, ये सभी क्षेत्रों में अवांछनीय है। ये संगठन में दरार डालने वाले तत्त्व है। संगठन के चिरजीवी होने का आधार है इनका विसर्जन। जयाचार्य का इस क्षेत्र में संघ को महान् अवदान है।

आचार्यवर मघवा ने मुनि माणकलालजी को ग्रपना उत्तराधिकारी चुना। उन्होंने अंतिम शिक्षा-वचन में कहा—माणकलालजी! जयाचार्य ने व्यवस्था और मर्यादा के राजपथों और मार्गों का इतना निर्माण किया है कि नए निर्माण की वहुत आवश्यकता नही रही। अव तुम्हारा (भावी आचार्यो का) इतना ही काम है कि गायों को मार्ग पर चलने मे सहयोग करो। कोई गाय मार्ग छोड़ इधर-उधर जाने लगे तो पुन: मार्ग पर ले आओ।' रूपक की भाषा में कहा गया यह शिक्षा-वचन जयाचार्य के महान् अवदान का प्रवल साक्ष्य वन गया।

---

१. तेरापंथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १।४४-४६]

तीन ठाणे मोजीरामजी, विण मुरजी लावा मे रहिवाया।
राजनगर आया पूज आगलै, सुण स्वाम सता नै वोलाया॥
कोई वनणा कीज्यो मती, हिवै मोजीरामजी आया।
देखै सहु साध-साधवी, पिण किण नवि सीस नमाया॥
पछै आय पूज पगां लागिया, भारीमाल हुकम फरमाया।
जद वंनणा कीधी साध-साधव्या, निपेदी तसु दंड दिराया॥

२२

अनुशासन का धर्मचक्र

जयाचार्य ने अनेक शिक्षापदो की रचना की। उनमे कुछ शिक्षापद वहुत महत्त्वपूर्ण है। सतियों को संवोधित कर एक शिक्षापद लिखा। उसमें चित्त-समाधि का मार्ग बतलाया है—साध्वियो ! तुम दभ और कदाग्रह मत करो। वाद-विवाद मत करो। क्षमा धर्म की आराधना करो। उससे समाधि प्राप्त होगी।[1]

जयाचार्य की रचना का मुख्य तत्त्व है—संघ के प्रति सर्वात्मना समर्पण। साध्वियो ! व्याख्यान में जैसे हेतु और दृष्टात का प्रयोग करती हो, वैसे ही धर्मशासन की गरिमा का वर्णन करना, उसमें सकोच मत करना।[2]

संतों को संवोधित कर लिखे गए शिक्षापद में आज्ञा का मूल्याकन मिलता है। साधुओ ! सुगुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करो। उसकी अखंड आराधना करो। आज्ञा की आराधना करने वाला सुख पाता है। आज्ञा पार पहुंचा देती है—समस्याओं के उस पार।[3]

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ७।७]

सतिया ! दभ कदाग्रह मत करो, वले मत करो वाद विवाद।
सतिया ! क्षमा धर्म दिल मे धरो, थारे भव-भव हुवै समाध।।

२. वही [शिक्षा की चौपाई ७।५]

सतियां ! हेतु दृष्टात वखाण मे, थे तो दाखो मलाय-मलाय।
सतिया ! इमहिज सासण दिढावता, इण मे लाज सरम मत ल्याय।।

३. वही [शिक्षा की चौपाई ८।१]

सता ! सुगुरु आण सिर धारियै रे, आ तो आण अखड उदार रे।
सता ! आण आराध्या सुख लहै रे, आतो आण उतारे पार रे।।

साधुओ ! पंडित-मरण स्वीकार कर लेना पर गण को मत छोड़ना। गण में प्रवेश पाना मूल पूजी है, यह एक रत्न मिला है, उसे मत खोना[1]।

एक शिक्षापद गुरु-शिष्य के संवादरूप में मिलता है। शिष्य प्रश्न पूछता है, गुरु उसका उत्तर देते है। शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव ! मैं आपकी शरण में आया हूं। आप मुझे शिक्षा दे।'

गुरु ने कहा—'शिष्य ! सुविनीत का संग करना। उससे सम्यग् दृष्टि सुदृढ होगी, चारित्र का विकास होगा[2]।'

शिष्य बोला—'गुरुदेव ! एक समस्या है। अविनीत व्यक्ति हित करता है, मीठा बोल प्रलोभन देता है। उस स्थिति में क्या करना चाहिए?'

गरु ने कहा—'शिष्य ! उस समय यह चिंतन करना चाहिए कि यह दुःखदायी है। इसके संग से विश्वास उठता है। गुरु के प्रति विरोधीभाव जागता है[3]।'

शिष्य—'गुरुदेव ! कभी-कभी क्रोध आ जाता है, उसे विफल कैसे किया जाए ?'

गुरु—'शिष्य ! क्रोध के कड़वे फलों का चिंतन कर और समतारस

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ८।१३]

सता ! पडित मरण आरे करो, पिण गण मति छोडो कोय।
सतां ! मूल पूजी दृढ राखज्यो, रत्न हाथ आयो मत खोय ॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई १४।१२]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी ! सरणे आयो गणनाथ, सीखड़ली आछी आपो म्हारा स्वाम।
होजी स्वामी ! परम उपगारी मुज आप, अविचल सुख थिर पद थापो ॥

गुरु उवाच—

हां रे चेला ! सुवनीतां रो कीजै सग, वाधै जस कीरति वाधे।
हा रे चेला ! चरण समकित दिढ होय, ज्ञानादिक वर गुण लाधे ॥

३. वही [शिक्षा की चौपाई १४।३,४]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी ! कोइ अविनीत हित करै, आप ललचावै मीठो बोली।
हो जी स्वामी ! स्यू करिवो गण नाथ ! आखीजे सीख अमोली ॥

गुरु उवाच—

हां रे चेला ! मन मे विचारणो एम, दुखदाई खुद्र घणो है।
हां रे चेला ! इण सूं पीत कियां पत जाय, गणि स्यूं प्रतनीकपणो है ॥

का पान कर—प्रिय-अप्रिय घटनाओं के प्रति सम रहने का अभ्यास कर।"[1]

शिष्य—'गुरुदेव ! सव अपने-अपने हिस्से का खाते है। फिर एक व्यक्ति सुख का वेदन करता है, दूसरा दु.ख का वेदन करता है, यह क्यों ? दु:खों को दूर करने वाला भिक्षुगण सौभाग्य से उसे उपलब्ध है फिर वह दु.ख का वेदन क्यों करता है ? चितामणि रत्न की भांति चिता का हरण करने वाला चारित्र भी मिला है फिर वह दु:ख का वेदन क्यो करता है ? गुरुदेव ! मुझ पर कृपा करे। मेरी विनती स्वीकार करे। यदि आपको क्लाति न हो तो आप मुझे वताएं।'

गुरु—'शिष्य ! उसके मन में शब्द आदि विषयों की चाह है। वे उसे मिलते नही है, इसलिए वह दु ख का वेदन करता है। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय है। उसके कषाय प्रवल है। वे ज्ञान और दर्शन पर आवरण डाले हुए है, इसलिए वह दु:ख का वेदन करता है।[2]

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १४।८]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी ! क्रोध आवै किण वार, किण विध ते निर्फल कीजै।

गुरु उवाच—

हा रे चेला ! क्रोध कटुक फल न्हाल, समता रस मन मे पीजै ॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई १४।१८-२३]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी ! सर्व पाती रो आहार, विगयादिक पाती रो खायो।
हो जी स्वामी ! सुविनीत सुख वेदत, तो ओ दुख वेदै किण न्यायो ॥
हो जी स्वामी ! स्वाम भिक्षु गण सार, नरकादिक ना दुख वेदै।
हो जी स्वामी ! भाग्य जोग आयो हाथ, किण कारण ओ दुख वेदै ॥
हो जी स्वामी ! चरण-रयण चित चग, चितामणि चिता चूरै।
हो जी स्वामी ! ते पिण आयो हाथ, किण कारण ओ हिवै झूरै ॥
हो जी स्वामी ! मुज पर करो प्रसाद, वीनतडी मुज मानीजै।
हो जी स्वामी ! कहिता किलामना न होय (तो), किरपा कर आप कहीजै ॥

गुरु उवाच—

हा रे चेला ! इण रे शब्दादिक री चाय, मन मांहि अधिक उमेदै।
हा रे चेला ! जोग मिलै नही ताय, तिण कारण ओ दु:ख वेदै ॥
हा रे चेला ! क्रोधादि च्यार कषाय, ज्ञानादिक गुण ने भेदै।
हा रे चेला ! (तिण रै) जवर कषाय नो जोर, तिण कारण ओ दु ख वेदै ॥

'यश का हेतु विनय है। वह विनय कर नही सकता। विनीत का यश होता है, उसका नही होता। इसलिए वह दुःख का वेदन करता है। उसकी प्रकृति कठोर है। वह गुरु से अपनी प्रकृति को नही मिलाता। वह मनमाना काम करना चाहता है। पर वह हो नहीं पाता। इसलिए वह दुःख का वेदन करता है।[1]'

जयाचार्य अनुशासन के महान् प्रवर्तक है। उन्हे अविनय और अविनीत दोनों प्रिय नही है। वे शिष्य को गुलाम वनाने के पक्ष में नही हैं। वे वहुत उदार हैं। विनीत शिष्य को वहुत ऊंचा स्थान देते हैं। वे विनीत को आचार्य के लिए आधारभूत मानते हैं।[2] उन्होने अविनीत की तुलना कांच के पात्र से की है। कांच का पात्र चोट नही सह सकता, वैसे ही अविनीत चोट नहीं सह सकता। विनीत हीरे और हेम जैसा होता है। वह चोटे सह सकता है। अविनीत मोम का गोला होता है, वह आग के पास जाने से पिघल जाता है। विनीत मिट्टी का गोला होता है। वह जैसे-जैसे आग में धमा जाता है, वैसे-वैसे उसकी लालिमा वढ़ती है। अविनीत एरंड का वृक्ष होता है—अस्थिर और कमजोर। विनीत कल्पवृक्ष जैसा होता है—विनय के कवच से कवचित।[3]

जयाचार्य संविभाग को अनुशासन का अनिवार्य अंग मानते थे।

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १४।२४,२५]

हा रे चेला! जस हेतु विनय विचार, तें (पिण) इण सू करणी नावै।
हा रे चेला! अविनीता रो जस नहिं होय, तिण कारण ओ सीदावै॥
हा रे चेला! इण री प्रकृति अधिक अजोग, गुरु स्यू पिण नाहिं मिलावै।
हा रे चेला! मन मान्या काज न होय, तिण कारण ओ दु.ख पावै॥

२ वही [शिक्षा की चौपाई १६।६]

एहवा शिष्य सुवनीत रो, सर्व कार्य मे सार।
गणपति नै आधार छै, धरा सहै जिम भार॥

३. वही [शिक्षा की चौपाई १६।७-६]

काच भाजन अवनीतडो, कहो चोटा खमै केम।
सहै चोटा तो वनीत ही, कै हीरा कै हेम॥
अवनीत गोलो मैण नो, तप्त गलै तत्काल।
सुवनीत गोलो गार नो, ज्यू धमै ज्यू लाल॥
अवनीत वृक्ष एरडियो, अस्थिर ते करै कोप।
सुवनीत कल्पतरू समो, विनय नो वगतर टोप॥

आहार के संविभाग को उन्होने वहुत मूल्य दिया । उन्होने लिखा—जो अपने हिस्से के आहार में तृप्त हो जाता है, उसे कोई पराजित नही कर सकता । इसलिए संविभाग करो ।

जीभ को वश में करो । उससे इष्ट कार्य सिद्ध होगा । तुम इष्ट को पाना चाहते हो तो संविभाग करो । जो सविभाग करते है वे मानसिक सुख का वेदन करते है ।[1] जिनका संविभाग मे आकर्पण नही है, उनके मानसिक दु ख को कौन मिटा सकता है ? उसकी प्यास वड़ी भयकर है। उसकी आशा को कोई भी पूरा नही कर सकता ।[2] जो संविभाग नही करता, उसे भगवान ने अविनीत कहा है ।[3] जो सविभाग नही करता, उसे भगवान ने पापी श्रमण कहा हैं ।[4] जो संविभाग नही करता, उसे मोक्ष नही मिलता । जो संविभाग करता, है वह अचौर्य व्रत की आराधना करता है ।[5]

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के भाष्यकार थे। उन्होने आचार्य भिक्षु द्वारा विरचित एक गाथा के आधार पर संविभाग के चिंतन का विस्तार

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई २०।१]

निज पाती मे जे रजै, ते मुनिवर ने कुण गजै जी ।
सविभाग करी लीजै ।
ज्यारी भद्र प्रकृति गुण-रास, सहु ने सुखदाइ जास जी ।
जिभ्या—इद्रियवस कीजै, तिण सू वाछित कारज सीझै जी ।।
मुज सीख सुगुण धारीजे, लज्या यत्ने राखीजै जी ।।

२ वही [शिक्षा की चौपाई २०।२,३]

निज पाती मे नही रजै, तेहनो दु ख कहो कुण भजै ।
अति खावण पीवण री पिपासा, किम पूरीजे तसु आशा ।।
निज पाती मे रगराता, प्यारे मानसीक सुख साता ।
जेहवो मिल्यो करै सतोप, समभावपणै सुख पोप ।।

३. वही [शिक्षा की चौपाई २०।२०]

जे असविभागी सतो, अवनीत कह्यो भगवतो ।
वर उत्तराध्ययन मझारो, ग्यारस अध्ययन उदारो ।।

४ वही [शिक्षा की चौपाई २०।२१]

जे असविभागी साधू, तिण ने कह्यो पापी साधू ।
सतरम उत्तराज्झयणो, ए वीर तणा वर वयणो ।।

५. वही [शिक्षा की चौपाई २०।२२]

असविभागी नै नाहि मोखो, दशवै० नवमे अवलोको ।
वर सविभाग जे साधै, ते तीजो व्रत आराधै ।।

किया और उसे प्रायोगिक रूप दिया। आचार्य भिक्षु ने लिखा था—साधु आहार-पानी लाए, उसका सार्धार्मिक साधुओं में संविभाग करे। मैं लाया हूं, यह सोच कर वह अधिक लेने का प्रयत्न करता है तो वह चोरी करता है। ऐसे आचरण से उसका विश्वास उठ जाता है।[1]

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। जयाचार्य ने उसे व्यापक बनाया था। तेरापंथ में वह धर्मचक्र आज भी गतिशील है।

थोड़े लोग साथ में रहते है तव सुविधा होती है। अधिक लोगों का एक साथ रहना उतना सुविधाजनक नही होता। अनुशासन के क्षेत्र में सुविधा-असुविधा का प्रश्न गौण होता है। मुख्य वात होती है अपेक्षा की। अपेक्षा के अनुसार कभी थोड़े व्यक्तियो मे और कभी अधिक व्यक्तियों में रहना आवश्यक होता है।

जयाचार्य का चिंतन है—जो लोलुप नही हैं, जिनके मन मे सुगुरु से प्रीति है, वे ही वडे संघ में रह सकते है, दूसरों के लिए यह सरल नहीं है।[2]

जयाचार्य ने मानव-प्रकृति की गहराई मे उतर कर देखा। उससे साक्षात् संपर्क स्थापित किया। उसे समाधान दिया। उस समाधान का मूल तत्त्व है अनुशासन। वह अनुशासन नही, जो स्वतंत्रता को आत्महत्या के लिए विवश करे। वह है अनुशासन जिसके आगे स्वतंत्रता की लौ जलती है और पीछे-पीछे समता की अनुभूति चलती है। समता की अनुभूति के विना स्वतंत्रता नही। स्वतत्रता की अनुभूति के विना अनुशासन नही। यह है अनुशासन का धर्मचक्र।

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई २०।२४]

आहारपाणी साधु वहिरी ने ल्याया, सभोगी साधु ने वाट देवा री रीत।
आप आण्यो जाणी अधिक लेवै, तो अदत्त लागै जाये परतीत॥
आ श्रद्धा श्रीजिनवर भाखी॥

२. कीर्त्ति गाथा [आर्यादर्शन ढा० १।दो-]

लोलपणो जेहनें नही, सुगुरु प्रीत अधिकाय।
ते सेवा मे रहै, अन्य ने कठिण अथाय॥

२३

मानवप्रकृति का विश्लेषण

जयाचार्य मानवीय दुर्बलताओं और क्षमताओ से वहुत परिचित है। वे गहरे में उतर कर उन्हें देखते है और उनका विश्लेषण करते है। वे मानवीय प्रकृति के विश्लेषणो मे अग्रणी थे। उन्होंने मनुष्य की क्षुद्र और उदात्त प्रकृति का वड़ा मार्मिक विश्लेषण किया है। उनके सामने लक्ष्य है साधक मे अनुशासन की निष्ठा भरना। वे साधक को सामने रख कर प्रकृति का विश्लेषण करते है। वह सब पर घटित होता है। अनुशासन कसौटी है प्रकृति की। अनुशासन करने पर, त्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित करने पर मनुष्य जो व्यवहार करता है, उससे उसकी क्षमता या महानता का पता चलता है। प्रकृति की क्षुद्रता के लक्षण है—प्रमाद के लिए सावधान करने पर—

१. 'ठीक है' न कहना, अंटसट वोलना।

२. 'ठीक है' न कहना, मौन हो जाना।

३. दूसरो को कहना सरल है, स्वयं कितना ध्यान रखते हो ?

४. मुह का रंग वदल जाना।

५. क्रोध के आवेश मे आकर वोलना।

६. वड़ा आया मुझे कहने वाला।

७. तुम भी सावधान रहना।

८. मेरे पीछे ही पड़ गए हो।

९. अपनी भूल भी देखा करो।[1]

कोई आदमी पंडित हो गया पर उसकी प्रकृति अच्छी नहीं है तो उसकी नौली में एक रुपया आता है, निनानवे रुपये बाकी है।[2] क्षुद्र प्रकृति वाला व्यक्ति[3]—

१. आपे को नहीं खोजता।

२. स्वार्थ न सधने पर उनके अवगुण बोलने लग जाता है।

३. निंदा करता है, फिर कहता है—यह बात तुम तक ही रहे किसी दूसरे को मत कहना।

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई २१६-१३]

करे चालता वात, कहै कोइ ते भणी।
ठीक न कहै वोले और, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
पक्की जयणा रो कहै करता आहार, इण मे चूका अणी।
ठीक न कहै रहै मौन, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
आहार करता पूरी जयणा नाहि, करै को जतावणी।
तो पाछो ओडो दे जाण, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
चूकै पडिलेहण करत, दीयै सीख ते भणी।
फेरै मुहडा नो नूर, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
जोडी करता चूका कहै तास, तो रीस करै घणी।
वदै क्रोध तणे वश वाण, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
चालता ततू धीसत, कह्या वच अवगणी।
वडो कहण वालो मोय, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
सीवत वोलै सोय, कह्या रीस अति घणी।
कहै थेडज रहिज्यो सचेत, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
इक दिन मे चूका वहु वार, करै को जतावणी।
कहै लागो म्हारी लार, खोडीली प्रकृति नो धणी॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई २१२५]

पायो रुपइयो एक, पडित थयो भणी।
पिण प्रकृति निनाणू रह्या शेप, खोडीली प्रकृति नो धणी॥

३ वही [शिक्षा की चौपाई २१३३-३८,४०]

जो तिण ने न दीये अन्न पान, तो खच मन तणी।
आपो न खोजै मूढ, खोटीली प्रकृति नो धणी॥
स्वारथ न पूगै सोय, गुरु सू पिण अवगुणी।
अवगुण सूझै अनेक, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
आप जिसो अवनीत, तिण सू प्रीत अति घणी।
वात करै दिल खोल, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
करै उतरती वत्त, ओघड-घाट अति घणी।
मन रा मेला परिणाम, खोटीली प्रकृति नो धणी॥
मत कहै अवरा पास, वात आपा तणी।
इम वरजी राखै तास, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
तिण कहि ते कहै, सर्व वात गुरु आदिक भणी।
(तो) तिण सू राखै द्वेप, खोडोली प्रकृति नो धणी॥
छेडविया फुकार, करै रीस अति घणी।
खिण-खिण माहे क्रोध, खोटीली प्रकृति नों धणी॥

४. वह उसको कह देता है तो वह उसके प्रति मन मे द्वेष की गाठ बाध लेता है।

५. छेड़ने पर फुफकारने लगता है, क्षण-क्षण मे क्रोध करता है।

जयाचार्य की दृष्टि मे सुखी जीवन का साधन है प्रकृतिकी महानता। जिसकी प्रकृति के घटक तत्त्व उदात्त होते है, वह पग-पगपर दु.खका सवेदन नही करता। वह हर घटना को सम्यक्रूप से स्वीकारकरता है और सुख के बीज बोता है। प्रकृति की महानता के लक्षण हैं—प्रमाद के लिए सावधान करने पर—

१. हाथ जोड़ कर 'ठीक है' कहना।

२. अनुशासन करने वाले का उपकार मानना।

३. कृतज्ञता ज्ञापित करना

४. परामर्श के लिए धन्यवाद देना।

५. सावधान करने वाले को स्वजन मानना।

६. हर्ष के साथ अंगीकार करना।[1]

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ३।६-१४]

करे चालता वात, कहै कोई ते भणी।
कर जोड तथा कहै—ठीक, चोखी प्रकृति नो धणी॥
पक्की जयणा रो कहै करता आहार, इण मे चूका अणी।
ठीक कहै ततकाल, चोखी प्रकृति नो धणी॥
आहार करता अजयणा देख, करै को जतावणी।
ओडो न दे कहै ठीक, चोखी प्रकृति नो धणी॥
जोड़ी करता चूका कहै तास, तो ठीक कहै गुणी।
वलि माने तसु उपगार, चोखी प्रकृति नो धणी॥
चूकै पडिलेहण करत, दीयै सीख ते भणी।
हरप सहित करै अगीकार, चोखी प्रकृति नो धणी॥
चालता अजयणा देख, कह्या तसुँ वच सुणी।
कहै—भलो जतायो मोय, चोखी प्रकृति नो धणी॥
सीवत, रगत, वाटत, बोल्या कहै ते भणी।
कहै—ठीक तू परम मत्रीश, चोखी प्रकृति नो धणी॥
एक दिन मे चूका वहु वार, करै को जतावणी।
कहै—तो सम कुण मुज सैण, चोखी प्रकृति नो धणी॥
पडिकमणो पडिलेहण करंत, चूका कहै ते भणी।
करै हरख सहित अगीकार, चोखी प्रकृति नो धणी॥

७. भूले हुए को रास्ता दिखाया है—विनम्र शब्दों का प्रयोग करना।

८. आपने सावधान कर मेरी लाज रखी है—विनम्र शब्दों का प्रयोग करना।

९. कोई वैरी न वने, वैसे सुचिंतित भाषा वोलना।[1]

जिसकी प्रकृति अच्छी है उसकी नौली में निनानवे रुपये है। वह पढ़ कर पंडित नहीं हुआ है इसलिए एक रुपया वाकी है।[2]

---

१. तेरापंथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ३।१५-१७,२४]

वोले वस्त्र पहिरत, काढै खोड ते तणी।
कहै—भूला नें आण्यो माग, चोखी प्रकृति नो धणी॥
पाणी रा तड़का पड़ता देख, कह्या रीस नैं हणी।
ठीक कहै तसु अभिप्राय, चोखी प्रकृति नो धणी॥
ऊंचो माड़ो रो कहै कोय, तो प्रकृति सुधारिणी।
कहै—राखी म्हारी लाज, चोखी प्रकृति नो धणी॥
रखे वैरी हुवै कोय, विचारणा दिल घणी।
वोले गिरवा वोल, चोखी प्रकृति नो धणी॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई ३।२७]

पाया रुपइया निनाणू, प्रकृति सुध जेह तणी।
रह्यो भणवा रो रूपियो एक, चोखी प्रकृति नों धणी॥

२४

जयाचार्य और मार्क्स : एक तुलनात्मक दृष्टिकोण

विचार की गति देश और काल की सीमा से परे होती है। इतिहास इस घटना को दोहराता रहा है। एक ही काल मे एक व्यक्ति किसी देश मे जो सोच रहा है, वही सोच रहा है कोई दूसरा व्यक्ति किसी दूसरे देश में। दोनो एक दूसरे को नही जानते, पर विचार विचार को जान लेता है। जयाचार्य का अस्तित्व-काल ईस्वी १८०३ से १८८१ तक है। मार्क्स का अस्तित्व-काल ईस्वी १८१८ से १८८३ तक है। जयाचार्य का कार्यक्षेत्र हिन्दुस्तान था। मार्क्स का कार्यक्षेत्र था यूरोप। जयाचार्य आचार्य भिक्षु के अहिंसा-दर्शन का भाष्य कर रहे थे और साध-सस्था मे अहिंसा या साम्य को प्रायोगिक रूप दे रहे थे। मार्क्स समाज के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर नए दर्शन का निर्माण कर रहे थे। उन्हे अपने दर्शन को प्रायोगिक रूप देने का अवसर नही मिला। जयाचार्य के समाजीकरण के प्रयोग आज भी तेरापंथ तक सीमित है जव कि मार्क्स का दर्शन आधी दुनियां को अपनी प्रयोगभूमि वना चुका है। अहिंसा की भाग्यलिपि ही ऐसी है कि उसे प्रयोग की व्यापक भूमि नही मिल रही है। हिंसा वड़ी तेजी से फैल जाती है। मार्क्स ने कहा था—जिस साध्य की प्राप्ति के लिए बुरे साधन जरूरी होते है, वह साध्य अच्छा नही है। आचार्य भिक्षु ने यही सिद्धात दो सौ वर्प पूर्व प्रतिस्थापित किया था। जयाचार्य इसी सिद्धांत का भाष्य और प्रयोग कर रहे थे। शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन का सिद्धात धार्मिको के भी गले नही उतर रहा था, तव राजनीतिक प्रणाली में इसे समर्थन कैसे मिलता। मार्क्स के अभिन्न साथी एंजेल्स ने मार्क्स के शुद्ध साधन के सिद्धात को अपना समर्थन नही दिया। उन्होने कहा—जो साधन

साध्य तक पहुंचाए वही मेरे लिए उचित है, फिर वह अत्यंत हिंसापूर्ण हो या अत्यन्त शातिपूर्ण। साम्यवादी दुनियां ने मार्क्स के शुद्ध साधन के सिद्धांत को ठुकरा दिया, एंजेल्स के, साधन को गौण मानने के, सिद्धांत को अपना लिया।

मनुष्य दंड की भापा को जितना समझता है उतना हृदय की भापा को नही समझता। गृहस्थों की वात जाने दे। सावु भी शत-प्रतिशत हृदय की परिभापा को नही समझते। आत्मानुशासन उनका परम सूत्र है फिर भी उसका विकास लम्वी साधना के वाद होता है। कुछ साधकों में आत्मानुशासन को विकसित करने की क्षमता कम होती है। इन परिस्थितियों में अनुशासन और व्यवस्था अनिवार्य हो जाती है। जयाचार्य ने इस मनोवैज्ञानिक भूमिका के आधार पर सावु-संघ में व्यवस्था और अनुशासन को पल्लवित करने का संकल्प किया। व्यवस्था के सूत्र आचार्य भिक्षु ने दिए थे। उनके पल्लवन का कार्य जयाचार्य ने अपने हाथों में लिया, अहिंसा और समता को केन्द्र में रख इन व्यवस्थाओं को लागू किया—

१. सव साधु-साध्विया आचार्य के शिष्य होंगे। वर्ग के अग्रणी साधु-साध्वियो का किसी भी साधु-साध्वी पर स्वामित्व नही होगा। कोई किसी की शिष्य-शिष्या नही वन सकेगा।

२. सव पुस्तके आचार्य की निश्रा मे होंगी। उनका सवके लिए उपयोग हो सकेगा। सामूहिक उपयोग की पुस्तको पर किसी का व्यक्तिगत स्वामित्व नही होगा।

३. दैनंदिन उपयोग की पुस्तकें व्यक्तिगत रह सकेंगी।

४. श्रम का संविभाग अनिवार्य होगा। साधु-चर्या के जितने कार्य हैं वे सव सवको करने होंगे। कोई भी कार्यमुक्त नही रह सकता।

५. वर्ग के अग्रणी साधु को प्रतिदिन पचीस गाथाएं लिख कर देनी होंगी। वर्ग की अग्रणी साध्वी को प्रतिवर्ष एक रजोहरण और एक प्रमार्जनी तैयार करनी होगी।

६. आहार का संविभाग होगा। जो, जैसा व जितना आहार और पानी मिले उसका सव साधु-साध्वियों में समान वितरण होगा।

७. स्थान, वस्त्र तथा सामूहिक उपयोग की सभी वस्तुओं का समान वितरण होगा।

८. सेवा देना अनिवार्य होगा। वृद्ध या वीमार साधु-साध्वियो की सेवा संघीय प्रवृत्ति होगी।

९. गाथाएं व्यक्तिगत हो सकेंगी। उनका सेवा, श्रम व अन्य कार्यो के लिए विनिमय किया जा सकेगा। पर उनका कोई उत्तराधिकार किसी को नही मिलेगा।

१०. संघ से पृथक् होने वाले साधु-साध्वियो के उपकरण सघ की निश्रा (संरक्षण) में रहेंगे।

११. यात्रा और प्रवास आचार्य की आज्ञा के अनुसार होगा। वापस आने पर साधु-साध्वियो और पुस्तको का समर्पण करना होगा।

इन व्यवस्थाओं ने साधु-संघ की समतानिष्ठा को और शक्तिशाली वना दिया। इन व्यवस्थाओं के कारण आज तेरापंथ अनुकरणीय और आदर्श वना हुआ है। अनेक प्रबुद्ध लोगो का अभिमत है—इतना अनुशासित, व्यवस्थित और प्रगतिशील धर्मसंघ हमने नही देखा।

जिस समय जयाचार्य इन व्यवस्थाओ का सूत्रपात कर रहे थे, उन्ही दिनों मार्क्स साम्यवाद की भाग्यलिपि तैयार कर रहे थे। दोनो की दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्न थी, फिर भी उनके व्यवस्थात्मक पक्ष के वहुत सारे विन्दु समान है। मार्क्स और एंजेल्स ने साम्यवादी जीवन प्रणाली के लिए इन तरीकों की व्यवस्था की[1]—

१. भू-स्वामित्व का उन्मूलन और समस्त लगान का सार्वजनिक प्रयोजन के लिए उपयोग।

२. भारी वर्धमान या आरोही आयकर।

३. उत्तराधिकार का उन्मूलन।

४. सभी उत्प्रवासियों और विद्रोहियो की सम्पत्ति की जब्ती।

५. संचार और यातायात के साधनो का राज्य के हाथों मे केंद्रीकरण।

६. हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना।

मार्क्स और एंजेल्स के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था की ये विशेषताएं होंगी—

१. वर्ग समाप्ति—समाज मे वर्गभेद नही रहेगा।

---

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, पृ. ६२।

२. शोषण समाप्ति—समाज में शोषण करने वाले वर्ग नही रहेंगे, इसलिए शोषण स्वयं समाप्त हो जाएगा।

३. परिवार और सम्पत्ति की समाप्ति—परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय साथ-साथ हुआ था। साम्यवादी व्यवस्था मे इनका लोप हो जाएगा।

४. राज्य की समाप्ति। मार्क्स के अनुसार राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। साम्यवादी व्यवस्था मे वर्गभेद और शोषण नही होगा इसलिए राज्य स्वयं अर्थहीन हो जाएगा।

दोनों व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही आकर्षक है। कभी-कभी एक ही प्रकार की विचार-तरंगे पूरे आकाश मंडल मे फैल जाती है। ग्रहणशील व्यक्ति उन्हे पकड़ लेता है और हमारी विकास की शृंखला मे एक नई कड़ी जुड़ जाती है।

मार्क्स का दृष्टिकोण भौतिकवादी था। जयाचार्य की दृष्टि आध्यात्मिक थी। जैन दर्शन आध्यात्मिक दर्शन होने पर भी आदर्शवादी नही है, नितांत यथार्थवादी है। जयाचार्य मार्क्स से अधिक यथार्थवादी थे। मार्क्स ने कहा—राज्य आवश्यक नही रहेगा। जयाचार्य ने कभी नही कहा—अनुशासन या व्यवस्थातंत्र अनावश्यक हो जाएगा। मार्क्स मानव-स्वभाव को केवल परिस्थिति की उपज मानते है। जयाचार्य मानव स्वभाव के पीछे आन्तरिक संस्कार और परिस्थिति दोनों का योग मानते है। मानव-स्वभाव में क्रोध, अहंकार, कपट और लोभ की प्रेरणा को निष्क्रिय किए विना सत्ता का मोह छोड़ा नही जा सकता। सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है कि जो एक वार उसे हथिया लेता है वह उसकी पकड़ को और अधिक मजबूत करता है, उसे वनाए रखना चाहता है, छोड़ना नहीं चाहता। जैन आगमों मे कल्पातीत देवो का शासन-मुक्त समाज के रूप में चित्रण किया गया है। जो देवों के अस्तित्व में विश्वास नही करते, वे इसे दूसरे ग्रह के मनुष्य-समाज का चित्रण मान लें। पर यह सचाई है कि क्रोध आदि आंतरिक संस्कारों के वदलने पर समाज शासन-मुक्त हो सकता है। आध्यात्मिक विकास के विना यह संभव नही है। अतिचेतना का विकास होने पर व्यवस्था अपने आप वदल जाती है। व्यवस्था के वदल जाने पर भी अतिचेतना नही जागती। सामान्य चेतना के स्तर पर हृदय परिवर्तन और व्यवस्था परि-

वर्तन का समझौता ही शोषण-मुक्त समाज-रचना का आधार वन सकता है।

जयाचार्य ने समानता के सिद्धान्त को व्यवस्था के साथ जोडकर साधु-संस्था को एकरूप में संगठित कर लिया। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अस्वीकार नही किया, साथ-साथ अतिचेतना का विकास होने से पूर्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता असीम हो सकती है, इसे भी स्वीकार नही किया। उन्होंने अपने संघ को दोनों का सीमा-वोध कराया। असीम स्वतत्रता के सामने व्यवस्था की सीमा प्रस्तुत की। प्रारंभ में साधु-साध्वियो को व्यवस्था के सांचे में ढलना प्रिय नही लगा। व्यक्तिगत सुख-सुविधा मे कमी होती है तब ऐसा अनुभव होता ही है। जैसे-जैसे व्यापक दृष्टि का विकास हुआ, व्यक्तिगत स्वार्थ की चेतना अपने आप निष्क्रिय हो गई। व्यक्तिगत स्वतं-त्रता और व्यवस्था के नियंत्रण मे समझौता हो गया।

शिष्यो पर व्यक्तिगत स्वामित्व का समापन

ईसा की उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी क्राति की शताव्दी रही है। सौर-मडल के विकिरणो ने मनुष्य को प्रभावित किया। दुनिया के हर अंचल मे क्राति का स्वर मुखर हो उठा। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर ही क्रांतिया घटित नही हुई, धर्म के क्षेत्र मे भी क्राति की प्रतिष्ठा हुई। क्राति मे सामुदायिक जीवन के दो पार्श्व विशेष प्रभावित हुए— एक व्यक्तिगत स्वामित्व, दूसरा व्यक्तिगत स्वतत्रता। दो शताव्दी पूर्व (ई० १७७६ मे) आचार्य भिक्षु ने एक विधिसूत्र की व्यवस्था की। उसके अनुसार उन्होंने शिष्यो पर होने वाले व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर दिया। मुनि के लिए अपरिग्रह और असग्रह का विधान हजारों वर्ष पुराना था। ममत्व का विसर्जन मुनित्व का मूल धर्म था। पर सिद्धांत और आचरण के सामंजस्य का विन्दु उपलब्ध नही था। व्यवस्था को ममत्व विसर्जन के सिद्धात का और ममत्व विसर्जन के सिद्धात को व्यवस्था का सहारा मिले तव परिवर्तन घटित हो सकता है। कोरा ममत्व विसर्जन का सिद्धात सामुदायिक नही वनता और व्यवस्था व्यक्ति के हृदय को नही बदलती। हजारों-हजारो वर्षो से सिद्धात और व्यवस्था दोनों चल रहे है, पर दोनो मे समन्वय नही साधा जा रहा है, इसलिए समस्या सुलझ नही रही है। समस्या को सुलझाने का सही उपाय है इन दोनो का समन्वय।

व्यक्ति भी वदले और परिस्थिति भी वदले। व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना को जगाने से वदलता है और परिस्थिति सम्यक् व्यवस्था से वदलती है। केवल आध्यात्मिक दर्शन से भी सामाजिक समस्याएं नहीं सुलझतीं और केवल भौतिकवादी दर्शन में भी उन समस्याओं को सुलझाने की क्षमता नही है। दोनों का समन्वय ही समस्या का समाधान है। आचार्य भिक्षु ने इस सचाई का अनुभव किया और उन्होने सिद्धांत को व्यवस्था के ढांचे में ढालना शुरु किया। आज के राजनीतिज्ञ भी इस समन्वय की अपेक्षा अनुभव करते हैं। वे सोचते है, केवल व्यवस्था को वदलने से काम नही चलेगा। व्यवस्था-परिवर्तन के साथ व्यक्ति का हृदय भी वदलना चाहिए। डा० राममनोहर लोहिया ने इस विषय में वहुत स्पष्ट चिंतन प्रस्तुत किया है—

'अव थोड़ा सा अपने पुराने भारत की तरफ देखें। चार हजार, तीन हजार, पाच हजार वरस पहले लोगो ने देखा जरूर था कि सम्पत्ति है जड़ वदमाशी की। शायद सभी लोग मानते है कि सम्पत्ति है जड, चाहे अच्छाइयों की भी हो लेकिन वदमाशियों की तो जरूर है। यह उपनिपद् ने भी माना है, यह कम्युनिज्म भी मानता है या मार्क्सवादी भी मानता है। फर्क खाली इतना है कि मार्क्सवाद सम्पत्ति की असलियत के रोग को दूर करता है और उपनिपद् सम्पत्ति के मोह के रोग को दूर करता है। इस पर अव लम्वी वहस नही चलाएगे। खाली अपने मन की एक चाह वताये देते हैं कि शायद असली और जो नया समाजवाद दुनियां मे आएगा वह ऐसा होगा जो सम्पत्ति की असलियत और सम्पत्ति के मोह दोनों को हटाने की कोशिश करेगा। एक तरफ तो कायदे-कानून ऐसे वनाएगा कि जिसमें सम्पत्ति लोगों की व्यक्तिगत न हों और दूसरी तरफ इस तरह के समाज के ढांचे को वनाएगा, नाटक किस्से या खेल-कूद या दर्शन या कितावें या उपन्यास ऐसे चलाएगा और वचपन से ही ऐसी शिक्षा देगा कि सम्पत्ति का मोह आदमी को न हो। सम्पत्ति के निर्मोह का रास्ता पिछले तीन-चार हजार वरस में निकम्मा सावित हुआ है और इस अनासक्ति के देश में जितनी आसक्ति है उतनी दुनिया मे कही नही है। जितनी आसक्ति यहां है मैले-कुचैले, वीमार, कोढ़ वाले शरीर के लिए, विना पैसे वाली जिन्दगी के लिए, उतनी और कहीं नही है। अनासक्ति वाला जो सिद्धात था वह खतम हुआ। उसी तरह से यह मार्क्सवाद वाला सिद्धात है कि खाली सम्पत्ति की असलियत को मिटा

दो, उसका समाजीकरण कर दो या उसको समाज की सम्पत्ति वना दो तो काम नही चलेगा। शायद इसका भी वही होने वाला है। कोई सिद्धान्त दोनों को साथ लेकर चले कि जो मन को भी साफ करे, मोह को भी दूर करे।"[1]

आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में सिद्धान्त और व्यवस्था के समन्वय का प्रयोग शुरू किया। उन्होने अनुभव किया—जैसे गृहस्थ अपना परिवार वढ़ाता है वैसे ही साधु अपने शिष्यों का परिवार वढाने में लगे हुए है। शिष्यों पर व्यक्तिगत स्वामित्व विकसित हो रहा है। साधु-संस्था में आचार-शुद्धि के क्रातिकारी परिवर्तन अपेक्षित है, पर इन छोटे-छोटे गुटो पर किसी का नियंत्रण नही है। सामुदायिक नियंत्रण के विना परिवर्तन संभव नहीं है। इस चिंतन के आधार पर उन्होंने शिष्यो पर होने वाले व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर संघीय व्यवस्था का सूत्रपात किया। व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति की दिशा में उठा यह पहला चरण था।

जयाचार्य ने देखा—सव साधु आचार्य के अधिकार में हैं। आचार्य संघ के प्रतीक होते हैं इसलिए कहा जा सकता है कि सव साधु संघ के हैं। फिर भी ममत्व की पकड़ अभी पूर्णरूपेण छूटी नही है। सव साधु एक साथ नही रहते। वे अलग-अलग वर्गो (सिंघाडो) मे विभक्त है। प्रत्येक वर्ग का एक मुखिया होता है। उसके साथ कुछ साधु होते है। उसके पास हस्तलिखित पुस्तके होती है। उन पर भी उसका स्वामित्व है। दूसरों को उनका उपयोग करने देना या न देना उसकी इच्छा पर निर्भर है। जयाचार्य ने इस व्यवस्था को संघीय वनाने का संकल्प किया। साधुओ के वर्ग उन्होने व्यवस्थित किए। साध्वियों के वर्गो की व्यवस्था कुछ जटिल थी। उसे सुलझाने के लिए एक शक्तिशाली माध्यम की जरूरत थी। धर्म के शासन मे दण्डशक्ति का प्रयोग नही होता। व्यवस्था व विधि भी स्वतंत्र चेतना से स्वीकृत होती है। जो प्रेम व वात्सल्य से साध्वियों के दिल को जीत सके, उन्हें आश्वस्त-विश्वस्त कर सके, उनका हृदय वदल सके, वैसे माध्यम की खोज की जयाचार्य ने। साध्वी सरदाराजी उनकी दृष्टि के सामने उपस्थित हुई। सं० १९१० मे उन्हे साध्वीप्रमुखा वना दिया। सरदाराजी को तेरापंथ मे प्रथम साध्वी-प्रमुखा वनने का गौरव प्राप्त हुआ। उन्होने साध्वियो की व्यवस्था का कार्य

---

१ समाजवाद की अर्थनीति पृ. २३-२४, लखक—डा० राममनोहर लोहिया।

वड़ी कुशलता से किया। जयाचार्य भी प्रसन्न थे, साध्वियां भी प्रसन्न थीं। साध्वी-समुदाय में उनके कार्यकौशल की छाप अंकित हो गई। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली वन गया।

जयाचार्य ने उपयुक्त समय देख साध्वियों के वर्गों की पुनर्व्यवस्था करने का निर्णय किया। यह घटना सं० १९१५ की है। उन्होंने साध्वियों को प्रेरित किया—सभी वर्ग सरदाराजी की निश्रा (संरक्षण या अधिकार) मे आ जाएं। सर्व प्रथम साध्वी नवलांजी का वर्ग उनकी निश्रा में आया। धीरे-धीरे अन्य वर्ग भी उनकी निश्रा में आने लगे। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया की गति धीमी होती है, इसलिए इसमें कुछ समय लगता है; पर यह स्थायी और प्रतिक्रिया-मुक्त होती है। जो वर्ग अस्वस्थता या वुढ़ापे के कारण आने मे असमर्थ थे, उन्होंने भी साधु-साध्वियों के माध्यम से अपनी स्वीकृति भेज दी। प्रारंभिक कार्य संपन्न हो गया। साध्वियों के सभी वर्गो की व्यवस्था साध्वीप्रमुखा सरदारांजी के नियंत्रण में आ गई। पुनर्व्यवस्था का पहला चरण संपन्न हो गया।

उस समय तेरापंथ में एक सौ चौहत्तर साध्वियां थी। उनके दस वर्ग थे। किसी वर्ग में दस, किसी में वारह साध्वियां थीं तो किसी वर्ग में तीन या चार साध्विया थी। वर्गों में संविभाजन नही था। जयाचार्य ने साध्वीप्रमुखा से कहा—अव पुनर्व्यवस्था का अंतिम चरण संपन्न करना है। प्रत्येक वर्ग में चार या पाच साध्वियां रहें। जिन वर्गों में साध्वियां अधिक है, उन्हें लेकर नए वर्ग वनाए जाएं। जयाचार्य के निर्देशानुसार रात्रि के समय में सारी व्यवस्था की आयोजना की और दूसरे दिन प्रातःकाल नामों की सूची जयाचार्य के सामने प्रस्तुत कर दी। उन्होंने साध्वीप्रमुखा द्वारा प्रस्तुत आयोजना को अपनी स्वीकृति दे दी और नए वर्गो के नामों की घोषणा कर दी। पहले दस वर्ग थे। नई व्यवस्था के अनुसार तैंतीस वर्ग हो गए—दस पुराने और तेईस नए। पहले दस गावों मे चातुर्मास होते थे, अव तैंतीस गांवों मे चातुर्मास होने की स्थिति वन गई। कुछ साध्वियां आचार्यवर की सन्निधि मे रही। इस व्यवस्था से धर्म-प्रचार का क्षेत्र व्यापक हो गया।

पुस्तकों का संघीकरण

साधु जीवन ज्ञान और आचार की आराधना के लिये है। पुस्तकें

ज्ञान की संवाहक हैं। इसलिए साधु-संस्था में उनका वहुत महत्त्व रहा है। पुराने जमाने में हस्तलिखित पुस्तकें थी, प्रकाशित पुस्तके वहुत कम मिलती थी। साधु-साध्वियों के कुछ वर्गो के पास पुस्तके अतिरिक्त थी, कुछ वर्गो के पास नही थी। जयाचार्य ने सोचा—पुस्तकें सवको सुलभ होनी चाहिए। कोई भी वर्ग अपनी पुस्तके दूसरे वर्गो को देने के लिए तैयार नही था। एक दिन उन्होंने साधु-साध्वियों की परिषद् आमन्त्रित की। वर्ग के मुखिया साधु-साध्वियों से पूछा—'साधु-साध्वियां किसके है? सव ने एक स्वर में कहा—आपके है। दूसरा प्रश्न पूछा—पुस्तकें किसकी है? उत्तर मिला—जिस वर्ग के पास है, उसकी है।

जयाचार्य ने कहा—साधु-साध्विया मेरे है और पुस्तके आप लोगो की है। अव मेरे साधु-साध्विया पुस्तको का भार नही उठाएगी। जो वर्ग के अग्रणी है, वे ही अपनी पुस्तकों का भार उठाए।'[1] जयाचार्य के इस निर्णय से अग्रणी साधु-साध्वियो के सामने असमंजस की स्थिति पैदा हो गई। उन्होने विनम्र स्वर मे कहा—आचार्यप्रवर! अकेला अग्रणी इतना भार कैसे उठा सकेगा?

जयाचार्य—यदि भार न उठा सके तो पुस्तकें संघ को समर्पित करे। कुछ वर्गो ने तत्काल अपनी पुस्तके जयाचार्य के चरणो मे समर्पित कर दीं। कुछ वर्ग तत्काल अपने स्वामित्व का विसर्जन नही कर सके, किन्तु कुछ समय वाद उन्होंने भी अपनी पुस्तकों से अपना स्वामित्व हटा लिया। साध्वियों के वर्गो ने अपनी पुस्तके साध्वीप्रमुखा सरदाराजी को भेट की। उन्होंने वे जयाचार्य को भेंट कर दी। अव सारी पुस्तकें जयाचार्य की निश्रा में (सघीय) हो गई।

पुस्तको का वितरण

साधुओ के पास पुस्तकें अधिक थी, साध्वियों के पास कम। जयाचार्य ने साधु-साध्वियों के सभी वर्गो में उनका अपेक्षानुसार वितरण किया। अग्रणी साध्वियों से मर्यादा-पत्र पर हस्ताक्षर करवाए—साध्विया और

---

१. यात्रा के समय साधुओ का भार उन्ही के कधो पर होता है, वे अपने भार को न तो कही रख कर जाते हैं और न किसी वाहन का उपयोग करते हैं।

पुस्तकें सव आचार्य की निश्रा में हैं। तुम्हें ये प्रतिहारिक[1] रूप में दी गई हैं। चातुर्मास पूरा होने पर आचार्य के दर्शन करें, तव इन्हें आचार्य के चरणों में समर्पित करेंगी, इन पर ममत्व नही करेंगी, अपनापन नही जताएंगी।[2]

तेरापंथ में यह परंपरा आज भी अविच्छिन्न रूप से चल रही है। साधु-साध्वियों के वर्गों के अग्रणी आचार्य के दर्शन कर कहते हैं—"ये साधु (या साध्वियां) और पुस्तकें सव आपके चरणों में समर्पित है। मैं भी आपके चरणों में समर्पित हूं। आप मुझे जहां रखें वहां रहने का भाव है।" यह समर्पण किए विना अग्रणी जल भी नही पी सकता।

मुद्रांकन-प्रणाली

जयाचाय अध्यात्म के मर्मज्ञ थे। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के सापेक्ष मूल्यों से परिचित थे। स्वतंत्रता मनुष्य का अंतिम साध्य है, पर सामाजिक जीवन में वह असीम नही हो सकती। नियंत्रण सामाजिक जीवन का पूरक है, पर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को प्रतिष्ठित नही किया जा सकता। अराजकतावादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सर्वोच्च अच्छाई (सुप्रीम गुड) मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का पूर्ण विकास स्वतंत्रता में निहित है। प्रधों के शब्दों में 'राजनीति स्वतंत्रता का विज्ञान है।' लिओ टालस्टाय (१८२८-१९१०) सत्ता के विरोधी थे। महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) सत्ता का विकेंद्रीकरण चाहते थे। मार्क्स ओर एंजेलस ने भी राज्य-विहीन समाज-व्यवस्था की परिकल्पना की थी, किन्तु उन्होंने कहा—संक्रांति-काल में सर्वहारा अधिनायकत्व रहेगा। उस (सर्वहारा अधिनायकत्व) में राज्य का अस्तित्व वना रहेगा। लेनिन राज्य-विहीन समाज को आदर्श ही मानते थे, व्यवहार्य नही। उनके मत में शक्ति और हिंसा के केन्द्रीय संगठन शोपक वर्ग के अवशेपों को समाप्त करने व समाजवादी व्यवस्था का मार्ग-दर्शन करने के लिए जरूरी रहेंगे। अधिनायकवादी व्यवस्था में नियंत्रण पर वल है, और जनतांत्रिक व्यवस्था मे स्वतंत्रता पर वल है। किन्तु इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि अधिनायकवादी व्यवस्था में स्वतंत्रता का कोई मूल्य नही है और जनतांत्रिक व्यवस्था में नियंत्रण के लिए कोई स्थान नही है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक

१. जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व न हो, जो आवश्यकतापूर्ति के लिए ली या दी गई हो

२. ते. आ. ख. २, पृ. १२० [जयसुजश, ३६।११,१२]।

जीवन में स्वतंत्रता और नियंत्रण दोनों सापेक्ष ही चल सकते हैं। निरपेक्ष स्वतंत्रता इस स्थूल शरीर से परे सूक्ष्म शरीर के जगत् में जीनें वाले अध्यात्म-साधक में हो सकती है। इसी प्रकार निरपेक्ष नियंत्रण भी मानवता की सीमा से परे पहुंचाने वाला कोई क्रूर शासक ही कर सकता है।

धर्म का सूत्र है—कोई किसी पर शासन न करे। भगवान् महावीर ने कहा—कोई मनुष्य किसी मनुष्य द्वारा शासित होने योग्य नही है। महान् दार्शनिक लाओत्से ने भी कहा था—एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर शासन करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। सिद्धान्ततः व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पल्ला भारी है। व्यवहार के धरातल पर नियंत्रण का पक्ष सशक्त है। जयाचार्य हृदय-परिवर्तन के पक्षधर थे, साथ-साथ नियत्रण को उसका पूरक मानते थे। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और नियत्रण में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। जो पुस्तके समुच्चय[1] की हो गईं, उन पर उन्होने मुद्रांकन का निर्देश दिया। वह मुद्रांकन की प्रणाली आज भी चालू है। मुद्रा-कन की भाषा थी—'यह ग्रंथ भिक्षु, भारीमाल, ऋषिराय, जीतमल आदि गणपति नें वर्तमान आचार्य री निश्रा में है।'

कुछ पुस्तके निरंतर पढ़ने के काम आती थी, उन्हें व्यक्तिगत रखने की स्वीकृति दें दीं। जो पुस्तकें साधु लिखते और अपने उपयोग के लिए रखना चाहते, उन्हें भी व्यक्तिगत रखने की स्वीकृति दें दीं। उन पर मुद्रां-कन नही किया गया। मुनि किसी भी वस्तु के लिए 'मेरी' या 'अपनी' का प्रयोग नही कर सकता। इसीलिए वह 'निश्रा' का प्रयोग करता है। इसका आशय यह है—'मैं उस वस्तु का उपयोग कर रहा हू, अभी वह मेरे संरक्षण में है।' यह निर्ममत्व का सिद्धात प्रयोग मे नही आ रहा था। जयाचार्य ने व्यवस्था के द्वारा उसे प्रायोगिक वना दिया। समुच्चय की पुस्तकों को किसी वर्ग से लेना, किसी वर्ग को देना, यह सव आचार्य के अधिकार में आ गया।

---

१ जो सघीय हो, सवके लिए हो, वह 'समुच्चय' का उपकरण कहलाता है। हमारी व्यवस्था मे व्यक्तिगत और समुच्चय —ये दोनो प्रणालियाँ मान्य हैं।

व्यक्तिगत पुस्तकों का उपयोग करने में हर व्यक्ति स्वतंत्र था।[1]

देहावसान के बाद व्यक्तिगत पुस्तके भी समुच्चय की हो जाती थी। आचार्य से स्वीकृति प्राप्त किए बिना कोई साधु अपनी पुस्तकें किसी दूसरे साधु को नही दे सकता।

गाथा प्रणाली

जैसे-जैसे साधु-साध्वियो की संख्या बढी वैसे-वैसे पुस्तकों की अपेक्षा भी बढ़ी। कुछ पुस्तके यतियो के ग्रंथ-भंडारों से मिल जाती और शेष पुस्तको की पूर्ति मुनि लिख कर करते। उन दिनो हस्तलिखित पुस्तकों का ही प्रचलन था। जयाचार्य ने लिपि-सुधार का प्रयत्न किया। अनेक मुनि हस्त-लिपि मे कुशल हो गए।

पुस्तके समुच्चय की हो गईं। अब लिखने का आकर्षण क्या होगा ? यह प्रश्न जयाचार्य के मस्तिष्क मे घूम रहा था। इसका समाधान उन्होंने गाथा-प्रणाली की व्यवस्था मे खोजा। इस प्रणाली को अपरिग्रही साधुओं की अर्थ-व्यवस्था कहा जा सकता है।

जयाचार्य ने बत्तीस अक्षर के पद्य को एक गाथा मानकर व्यवस्था की—जो व्यक्ति जितनी गाथा लिखेगा, उसके उतनी गाथा जमा हो जाएंगी।

---

१ कुछ साधु अपने वर्ग की पुस्तकें समुच्चय की निश्रा में देना नही चाहते थे। जो अधिकार प्राप्त होता है उसे छोड़ना सहज-सरल नही होता। जयाचार्य नियत्रण के द्वारा उनकी पुस्तको को लेना नही चाहते थे। उन्होने एक नया रास्ता खोज निकाला। उन्होने कुछ साधुओं को चालू व्यवस्था मे छूट दी, बदले मे उनसे पुस्तके ली। मुनि बच्छराजजी ने सकल्पपत्र लिखा—चार सौ एक पन्ने मैं अपनी निश्रा मे रखूंगा, शेष जितना लिखूंगा, वह सब जयाचार्य को सौंप दूगा।

● मुनि भवानजी ने परिषद् के बीच इकतीस सौ पन्ने भेंट किए।

● ऋषि हिंदूजी को समुच्चय का भार उठाने की व्यवस्था से मुक्त किया, उसके बदले में उन्होंने १८९५ पन्ने दिए। १२०५ पन्ने और दिए। कुल मिलाकर उन्होंने ३१०० पन्ने भेंट किए।

● मुनि हीरालालजी ने ३१०० पन्ने समर्पित किए।

इस प्रकार अन्य साधुओ ने व्यवस्था से कुछ छूट ली और अपने पन्ने भेंट किए। यह कार्य बहुत ही उल्लासमय वातावरण में हुआ। जयाचार्य ने सकल्प-पत्रो पर हस्ताक्षर किए और सबद्ध मुनि ने भी उस पर हस्ताक्षर किए। आचार्य और साधु—दोनो की सहर्ष स्वीकृति से कार्य सपन्न हुआ।

हस्तलिपि और लेख्य ग्रंथ दोनों आचार्य द्वारा स्वीकृत होने पर ही गाथाएं जमा की जा सकेंगी। गाथा जमा कराने का आकर्षण पैदा करना जरूरी था, इसलिए उन्होंने अग्रणी साधु-साध्वियों पर कर लगाया। उसके अनुसार प्रत्येक अग्रणी साधु को प्रतिदिन पच्चीस गाथाएं भरना और प्रत्येक अग्रणी साध्वी को प्रति वर्ष एक रजोहरण और एक प्रमार्जनी भेट करना अनिवार्य हो गया। इस व्यवस्था से साधुओं मे लिपि-कला का और साध्वियो में निर्माण-कला का विकास हुआ। लिपि की प्रेरणा पुष्ट हो गई। गाथा जमा कराने की मनोवृत्ति भी वन गई।

आय और व्यय के स्रोत

गाथा प्रणाली को उपयोगी वनाने के लिए उसे सेवा और कार्य के साथ जोड़ दिया गया। रुग्ण साधु की एक दिन की सेवा कर कोई भी साधु पच्चीस गाथा जमा करा सकता था। दूसरे साधु के समुच्चय का कार्य कर उससे गाथाएं प्राप्त की जा सकती थी। प्रति-लेखन गाथाओ की आय का मुख्य स्रोत था। सेवा लेने, दूसरे साधु से समुच्चय का कार्य कराने, समुच्चय का भार न उठाने के वदले मे गाथाएं कटती थी। साध्वियो के पास कपड़ों की सिलाई और पात्रों का रंग-रोगन करने के वदले मे गाथाएं भरानी होती थी। इन सवका निश्चित अनुपात था। जयाचार्य ने एक ऐसी अपरिग्रही अर्थ-व्यवस्था को जन्म दिया, जिसका आधार पच्चीस प्रतिशत स्वाध्याय ग्रंथ और पचहत्तर प्रतिशत सेवा और श्रम था।

प्रतिवर्ष गाथाओ के आय-व्यय का लेखा करने की पद्धति चालू की गई। मर्यादा महोत्सव के अवसर पर जव साधु इकट्ठे होते तव जयाचार्य द्वारा नियुक्त लेखपाल गाथाओं का लेखा करते। जयाचार्य को लेख-पत्र दिखा कर लेखा किया जाता और लेखा कराने पर फिर उन्हें दिखाना होता। गाथाओ के जमा या नामे का लेखा-पत्र सवद्ध व्यक्ति को दिया जाता और उसकी प्रतिलिपि लेखपाल के पास रहती।

आहार का संविभाग

असंविभागी को मोक्ष नही मिलता—भगवान् महावीर के इस शिक्षा-पद को पढने वाला असंविभागी कैसे होगा ? फिर भी यह शिक्षापद है, हृदय-

परिवर्तन का सूत्र है। यह व्यवस्था-सूत्र नहीं है। व्यवस्था का संबंध परि-स्थिति के साथ होता है।

आचार्य भिक्षु के समय में साधु अधिक थे, साध्वियां कम थीं। उन्हें एक गाँव में साथ-साथ चातुर्मास करने का अवसर भी कम मिलता था। कभी-कभी ऐसा अवसर मिलता तब गोचरी में जो आहार आता, उसमें प्राथमिकता साधुओं की रहती, अवशिष्ट आहार साध्वियों को मिलता। ऋषिराय तक यह प्रणाली चालू रही। जयाचार्य ने किशनगढ़ में एक व्यवस्था की। उन्होंने कहा—आगम मे पुरुष के लिए बत्तीस और स्त्री के लिए अट्ठाईस कवल आहार का प्रमाण बतलाया गया है। गोचरी में आने वाले आहार को इस आधार पर साधु-साध्वियों में संविभाग किया जाए। इस अनुपात से आहार का संविभाग होने लगा। आचार्य के प्रवास-स्थल पर सारा आहार इकट्ठा होता। फिर साधु उक्त अनुपात से उसका संविभाग कर साध्वियों के हिस्से का उन्हें दे देते। साध्वियां उस आहार को बड़ी साध्वी के प्रवास-स्थल पर विभक्त कर लेती।[1] यह व्यवस्था कुछ महीनों तक चलती रही। अगले वर्ष नाथद्वारा में दीपावली के दिन इस व्यवस्था को बदल दिया। बत्तीस और अट्ठाईस कवल के अनुपात वाली व्यवस्था को समाप्त कर पूर्ण संविभाग की व्यवस्था चालू कर दी।[2]

संविभाग मात्र व्यवस्था न हो, वह हृदय-परिवर्तन के द्वारा स्वीकृत हो, जयाचार्य यह चाहते थे। वे हृदय-परिवर्तन के कुशल प्रयोगकार थे। उन्होंने संविभाग के गुण और असंविभाग के अवगुण बताने वाला एक लघु निबंध लिखा और एक गीतिका रची। उसका नाम रखा 'टहुका'। इस का अर्थ है—कोयल की कुहक। आहार के समय यह साधुओं को सुनाया जाता। धीमे-धीमे संस्कार बदल गए। संविभाग का प्रयोग हृदयंगम हो गया।

आहार के संविभाग को व्यावहारिक रूप देने के लिए कुछ पूरक व्यवस्थाएं अपेक्षित थी। पहले मंडल की व्यवस्था की गई। सुविधा की दृष्टि से साधु-साध्वियो के मंडल (छोटे-छोटे यूनिट) बनाए। मारवाड़ी में उन्हें स्हाज (संस्कृत—साहाय्य) कहा जाता है। एक मंडल का मुखिया होता और तीन या चार उसके सहायक होते। सर्दी की मौसम में साधु-साध्वियों

---

१ तें. आ. खं. २, पृ० १२२ [जयसुजश ३७।८-११]।
२. तें आ. ख. २, पृ० १२५ [जयसुजश, ३६।४-५]।

की संख्या वढ़ती तव मंडल की संख्या भी वढ जाती और मंडलों में साधु-साध्वियों की संख्या भी वढ़ जाती। मंडल के मुखिया पर अपने सहयोगियो की देख-भाल का दायित्व भी रहता। कोई भी साधु अकेला आहार नही कर सकता था। प्रत्येक साधु के लिए मंडल में रहना अनिवार्य था। दूसरी व्यवस्था संविभाग-पत्र की की गई। इसे 'धडा' कहा जाता था। इसके द्वारा आहार की मात्रा का (न कम, न अधिक) नियमन होता था। संविभाग-पत्र में भोजन-द्रव्यों की तालिका होती, मंडल के मुखिया के नाम अंकित होते। भोजन-द्रव्यो के विभाग की मात्रा अकों मे निश्चित कर दी गई। मंडल के मुखिया अपने-अपने मंडल की अपेक्षा के अनुसार विभाग के अंक अपने-अपने कोष्ठकों में लिख देते। जितने विभागांक होते, उतने भोजन की व्यवस्था आचार्य करते। भोजन आने पर उसका विभागांकों के अनुसार संविभाग हो जाता।

श्रम का संविभाग

कार्य को दो भागो में विभक्त किया गया—व्यक्तिगत और समुच्चय। व्यक्तिगत कार्य सव अपना-अपना करते थे। आचार्य के कार्य तथा संघीय कार्य समुच्चय के कार्य होते है। इस कार्य के लिए पहले कोई निश्चित व्यवस्था नही थी। जयाचार्य ने प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए समुच्चय-कार्य को अनिवार्य-सेवा वना दिया। प्रत्येक साधु-साध्वी दीक्षा-पर्याय के क्रम से वारी-वारी कार्य करने लगे। सव काम व्यवस्थित रूप से संपन्न होने लग गए।

व्यक्तिगत काय में स्वार्थ की प्रवल प्रेरणा होती है, व्यक्तिगत लाभ का आकर्पण होता है। समुच्चय कार्य के साथ कोई प्रेरणा जुडी हुई नही होती, सीधा लाभ नही मिलता। इसलिए समुच्चय-कार्य वहुत कम सफल होते है। जयाचार्य ने सामुदायिक कार्यक्रमों के साथ 'निर्जरा' की प्रेरणा जोड़ी। साधु-संस्था में निर्जरा के प्रति वहुत आकर्षण होता है। निर्जरा का अर्थ है—चित्त की निर्मलता। इस प्रेरणा ने सामूहिक व्यवस्था की सुसंपन्नता में महत्वपूर्ण योग दिया। अच्छा कार्य करने वालो को समय-समय पर पुरस्कृत किया, उन्हें प्रोत्साहन दिया। फलतः समुच्चय की व्यवस्था स्वाभाविक वन गई। समुच्चय के मुख्य-मुख्य कार्य ये थे—

१. स्थान का प्रमार्जन—जिस स्थान में आचार्य या साधु-साध्वियों का प्रवास होता है, उस की सफाई।

२. पुस्तकों का प्रतिलेखन—हस्तलिखित पुस्तकों की सार-संभाल।

३. आहार संविभाग—संविभाग-पत्र लिखाना, आचार्य को निवेदन करना, आहार आ जाने पर उसका विभाग कर प्रत्येक मंडल को निमंत्रित करना और मंडलपति के दीक्षा-पर्याय की जेष्ठता के क्रम से आहार का विभाग देना।

४. जल का संविभाग—आहार की भांति जल का विभाग करना।

५. स्थान प्रतिलेखन—कोई भी वस्तु नीचे बिखरी हुई न रहे, स्थान के बाहर, छत पर या खुले आकाश में न रहे, इसकी देखभाल करना। जिनके वस्त्र-खंड आदि गिर गए हों, उन्हें यथास्थान पहुंचाना।

६. उत्सर्ग-व्यवस्था—प्रस्रवण के स्थान आदि की व्यवस्था करना।

७. आचार्य के बैठने के स्थान, पट्ट आदि की व्यवस्था करना।

मंडल के समुच्चय-कार्य भी बारी-बारी से संपादित किए जाते।

जयाचार्य के लिए प्रयोगभूमि थे मुनि मघवा। नया कार्य और नई व्यवस्था का पहला प्रयोग उन्हीं पर होता। उन पर किया गया प्रयोग सहज ही सर्वमान्य हो जाता। प्रचलित व्यवस्था के अनुसार दीक्षा-पर्याय में छोटा मुनि समुच्चय के कार्य करता। किसी दूसरे मुनि के दीक्षित होने पर वह समुच्चय के कार्य करने से मुक्त हो जाता। जयाचार्य ने इस व्यवस्था को बदल कर बारी-बारी से एक-एक दिन समुच्चय के कार्य करने की व्यवस्था को प्रचलित करना चाहा, पर जो मुनि पुरानी व्यवस्था के अनुसार कार्य कर चुके थे, वे नई व्यवस्था से सहमत नही हो रहे थे। जयाचार्य ने कहा—मघजी! मैं समुच्चय के कार्य की नई व्यवस्था करना चाहता हूं, क्या तुम उसके लिए तैयार हो?

मघवा—आचार्यवर जो व्यवस्था करना चाहें, उसके लिए मैं तैयार हूं।

आचार्यवर ने कहा—पांच वर्ष तक समुच्चय के कार्य बारी-बारी से करने का संकल्प करो।

मघवा ने संकल्प स्वीकार कर लिया। मघवा की स्वीकृति का अर्थ हुआ सबकी स्वीकृति।

समानता का अर्थ

जयाचार्य ने जीवन की अनिवार्य अपेक्षाओं की पूर्ति के क्षेत्र में

समानता के प्रयोग किए। कोई विद्वान् व जनता में सम्मान-प्राप्त मुनि हो या कोई साधारण क्षमता वाला मुनि हो, आहार और श्रम के संविभाग मे दोनों मे कोई भेद नहीं किया जा सकता। वर्ग और मंडल का मुखिया योग्यता-संपन्न को ही वनाया जा सकता है, साधारण को नही। योग्यता से संवंधित कार्यो मे समानता का सिद्धात नही होता। जीवन-यात्रा की अपेक्षा और योग्यता—ये दो भिन्न आधार है। दोनो को एक ही तराजू से नहीं तोला जा सकता। अनिवार्य श्रम और संघीय-क्षमता में वृद्धि करने वाले श्रम के मूल्याकन का दृष्टिकोण भी भिन्न था। समता का अर्थ यांत्रिकता नही है। वह विवेक द्वारा संचालित प्राणवान् प्रणाली है। मार्क्स-वाद मे भी श्रम और योग्यतापूर्ण श्रम के प्रति मूल्याकन का दृष्टिकोण एक नही हैं। यशपाल ने लिखा है—

"समाजवादी आर्थिक-व्यवस्था में समता को ठीक रूप में समझ लेने के लिये समाजवाद के इस सिद्धात पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का पूरा फल पाने के समान अवसर"—इसका स्पष्ट अर्थ है कि यदि एक व्यक्ति विशेष श्रम द्वारा या विशेष परि-श्रम से प्राप्त की गई योग्यता द्वारा समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण काम करता है तो वह अपने श्रम के पूरे फल अर्थात् साधारण योग्यता और श्रम से समाज के लिये काम करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक फल का अधि-कारी है। रूसी समाजवादी समाज में इसका क्रियात्मक उदाहरण मौजूद है। रूस मे हथौड़ा चलाने वाले या कोयला झोंकने वाले मजदूर की अपेक्षा मशीनों का आविष्कार करने वाले व्यक्ति अधिक फल या वेतन पाते है।

"प्रश्न यह हो सकता है कि फिर आर्थिक समता कैसे हुई? यदि एक व्यक्ति अपने श्रम के फल से मोटर खरीद कर सवारी कर सकता है और दूसरे को पैदल चलना पड़ता है तो समता क्या हुई? समाजवादी समता यह है कि दोनों व्यक्ति अपने-अपने श्रम का पूरा फल पा रहे है। मोटर पर चढ़ने वाला व्यक्ति अपने अधिक उपयोगी श्रम का फल पा रहा है, किसी दूसरे के श्रम का भाग हथिया कर मुनाफा नही कमा रहा है। हथौड़ा चलाने वाले या कोयला झोकने वाले व्यक्ति के साथ समता और न्याय का व्यव-हार यह है कि उसे अपने श्रम का पूरा फल मिलेगा और उसे शिक्षा द्वारा अपने योग्यता वढ़ाने का भी अवसर होगा।"

"समाज यदि अधिक योग्यता से समाज के लिए काम करने वाले व्यक्तियों और अधूरी योग्यता से काम करने वाले व्यक्तियों को एक ही जैसा फल देता है तो यह भावुकता पूर्ण समता कहलायेगी। यह समता व्यावहारिक नहीं होगी।"[1]

सेवा की अनिवार्यता

वृद्ध व वीमार साधु की सेवा प्रत्येक साधु के लिए तथा वृद्ध व वीमार साध्वी की सेवा प्रत्येक साध्वी के लिए अनिवार्य कर दी गई। साध्वियों के लिए लाडनू में एक सेवा-केन्द्र की स्थापना की गई। साध्वियों के प्रत्येक वर्ग के लिए एक वर्ष की सेवा देना अनिवार्य है। सेवा को बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त है। वह अपने चित्त की निर्मलता के लिए की जाती है। इसलिए तेरापंथ की सेवा-वत्ति एक अनुकरणीय आदर्श मानी जाती है।

१, मार्क्सवाद, पृ. ७३,७४।

२५

शक्ति का रहस्य

शक्ति-पूजा सवसे वड़ी पूजा है। जलती आग का अस्तित्व सव मानते हैं। बुझी हुई आग राख बन जाती है। उस पर नि.संकोच भाव से लोग घूमते-फिरते हैं। शक्ति है ज्योति; शक्ति है प्रज्वलन। उसके प्रगट होने के दो उपाय है—एकाग्रता और ध्येय के प्रति समर्पण। जयाचार्य शक्ति-संपन्न पुरुष थे। उनकी शक्ति को खोजा जा सकता है उनकी जीवन-घटनाओं मे। सं० १८७५ के आसपास की घटना है। उस समय वे पंद्रह वर्ष की अवस्था में थे। मुनि हेमराजजी के पास अध्ययन कर रहे थे। एक वार मुनि हेमराजजी पाली पधारे, वाजार की दुकानो मे ठहरे। उन दिनों वहां एक नट मंडली आई हुई थी। नटों ने वाजार मे नाटक शुरू किया। हजारो लोग अपलकदृष्टि से उसे देख रहे थे। उस समय जयाचार्य किसी ग्रंथ की प्रतिलिपि करने मे लीन थे। एक वृद्ध पुरुष की आंखे नाटक से हट कर उन पर जा टिकी। वह इस टोह मे था कि सामने बैंठा वालक मुनि कव नाटक देखता है। डेढ-दो घटा के वाद नाटक पूरा हो गया। तव उस वृद्ध ने अपने साथियो से कहा—'हम लोग तेरापंथ की नीव को कमजोर करना चाहते है, पर वह कमजोर नही होगी। वह सौ वर्ष तक तो हिलेगी ही नही।' साथियो ने आश्चर्य के साथ पूछा—'तुम यह कैसे कहते हो ?' उसने कहा—'प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर कहता हू। तुम लोग अभी नटों का नाटक देख रहे थे। मैं इस वाल मुनि का नाटक देख रहा था। मेरा ध्यान इस ओर चला गया—वाल मुनि कब नाटक देखता है। न उसने नाटक देखा और न मैने देखा। वह अपने काम में लगा रहा और मै उसके छिद्रान्वेषण मे लगा

रहा। आखिर नाटक संपन्न हो गया। जिस संघ में ऐसा 'स्थितप्रज्ञ' एकाग्र-चित्त वाला और अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित मुनि है, वह संघ अवश्य चिर-जीवी है। उसकी नींव को हिलाने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकेगा।'

जीवन और मृत्यु की संधि-वेला चल रही थी। वावू दुर्गाप्रसादजी नाड़ी देखने आए। साधुओं ने जयाचार्य से प्रार्थना की—वावूजी आए हैं। जयाचार्य ने इसका कोई उत्तर नही दिया। साधुओ ने सोचा, मौन होगा अथवा हलकी सी झपकी आई होगी। थोड़ी देर वाद जयाचार्य स्वयं वोले—उस समय मै ध्यान में था, इसलिए मैने कोई उत्तर नही दिया।[1] वचपन में जिस एकाग्रता का दर्शन होता है वह जीवन की संध्या में कितनी विकसित हो जाती है, उसकी कल्पना नही की जा सकती। मनुष्य चलता-फिरता हो या मृत्यु-शय्या पर स्थित, स्वस्थ हो या अस्वस्थ, यदि वह ध्यान का अभ्यासी है तो उसके ध्यान सहज ही घटित हो जाता है।

जयाचार्य ध्यान के सैद्धान्तिक और अभ्यास—दोनों पक्षों का स्पर्श कर रहे थे। उन्होने योग की युक्तियों को हृदयंगम किया था।[2] वे लंबे समय तक ध्यान और कायोत्सर्ग की मुद्रा मे रहते थे। ध्यान के विपय में उनकी तीन लघु रचनाएं मिलती हैं। 'छोटो ध्यान' और 'वड़ो ध्यान'—ये दोनों गद्य में लिखित है। 'आतम ध्यान' उनकी पद्यात्मक कृति है।[3] इनमें श्वासप्रेक्षा, भेद-विज्ञान और लेश्याध्यान (रंगों का ध्यान) की महत्त्वपूर्ण पद्धतियां प्रदर्शित है। 'अ सि आ उ सा' उनका इष्ट मन्त्र था। इस मंत्र की आराधना से उन्हे दिव्य-आत्मा का साक्षात्कार हुआ, ऐसा उनकी रचनाओं से ध्वनित होता है।[4]

आचार्य भिक्षु उनके प्रेरणा-स्रोत थे। उनके साथ जयाचार्य का तादात्म्य अपूर्व था। वह उन्हे शक्ति-धारा से अभिपिक्त करता रहता था।

---

१. ते. आ. ख २, पृ. १९० [जयसुजश, ६४।१-३]।

२. ते आ. ख. २, पृ. २०३ [जयसुजश, ६६।३१]।

३ आराधना [ध्यान प्रकरण] पृ. ९५-९७।

४. (क) आराधना [अध्यात्म पदावली—जिनशासनमहिमा १।२४] पृ. १४२।

असिआउसा भक्त ते, इन्द्रादिक हरसत।
वचन-शूर शासण सुरी, परतख ही परखत॥

(ख) वही [अध्यात्म पदावली—जिनशासनमहिमा २।४] पृ० १४३।

शासण स्हाज करै निरवद सुरी, असिआउसा प्रणमै परखी।

अनेक जीवित और स्वर्गीय आत्माओं की शक्ति उनके साथ जुडी हुई थी। वे बहुत ही ग्राही, संवेदनशील और माध्यम थे। उनमे शक्ति का अवतरण सहज हो जाता था। वे अपनी शक्ति के प्रति पूर्ण जागरूक थे। उनके विद्या-गुरु मुनि हेमराजजी थे। वे ध्यान के अच्छे अभ्यासी थे। उनका वैराग्य परम था। वे सर्दी के मौसम में उत्तरीय वस्त्र को छोडकर खड़े-खडे कायोत्सर्ग किया करते थे।[1] उनका दिन-रात्रि का काफी समय स्वाध्याय मे वीतता था।[2] वे कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े ही ध्यानलीन हो जाते थे।[3] जयाचार्य पर उनके जीवन का सर्वाधिक प्रभाव था। उन्हें ध्यान का वीज-मंत्र वही से मिला था।

इच्छा-शक्ति, एकाग्रता की शक्ति और सकल्प-शक्ति—यह शक्ति का उत्तरोत्तर होने वाला विकास है। एकाग्रता की शक्ति उपलब्ध होने पर ही इच्छा-शक्ति सकल्प-शक्ति मे वदल सकती है। जिसकी संकल्प-शक्ति जाग जाती है, उसे शक्ति का अक्षय स्रोत प्राप्त हो जाता है।

---

१. अमरगाथा [हेमनवरसो, ७।१५]
उभा काउसग आदर्यो, सीतकाल मे सोय।
पछेवडी छाड़ी करी, वहु कष्ट सह्यो अवलोय॥

२. वही [हेमनरसो, ७।१६]
सज्झाय करवा स्वाम जी, तन-मन इधिको प्यार।
दिवस-रात्रि मे हेम नो, यो हिज ऊदम सार।

३. वही [हेमनवरसो, ७।१७]
काउसग मुद्रा थाप ने, ध्यान सुधारस लीन।
नित प्रते ऊदम अति घणो, मुगत साहमी धुन कीन॥

२६

स्वतंत्र चिंतन के प्रयोग

जयाचार्य धर्म के शास्ता थे। धम का अर्थ है स्वतंत्र चेतना का विकास। प्रतिवद्ध चेतना का विकास सामाजिक स्तर पर भी होता है। अप्रतिवद्ध चेतना के विकास की सर्वाधिक संभावना धर्म के क्षेत्र में ही हो सकती है। आचार्य-वर ने संभावना के दरवाजे कभी बंद नहीं किए। वे अपने चिंतन के साथ दूसरों के चितन को भी वहुत मूल्य देते थे। उनके द्वारा किए गए कुछ प्रयोग इसके स्वयंभू साक्ष्य है।

अकेला साधु अकेली स्त्री के पास खड़ा न रहे। इसी प्रकार अकेली स्त्री से वातचीत न करे। इसी प्रकार अकेली साध्वी अकेले पुरुप के पास खड़ी न रहे तथा अकेले पुरुष से वातचीत न करे। यह शास्त्रीय व्यवस्था है, चिरंतन विधि है। तीसरा व्यक्ति कितनी दूरी पर होना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख प्राचीन परंपरा मे उपलब्ध नही है। जयाचार्य ने इस विषय पर चिंतन किया। एक निश्चित विधि का विधान करने के लिए उन्होंने पाच साधुओ को बुलाकर कहा—तुम अपना स्वतंत्र चिंतन कर वताओ, तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर होना चाहिए। न परस्पर परामर्श करो और न अपना चितन दूसरे को वतलाओ। आचार्यवर के निर्देशानुसार पाचों साधु अपने-अपने चितन के साथ आचार्यवर के समक्ष उपस्थित हुए। दो साधुओ ने अधिकतम दूरी नौ-नौ हाथ की, अन्य दो साधुओ ने अधिकतम दूरी सात-सात हाथ की और एक साधु ने अधिकतम दूरी पांच-पांच की सोची थी।

आचार्यवर ने पांचों साधुओ के द्वारा चिंतित हाथों का संकलन कर

उसे पांच से भक्त किया—६+६+७+७+५=३७÷५। लब्धांक ७ से कुछ अधिक रहा। इस आधार पर आचार्यवर ने व्यवस्था की—अकेला साधु अकेली स्त्री के पास खडा रहे, उससे बातचीत करे और अकेली साध्वी अकेले पुरुष के पास खडी रहे तथा उससे वातचीत करे तव तीसरे व्यक्ति का अधिक से अधिक सात हाथ की दूरी पर होना आवश्यक है। यह सं० १९११ की घटना है। उस समय आचार्यवर रतलाम में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे।[1]

सं० १९१२ के आषाढ में आचार्यवर उदयपुर के वाहर पहाडी पर वनी हुई रेजिडेंट की कोठी पर एक रात्रि का प्रवास कर रहे थे। रात्रि का समय था। आचार्यवर के पास गभीरमलजी सिंघवी सामायिक की साधना कर रहे थे। प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यवर ने पाच साधुओं से कहा—किसी गृहस्थ के घर में एक मास मे लाए जाने वाले घी की कोई निश्चित व्यवस्था नही है। वह एक दिन घी खरीद कर लाया। साधु उसके घर पर गोचरी गया। उसने आग्रहपूर्वक सारा घी साधु को दान मे दे दिया। उस दिन फिर वह घी न खरीदे। यह व्यवस्था ऋषिराय द्वारा की हुई है। आचार्यवर ने कहा—दिन की संख्या के वारे मे नए सिरे से चिंतन कर अपना-अपना चिंतन प्रस्तुत करे। एक साधु वोला, मैंने सोचा है—पाच दिन का अंतर होना चाहिए। दूसरे ने कहा—पाच दिन, तीसरा—पांच दिन, चौथा—पांच दिन और पाचवा—पांच दिन। गंभीरमल सिंघवी वोले—मैंने भी पाच दिन का चिंतन किया। जयाचार्य ने कहा—मेरा भी यही चिंतन रहा। अनेक द्वारा एक मत प्रस्तुत हुआ, इसलिए आचार्यवर ने पाच दिन की व्यवस्था कर दी।

आचार्य ने कहा—यह व्यवस्था मैंने की है। भविष्य मे होने वाले आचार्य का मत यदि दूसरा हो तो वह अपने चिंतन के अनुसार नई स्थापना कर सकता है। यह मेरी आज्ञा है।

---

१. वडी मर्यादा।

२ वडी मर्यादा।

२७

संघर्ष के स्फुलिंग

जयाचार्य आगमो के दोहनकार और भाष्यकार थे। वे शाश्वत और परिवर्तन दोनों का मूल्य जानते थे। चर्या और व्यवस्था के सिद्धात परिवर्तनशील होते है। इस आधार पर पुरानी परंपरा का स्थगन और नई परंपरा का सूत्रपात होता है। आचार्य भिक्षु के समय मे जो परंपराएं चलती थी, जो व्यवहार चलते थे, उन्हें जयाचार्य ने स्थगित किया और नई परंपराओं और नए व्यवहारों का प्रवर्तन किया। छोटी-वड़ी मर्यादाएं और 'परंपरा की जोड़' इस विषय में उनकी उल्लेखनीय रचनाएं है। जो आचार्य परिवर्तन का प्रयोग करते है, उनका पंथ कंटकाकीर्ण होता है। वे समीक्षाओ, आलोचनाओ, विरोधों और संघर्षो से वच नही सकते। जयाचार्य ने परिवर्तन किए सौरभ विखेरने के लिए, पर बीज अकुरित हुए विना सुरभि नही होती। कुछ लोग बीज के ही उत्खनन में लग जाते है। मर्यादा महोत्सव की स्थापना के साथ ही उसका विरोध शुरू हो गया था। आचार्यवर ने सामाचारी को व्यावहारिक बनाने की अनेक विधिया प्रस्तुत की। उनके पास आगम की ऊंचाई, उसके अर्थ की गहराई, दोनो थी। तीन महान् माने जाते है— हिमालय, समुद्र और अपने अस्तित्व की गहराइयो को खोजने वाला। वे इन तीनों दृष्टि से महान् थे। महानता को पहचानने के लिए भी महान् होना होता है। जो प्रकृति से महान् नही होते, वे हर कार्य मे क्षुद्रता को ही देखते है। जयाचार्य में वावन दोष बतलाए गए। बतलाने वाले थे उन्ही के शिष्य। आचार्यवर ने उन सभी दोषों को लिख लिया। वे आज भी उपलब्ध है। इतिहास का साक्ष्य है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना का पहला स्वागत विरोधी विचार द्वारा होता है।

आचार्य का दायित्व केवल व्यवस्था का संचालन ही नही होता। पुरानी व्यवस्था को वदलना और नई व्यवस्था का निर्माण भी उनके दायित्व का एक महत्वपूर्ण भाग है। जयाचार्य अपने दायित्व के प्रति पूर्ण सजग थे। उन्होंने अनुभव किया कि मुनि-जीवन में जल की वहुत वड़ी समस्या है। अचित्त (निर्जीव) जल मिलना वहुत कठिन है। सर्दी के दिनो में गर्म जल मिल जाता है, पर गर्मी के मौसम में वह नही मिलता। उन्होने चिंतन के वाद इस समस्या को समाधान दिया—राख मिला हुआ जल अचित्त होता है। वह लिया जा सकता है। वात युक्ति-संगत थी। आटा मिला जल अचित्त हो सकता है, तो राख मिला जल अचित्त क्यो नही होगा? राख का स्पर्श आटे के स्पर्श से वहुत तीक्ष्ण होता है। एक साधु ने आचार्य से कहा—राख से जल अचित्त होता है, इसमे सदेह है।

आचार्यवर—किसे संदेह है?

साधु—मुझे भी है और जिनकी थाप-उत्थाप आपको मान्य है, उन्हे भी है।

युवाचार्य मघवा पास मे ही बैठे थे। आचार्यवर ने उन्हे संवोधित कर पूछा—'क्यों मघजी! राख से जल के अचित्त होने मे तुम्हे संदेह है?

मघवा ने वद्धांजलि हो उत्तर दिया—गुरुदेव! मुझे कोई सदेह नही है।

वह साधु बोला—मुनि छोगजी के मन मे संदेह है।

आचार्यवर—छोगजी की थाप-उत्थाप मुझे मान्य नही है। मुझे मघजी की थाप-उत्थाप मान्य है। यदि इनके मन में सदेह हो तो मै इस विपय पर पुनर्विचार कर सकता हूं।

इस प्रसंग ने मुनि छोगजी के मन को उद्वेलित किया। उनका नाम भावी आचार्य की सूची में था। वे अपने आप को वहुत योग्य मानते थे। उनका अहंकार भी प्रखर था। आचार्यवर मघवा के चारित्र और व्यवहार से जितने संतुष्ट थे, उतने छोगजी के चारित्र और व्यवहार से नही थे। इसलिए वे प्राथमिकता मघवा को देते। छोगजी के लिए यह स्थिति असह्य हो जाती।

छोगजी की अपेक्षा उनके वड़े भाई चतुर्भुजजी का अहंकार और अधिक प्रवल था। जयाचार्य उन्हे सवसे अधिक अनुशासनहीन वतलाते थे।

उनमें स्वार्थ प्रवल था। प्रवल थी उनकी महत्वाकांक्षा। वे मान कर बैठ थे कि मेरे भाई छोगजी जयाचार्य के उत्तराधिकारी वनेंगे। उनके आचार्य वनने पर मेरा सम्मान वढेगा। वे अपनी भावना को यदा-कदा साधुओं के सामने भी प्रगट कर देते।[1]

मघवा युवाचार्य वन गए। चतुर्भुजजी का स्वप्न टूट गया। तव द्वेष की अग्नि उनके भीतर प्रज्वलित हो गई। वे छिपे-छिपे आचार्यवर की निंदा करने लगे। यह निंदा का क्रम कुछ साधुओं के सामने भी चलता और गृहस्थों के सामने भी।[2]

ये सारी वातें जयाचार्य के कानों तक पहुची। आचार्यवर ने परिपद् के वीच में उन्हें उलाहना दिया। चतुर्भुजजी इस घटना से वहुत उत्तेजित हो गए। उन्होंने कहा—आचार्यवर ने सव साधुओ के सामने मुझ से ऐसा व्यवहार किया है तो अव मैं भी मौन नही रहूंगा। मै स्वतंत्र होकर इनके दोषों का विवरण जनता के सामने प्रस्तुत करूंगा, तव इन्हे मेरे अस्तित्व का पता चलेगा।

आचार्यवर मुझे अग्रणी बना स्वतंत्र विहार का अवसर नही दे रहे है। मुझे लक्ष्य कर कड़ी-कड़ी मर्यादाएं वना रहे है। मै अकेला इन सवका विरोध कैसे करूं? यह सोच उन्होंने दूसरे साधुओं को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न शुरू कर दिया।[3]

चतुर्भुजजी धीमे-धीमे अपने प्रयत्न मे कुछ सफल हुए। संघ मे सव प्रकार के साधु होते हैं। कुछ अहंकारग्रस्त होते है, कुछ रसलोलुप, कुछ काम-वासना पर पूरा नियंत्रण नही कर पाते। आचार्य के सामने उनकी दुर्बलता के प्रसंग आते हैं तव आचार्य उन पर अनुशासन करते है। वे सोचते है—आचार्य हमारे पीछे पड़े हुए है। वे अनुशासन को सम्यक् रूप में ग्रहण नही करते। वे आचार्य के विरोध में खड़े हो जाते है। मुनि चतुर्भुजजी को कुछ ऐसे साधुओं का सहारा मिल गया। उनका पक्ष कुछ प्रवल हो गया।

जयाचार्य ने 'लघुरास' में छह अनुशासनहीन साधुओं का वर्णन किया

---

१. लघुरास, १।१-५।

२. वही, १।६-१३।

३. वही, १।१४-२०।

है । उनमें कुछ व्यक्ति अनेक वार संघ से अलग और संघ में सम्मिलित हुए । उसकी तालिका यह है—

प्रथम	दो वार
द्वितीय	चार वार
तृतीय	तीन वार
चतुर्थ	तीन वार
पंचम	चार वार
षष्ठ	दो वार

जयाचार्य इस घटना-चक्र के प्रति पूर्ण सजग थे । वे इस पर वरावर ध्यान रखते थे । संघ की अखंडता और एकसूत्रता के लिए यह आवश्यक था । आचार्यवर के द्वारा 'लघुरास' मे एक सस्कृत श्लोक उद्धृत है । वह उनकी सजगता का स्वयभू साक्ष्य है :

कुशिष्याः कुग्रहाश्चैव, मिलिता यत् परस्परम् ।
अनर्थायैव जायन्ते, यदि गुरुर्न पश्यति ।।

यह श्लेष-काव्य है । इसके दो अर्थ होते हैं । संघ की दृष्टि से इसका अर्थ है—कुशिष्य परस्पर मिलते है, वह अनर्थ के लिए होता है, यदि गुरु नही देखता । ज्योतिप-शास्त्र के अनुसार इसका अर्थ है—कुग्रह परस्पर मिलते है, वे अनर्थकारक होते है, यदि उन पर गुरु की दृष्टि नही होती ।

ऋषिराय के साथ एक साधु ने प्रवंचनापूर्ण व्यवहार किया । उन्हे जलाशय के तट-बंध पर अकेला छोड़ वह चला गया । इस स्थिति में ऋषिराय ने मुनि जीतमलजी को अपना उत्तराधिकारी वनाने का निर्णय लिया । कुछ साधु नही चाहते थे कि मुनि जीतमल ऋषिराय के उत्तराधिकारी वने । तेरापथ धर्मसंघ मे उत्तराधिकारी के मनोनयन का अधिकार एकमात्र आचार्य को है, फिर भी कुछ लोग साधक या वाधक वनने का प्रयत्न किए विना नही रहते ।

ऋषिराय के सामने वाधक तत्त्वों की प्रतिमा स्पष्ट हो गई थी, इसलिए उन्होंने बाधक तत्त्वों की उपेक्षा कर मुनि जीतमल को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया । वे युवाचार्य वन गए । विरोध का वीज पनपा नही, पर मृत भी नही हुआ । स० १९१० में वह अंकुरित हो वढ़ने लगा । पहले संघ के भीतर-भीतर विरोध चलता रहा, फिर कुछ व्यक्ति

संघ से अलग होकर विरोध में जुट गए। चतुर्भुजजी, कपूरजी, जीवोजी, संतोजी, छोटा छोगजी, किस्तूरजी आदि अनेक साधु इस विरोध अभियान में सम्मिलित थे। चतुर्भुजजी 'जयाचार्य चौरासी दोपों का सेवन कर रहे हैं', इस प्रचार में लगे हुए थे। उनके भाई वड़े छोगजी संघ में ही थे। वे चतुर्भुजजी जितने अनुशासनहीन नही थे। उनके मन में जयाचार्य के प्रति निकटता का भाव था, पर भाई के निरंतर आने वाले दवाव ने उन्हें विचलित कर दिया। सं० १९२७ चैत्र कृष्णा वारस को वड़े छोगजी और हंसराजजी दोनों संघ से अलग हो गए। लगभग इकीस घंटा संघ से वाहर रहे। त्रयोदशी को फिर आचार्यवर की शरण मे आ गए। उन्होंने वहुत विनम्रता की, प्रायश्चित्त स्वीकार किया, अपने अपराध के लिए क्षमायाचना की, तव आचार्यवर ने उन्हें पुनः संघ मे सम्मिलित कर लिया। आचार्यवर ने उनसे एक लिखत लिखवाया। छोगजी ने लिखा —

"अव भविष्य मे किसी प्रश्न को लेकर आचार्यो से खीचातान करने का यावज्जीवन त्याग है। मघराजजी महाराज जो कहेंगे, उसे हृदयंगम कर लेंगे। साधुत्व की भाति इसका पालन करेंगे।"

सं० १९२७ चैत्र कृष्णा १३ लिखितं ऋषि छोग।

यह 'लिखत' लिख छोगजी ने आचार्यवर से कहा—वेटा कु-वेटा हो जाता है, पर पिता कु-पिता नही होता। यह लौकिक कहावत है। इस कहावत को आपने सत्य कर दिखाया। मेरे अविनय को क्षमा कर आपने मुझे कृतार्थ कर दिया।[1]

स० १९३६ वैशाख शुक्ला तृतीया को वड़े छोगजी चार साधुओं और तीन साध्वियों के साथ सघ से अलग हो गए। इस प्रकार विरोध करने वाले पक्ष में लगभग वीस साधु-साध्वियो का जमाव हो गया। छोगजी को आचार्य वना दिया गया। जयाचार्य के वड़े भाई थे सरूपचंदजी स्वामी, वैसे ही छोगजी के वड़े भाई थे चतुर्भुजजी। हरखूजी को साध्वीप्रमुखा वना दिया। उन्होने चूरू जिला के क्षेत्रों में अपना काफी प्रभाव जमा लिया। सरदारशहर को उन्होने अपना मुख्य केंद्र वनाया।

छोगजी वड़ी आशाएं लेकर संघ से अलग हुए थे, किन्तु उनकी

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. १६१,१६२ [जयसुजश, ५३।२७-३२]।

आशाएं पूरी नही हुई। उन्होने सोचा था, अनेक साधु मेरा साथ देगे। साथ उन्ही ने दिया जिनका भविष्य के बारे मे चिन्तन नही था। छोगजी के साथ केवल तीन साधु गए। उनका अनुमान बहुत साधुओ के लिए था। गण से अलग होने वाले बहुत बढ-चढ अनुमान लगाते है, पर संघ और संघपति को छोड़ संघ से अलग होने वाले का साथ कोई नासमझ व्यक्ति ही देता है। उस समय की घटना है। मुनि भोपजी का छोगजी के साथ काफी संपर्क था। वे छोगजी के पास आगम सूत्रो का अध्ययन किया करते थे, उनके प्रति बहुत अनुराग था।

छोगजी संघ से अलग हुए तब लोगो ने पूछा—आपने छोगजी का साथ कैसे छोड दिया ?

मुनि भोपजी ने उत्तर मे कहा—छोगजी संघ मे थें, तब तक मेरा उनसे संबंध था। वे संघ से अलग हो गए, तब उनसे मेरा सबध टूट गया। हमारा पहला संबंध संघ से है, फिर किसी व्यक्ति से है।

मुनि भोपजी का यह उत्तर जयाचार्य तक पहुचा। आचार्यवर इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने तत्काल मुनि भोपजी को अग्रणी बना दिया।

बड़े संघ मे सैकड़ो-सैकडो साधु-साध्विया होती है। उसमे समय-समय पर छोटी-बड़ी घटनाए भी घटित होती रहती है। उन घटनाओ को देख अधृति वाले अधीर हो जाते है। धृति-सपन्न लोग उन्हे मानवीय दुर्बलता मान उनका समाधान खोजते है। सघ से अलग होने का एक कारण है मतभेद, दूसरा है महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थ की आपूर्ति और तीसरा है अक्षमता।

मुनि बिहारीजी ने दीक्षा ली, उसी दिन वे संघ से अलग हो गए।[1] यह अक्षमता का एक निदर्शन है। बिहारीजी गृहस्थ जीवन में चले गए थे। प्राय: ऐसा हुआ है कि पुन. गृहस्थ जीवन में लौट जाने वाला धर्मसंघ के अनुकूल रहता है।

मुनि गोविंदजी ने मांग की—मेरी सेवा में एक साधु अतिरिक्त रखा जाए। यह मांग पूरी नही हुई, वे संघ से अलग हो गए।

जयाचार्य ने साधु-साध्वियो के उष्ण आहार संबंधी एक मर्यादा का

१. कीर्त्तिगाथा [आर्यदर्शन ४।सो० ५]।

निर्माण किया। उस मर्यादा से असन्तुष्ट हो मुनि रूपचंदजी संघ से अलग हो गए।

मुनि हजारीमलजी अपनी तेज प्रकृति के कारण संघ से अलग हो गए।

चतुर्भुजजी और छोगजी के संघ से अलग होने का कारण था महत्त्वाकांक्षा। इन दोनो ने सैद्धांतिक मतभेद की वात की, पर उसका कोई ठोस प्रमाण वे प्रस्तुत नही कर सके। अनेक कारणो से संघ से अलग होने वाले व्यक्ति परिस्थितिवश एक साथ मिल भी जाते है, पर अधिक समय तक वे एक साथ रह नही पाते। यदि वे अपने मन पर अनुशासन करते तो उन्हे सघ से अलग होने की आवश्यकता ही नहीं होती। जिन्हें आचार्य के अनुशासन मे रहना भी कठिन लगता है, वे अपने समकक्ष साधुओं के अनुशासन मे कैसे रह सकते है। एक वार आवेशवश साथ में रहना शुरू करते है, पर जैसे ही स्वार्थो का टकराव शुरू होता है वैसे ही उनमे विखराव शुरू हो जाता है। आज तक के अनुभव का यही निष्कर्ष है। छोगजी के पक्ष में भी इस प्रक्रिया का दौर शुरू हो गया।

जयाचार्य दो दशक से अधिक समय तक आतरिक संघर्ष को झेलते रहे। आचार्य भिक्षु को वाहरी और आतरिक दोनो संघर्षो का सामना करना पड़ा। जयाचार्य के समय मे वाहरी संघर्ष कुछ कम हो गए थे। तेरापंथ की जड़े मजवूत हो गई थी। उन्हे आतरिक संघर्षो का निरतर सामना करना पड़ा। उनके सामने अनेक सृजनात्मक प्रवृत्तियां थी। तेरापंथ संघ को विशिष्ट रूप देना उनका सुखद स्वप्न था। वे उसकी पूर्ति में मनसा-वाचा-कर्मणा सलग्न थे। दूसरी ओर ध्वंसात्मक प्रवृत्तियां चल रही थीं। कुछ साधु धर्मसंघ की जड़ो के उन्मूलन का स्वप्न ले रहे थे। कभी दो साधु संघ से अलग हो जाते, कभी चार और कभी तीन। कभी वापस आ जाते, कभी फिर वाहर हो जाते। इस अस्थिरता की स्थिति में चंचल चित्त वाला व्यक्ति कुछ भी नही कर सकता।

जयाचार्य ध्यान के अभ्यासी थे। उनकी एकाग्रता सधी हुई थी। प्रवल थी उनकी संकल्प-शक्ति। प्रखर था उनका मनोवल। तेजस्वी था उनका आभामंडल। उनके सामने एक कर्त्तव्य था संघ की सुरक्षा का। दूसरा स्वप्न था संघ के विकास का, नई-नई दिशाओं के उद्घाटन का।

उनकी सृजनशील चेतना ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में कभी नहीं उलझी। वे विरोधी खेमे से आने वाले विरोध को शातभाव और बुद्धिमत्ता के साथ झेलते रहे और विकास के कार्यक्रम को भी आगे वढ़ाते रहे।

विरोध का सामना करने में आचार्यवर का सहयोग कर रहे थे अनेक साधु और अनेक साध्वियां, अनेक श्रावक और अनेक श्राविकाएं। उन सव में अग्रणी थे मुनि कालूजी। उन्हे इसका दायित्व सौप कर आचार्यवर निश्चितता का अनुभव कर रहे थे। मुनि कालूजी ने अपने बुद्धि-कौशल और व्यवहार-कौशल से तेरापंथ धर्मसघ की अपूर्व सेवा की। धर्मसंघ उनकी सेवा को कभी विस्मृत नही कर सकता। ऐसे कुशल व्यक्ति की सेवाएं उपलब्ध नही होती तो आचार्यवर को इस कार्य मे अधिक समय और शक्ति लगानी पड़ती। सृजनात्मक कार्य मे एक अवरोध उत्पन्न हो जाता। मेघराजजी आचलिया ने एक पत्र लिख कुछ प्रश्न पूछे। जयाचार्य ने उन प्रश्नो के उत्तर दिए। जैसे ही वे उत्तर सरदारशहर की जनता के पास पहुंचे, वैसे ही उनमे विखराव शुरू हो गया। प्रभातकालीन मेघाडंवर की भांति जो घटाटोप हुआ था, वह वरसे विना ही विखर गया। अधिकाश श्रावक वापस जयाचार्य की छत्रछाया मे आ गए। जहा प्रतिकूलता ही प्रतिकूलता दीख रही थी, वहा अनुकूलता का वातावरण वन गया। इस स्थिति का निर्माण जयाचार्य की जीवन-सध्या में हुआ।

सं० १९३७ का वर्ष पूरा हो रहा था। आचार्यवर जयपुर मे विराज रहे थे। उनके पास सरदारशहर के श्रावको का संवाद पहुंचा—चतुर्भुजजी, छोगजी का पक्ष कमजोर हो गया। परस्पर फूट हो गई है। वे विखर गए है। उनके पक्ष के श्रावक भी पुनः संघ की शरण मे लौट आए है। शेष वचे है, वे भी आ जाएंगे। इस समय आचार्यवर का यहां पदार्पण हो जाए तो वहुत लाभ की सभावना है।

पत्र में आगे लिखा था—मुनिवर कालूजी का भी यही चितन है। वे आचार्यवर के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे है।

मुनिवर कालूजी उस समस्या को सुलझाने मे आचार्यवर का सफल प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उनकी प्रार्थना का विशेष महत्त्व था।

नगराजजी बैगानी (वीदासर) ने आचार्यवर के दर्शन कर वदली हुई परिस्थिति की जानकारी दी। वे ज्ञात और अज्ञात दोनों स्रोतों से

आचार्यवर को सूचना देते रहते थे। आचार्यवर उनकी सूचना पर विशेष ध्यान देते थे।

आचार्यवर ने प्राप्त सूचनाओं के आधार पर बीकानेर राज्य में जाने का विचार कर लिया। आप अक्षय तृतीया के दिन उस दिशा में प्रस्थान करना चाहते थे। लाला भेरूंलालजी तथा जयपुर के अन्य श्रावकों को इसका पता चला। उन्होंने प्रार्थना की—आपकी अवस्था वृद्ध है, सामने गर्मी का मौसम है। इसलिए इस वर्ष का चातुर्मास-प्रवास आप यहीं करें। जयपुर महाराजा को पता चला तब उन्होंने भी प्रभुदानजी व्यास के माध्यम से जयपुर विराजने का अनुरोध किया।

शारीरिक अवस्था, मौसम और अनुरोध तीनों ने विचार को बदलने में अपनी भूमिका निभाई। आचार्यवर ने सं० १९३८ का चातुर्मास प्रवास जयपुर में करने का निर्णय कर लिया।[1]

आचार्यवर के शासनकाल में एक भयंकर बवंडर उठा, लंबी अवधि तक चला और उनके जीवन के अंतिम वर्ष में वह शांत हो गया। मघवा के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

जयाचार्य की भविष्यवाणी सही हो गई। आचार्यवर कहा करते थे—सरदारशहर के भाई जोगी की जटा की भांति है। उन्हें तत्त्वचर्चा की कंघी से नहीं सुलझाया जा सकता। उन्हें सुलझाने के लिए उस्तरा चाहिए। ऐसा ही हुआ। वे तत्त्वचर्चा से नहीं सुलझे। परिस्थिति बदली, सब एक ही साथ सुलझ गए। मघवा के समय में सरदारशहर तेरापंथ का मुख्य केंद्र बन गया।

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. १७८, १७९ [जयसुजश, ६०।८-१३]।

२८

संबोधि और प्रेरणा

मुनि सतीदासजी सर्दी के दिनों में दो उत्तरीय ओढते थे। जयाचार्य ने एक दिन कहा—सतीदास ! मै एक उत्तरीय ओढता हूं। मुनि हेमराजजी काफी वृद्ध हो चुके है, वे दो उत्तरीय ओढते है। तुम अभी युवा हो, फिर भी दो उत्तरीय ओढते हो, यह कैसे ? मुनि सतीदासजी ने उस दिन से एक उत्तरीय ओढना शुरू कर दिया। मुनि हेमराजजी के दिवंगत होने तक वे एक ही उत्तरीय ओढ़ते रहे। फिर ऋषिराय के निर्देश पर उन्होने दो उत्तरीय ओढ़ने शुरू किए।[1]

मुनि उदयरामजी तपस्वी थे। वे समाधि-मरण की तैयारी कर रहे थे। मृत्यु को आसन्न जान उन्होने आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया। आचार्यवर वीदासर मे विराज रहे थे। तपस्वी आचार्यवर का दर्शन करना चाहते थे। आचार्यवर ने उनकी भावना को पूर्ण करने के

---

१ अमरगाथा [शातिविलास, १२।२७-३२]

दिख्या लीधी ते रात्रि मझार, ओढी दोय पछेवडी धार।
ऋप जीत कह्यो तिण वार ॥

एक चदर ओढू हूं सोय, हेम वय नेडा आया जोय।
ते पिण ओढे पछेवडी दोय ॥

हिवडा वाल अवस्था माय, दोय चदर ओढे तू ताय।
जीत वोल्यो इण विध वाय ॥

शाति जीत तणी सुण वाण, एक ओढण लागो जाण।
तन सुखे समाधे पिछाण ॥

हेम जीव्या जठा ताई देख, मुनि ओढी पछेवडी एक।
कारण री वात न्यारी पेख ॥

हेम चल्यां पछै ऋपिराय, मुनि शाति भणी कहै वाय।
दोयां सूं ओढी आज्ञा नांय ॥

लिए लाडनूं जाने का निश्चय कर लिया। वहां पहुंचने की तिथि की घोषणा कर दी। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार लाडनूं के लिए प्रस्थान कर दिया।

वीदासर से लाडनूं दो मार्गों से जाया जा सकता है—सुजानगढ़ द्वारा और गोपालपुरा द्वारा। लाडनूं वालों को निश्चित मार्ग का पता नहीं था। आचार्यवर की अगवानी के लिए कुछ लोग सुजानगढ़ की ओर चले गए और कुछ लोग गोपालपुरा की ओर। जयाचार्य गोपालपुरा के मार्ग से पधारे। सुजानगढ़ के रास्ते जाने वाले लोग लम्वी प्रतीक्षा के वाद भी आचार्यवर के दर्शन नही कर सके। वे थके-मादे वापस शहर में आए, तव उन्हे आचार्यवर के पधारने का पता चला। उन्होंने आचार्यवर के दर्शन कर खिन्नता के स्वर में कहा—'हम अगवानी के लिए वहुत दूर गए और आप गोपालपुरा के रास्ते से पधार गए।' जयाचार्य ने कहा—तुम लोगों में आठ आना की भी समझ नहीं थी, इसका कौन क्या करे। वीदासर से समाचार मंगाने में आठ आने से ज्यादा नही लगते। तुम लोगों ने वैसा नही किया। अव किसे दोप देते हो। सव लोग अपनी भूल का अनुभव करने लगे।

सं० १६०० की घटना है। जयाचार्य लाडनूं मे चातुर्मास-प्रवास कर रहे थे। वहां एक युवक था तेजपाल। जाति थी गोलछा। उसके मन में वैराग्य का अंकुर फूटा। वह मुनि वनना चाहता था। उसके अभिभावक उसे मुनि वनने की स्वीकृति नहीं दे रहे थे। तेरापंथ धर्मसंघ की यह परंपरा रही है कि अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के विना किसी व्यक्ति को संघ में दीक्षित नही किया जाता। तेजपाल ने जयाचार्य से प्रार्थना की—आचार्यवर! आप मेरे अभिभावकों को समझाएं। वे मेरी दीक्षा में वाधक न वनें। जयाचार्य ने उन्हे दीक्षा का महत्त्व समझाया, पर वे उसे समझ नहीं सके। आचार्यवर ने व्यावहारिक वुद्धि का प्रयोग किया। आपने कहा—तुम्हारी जाति गोलछा है। मेरा जन्म भी गोलछा जाति में हुआ है। तुम समझ लो कि अपने पुत्र को गोलछा के गोद दे रहे हो—दत्तक पुत्र के रूप में दे रहे हो। अभिभावक तैयार हो गए। उन्होंने दीक्षा के लिए स्वीकृति-पत्र लिख दिया। तेजपाल की दीक्षा संपन्न हो गई।[1]

पुर (जिला भीलवाड़ा) मे पांच साधु प्रवास कर रहे थे। उनमें एक साधु थे मुनि गुलावजी। वे तपस्वी थे और विरागी। उनकी तपस्या और

---

१ ते. आ. ख. २ पृ. १०६ [जयसुजश २६।१२,१३]

वैराग्य के प्रति जनता में आकर्षण था। भीलवाडा के भोपजी सिंघी उनके दर्शन करने पुर में गए। वे मुनि गुलावजी की उपासना कर रहे थे। किसी पूर्व प्रसंग के बिना मुनि गुलावजी वोले—किसी साहूकार के घर मे घाटा है। वह उसे छिपा अपना काम चला रहा है, पर उसका काम कव तक चलेगा ? आखिर लोगों को उसका पता लग ही जाता है।

भोपजी को मुनि गुलाबजी की वात ने आश्चर्य में डाल दिया। वे अपने आवेग को रोक तत्काल बोल उठे—तपस्वी ! जो व्यक्ति सेठ के घर में घाटा जानकर भी उसके साथ रहे, उसके साथ काम करे, उसे क्या कहा जाए ? भोपजी के इस तर्कबाण ने मुनि गुलाबजी को वीघ दिया। वे उत्तेजित हो उठे। उत्तेजना आए और कोई अपना आपा न भूले, यह कैसे हो सकता है ? उन्होंने जीभर कर वकवास की। ऋषि ईसरजी उनके संसारपक्षीय भाई थे। वे भीगी आंखों से वोले—तपस्वीजी ! ऐसा मत करो। मौन रहो। उनके प्रवल अनुरोध पर मुनि गुलावजी ने वोलना बंद कर दिया। दूसरे दिन फिर उन्होंने उग्र रूप धारण कर लिया। अपने मन की शंकाओं की लम्बी तालिका प्रस्तुत की। मुनि रामजी वहीं थे। उन्होंने सोचा—स्थिति जटिल वन गई है। अव आचार्यवर के ध्यान में लाए विना यह स्थिति सुलझेगी नही। मुनि गुलावजी तपस्वी है। लोक-मानस पर तपस्या का प्रभाव पडता है। वहुत लोग इनसे आकृष्ट है। इनका सघ के प्रति खुला विद्रोह भयंकर स्थिति पैदा कर सकता है। इस चितन के साथ मुनि रामजी पुर से चले। उन्होंने अतिशीघ्र नाथद्वारा पहुंच आचार्य ऋषिराय के दर्शन किए, मुनि गुलावजी की सारी स्थिति आचार्यवर के सामने रखी। जयाचार्य उस समय वहीं थे। वे कुछ समय पूर्व ही युवाचार्य पद पर अभिषिक्त हुए थे। आचार्य ऋषिराय ने युवाचार्य से परामर्श कर आठ साधुओं को साथ ले पुर की ओर प्रस्थान कर दिया। मुनि गुलावजी को इस वात का पता चला। उन्होने अपनी शंकाओं की तालिका छोटी कर दी। भोपजी सिघी ने 'कारोही' गाव में आचार्यवर के दर्शन कर कहा—मुनि गुलावजी कहते है, मेरे मन मे चार वातो की शंका है। मुनि हेमराजजी से उनका समाधान मंगा लिया जाए। वे जो उत्तर देंगे, वह मुझे मान्य होगा। सिंघीजी की वात सुन आचार्यवर मौन रहे। उनका इंगित पा युवाचार्य जय ने कहा—मुनि गुलावजी जिन व्यवहारो के विषय में शंका प्रस्तुत

कर रहे है, वे व्यवहार प्रारंभ से ही चल रहे है, कोई नए नहीं हैं। इस स्थिति में मुनि हेमराजजी से उनका समाधान मंगाने की क्या आवश्यकता है ? युवाचार्य ने मुनि गुलावजी के प्रस्ताव का औचित्य स्वीकार नही किया। भोपजी सिंघी ने आचार्यवर और युवाचार्यवर का अभिप्राय मुनि गुलावजी को वता दिया। उन्हे अपनी वात मे सार्थकता नही लगी। दूसरे दिन आचार्यवर पुर पहुंच रहे थे। भोपजी सिंघी ने रास्ते मे यह संवाद दिया—मुनि गुलावजी कहते है कि आचार्यवर एक साधु को भेज यह कहलवा दें—'हम आचार्य भिक्षु की सभी मर्यादाओं का सम्यक् पालन करते है तो मैं आचार्यवर की अगवानी कर उनके पैर पकड लूंगा।

युवाचार्य ने कहा—यह कोई नई वात नही है। आचार्य भिक्षु की मर्यादाओं का पालन सदा से हो रहा है। नए सिरे से उन्हे विश्वास दिलाने के लिए किसी साधु को भेजना हमें आवश्यक नही लगता। पुर के श्रावकों ने भी किसी साधु को मुनि गुलावजी के पास भेजने की प्रार्थना की, पर आचार्यवर और युवाचार्य वर ने किसी साधु को भेजना आवश्यक नहीं समझा, इसलिए वह प्रार्थना स्वीकृत नही हुई।

युवाचार्य जय ने ऋपिराय से प्रार्थना की- वात वहुत आगे वढ़ गई है। अव अपने को एक निर्णय लेना चाहिए, जो अगवानी करने आएगे, वे संघ मे होगे। जो ऐसा नही करेगे, उनका अपने आप संघ से सम्वन्ध-विच्छेद हो जाएगा। ऋपिराय ने इसकी घोपणा कर दी। यह वात पुर में रहे हुए चार साधुओ तक पहुंची। मुनि जीवराजजी अगवानी के लिए दो मील तक पहुंच गए। शेप तीन साधु नही आए। उनका संघ से सम्वन्ध-विच्छेद हो गया।

ऋषिराय पुर में पधार वाजार की दुकानों में ठहरे। मुनि गुलावजी पास की दुकान में ही ठहरे हुए थे। युवाचार्य जय ने गुलावजी की स्थिति को जनता के सामने रखा। आपने कहा—'यह कोई नई घटना नही है। दो वर्ष पहले भी इन्होंने इस प्रकार का वातावरण वनाया था। उस समय इकतालीस शंकाएं वतला रहे थे। इन्होंने वे सभी शंकाएं एक पत्र में लिख कर प्रस्तुत की। उस समय ऋपिराय के निर्देशानुसार मैंने इनकी सव शंकाओं का निराकरण कर इन्हे निःशंक वनाया था। शंकाकाल में इन्होने जो अतिक्रमण किया, साधुओ की निंदा की, उसका इन्होने प्रायश्चित्त

किया और एक लिखित संकल्प किया—'मै अव यावज्जीवन संघ के किसी भी साधु-साध्वी की निंदा नही करूंगा।'[1] युवाचार्य ने वह लिखित पत्र जनता को पढ़कर सुनाया और कहा— गुलावजी अपने लिखित संकल्प को भूल गए है। युवाचार्य के स्पष्टीकरण ने जनता के भ्रम का निरसन कर दिया।

गुलावजी पास की दुकान में बैठे-बैठे सव सुन रहे थे। वे वाहर आकर युवाचार्य से कहने लगे—मै आचार्य भिक्षु को तीर्थकर तुल्य मानता हूं।

युवाचार्य ने कहा—अच्छी वात है। आपने आचार्य भिक्षुकृत रास की कुछ गाथाओं का पाठ किया और कहा—इन गाथाओ मे आचार्य भिक्षु ने वतलाया है कि किसी मे दोष जान पड़े, तो तत्काल वताया जाए। वहुत लंवा समय वीत जाने पर कोई किसी मे दोष न वतलाए। इससे विवाद वढ़ता है, इसलिए यह अच्छा नही है। जो साधु लंवी अवधि के वाद दोप वताता है, उसे असत्यभापी माना जाए और जनता के सम्मुख उसके मुह पर धूलिपात किया जाए—उसकी अवमानना की जाए।

युवाचार्य की इस वात को सुन कर गुलावजी तमतमा उठे, वे वोले—आप मेरे मुंह पर धूलि डालने की वात कह रहे है ?

युवाचार्य ने कहा—मै नही कह रहा हू। तुम जिन्हे तीर्थकर तुल्य मान रहे हो, वे आचार्य भिक्षु ही यह कह रहे है। मैने उन्ही की वाणी का पाठ किया है।

गुलाबजी—पहले हमारा सघ कठोर साधना के वल पर चल रहा था। अव वह शिथिल हो गया है। शिथिल आचार वालो की मर्यादा कैसे मानी जाए ?

युवाचार्य—दो वर्ष पहले तुमने एक संकल्प-पत्र लिख कर साधु-साध्वियो के अवर्णवाद वोलने का प्रत्याख्यान किया था। उस समय हम कौन से संकरे मार्ग पर चल रहे थे और आज कौन से खुले मार्ग पर चल रहे हैं ?

गुलावजी- मैंने त्याग का भंग किया, उसका प्रायश्चित्त करूंगा। सिर तो कटेगा ही नही।

ऋषिराय—दो वर्ष तक संघ मे रह कर तुमने यह ठगाई क्यो की ?

ऋपिराय की यह वात सुन वे क्रुद्ध हो गए। ऊंचे-ऊंचे शव्दो मे

---

१ ते. आ. ख २, पृ. ६१ [जयसुजश, २२।दो० १-४]

वोलने लगे। कुछ समय तक अंटसंट वोलते रहे। फिर वहा से उठ कर चले गए। दूसरे दिन फिर उन्होंने संघ की आलोचना की। उस पर किसी ने ध्यान नही दिया। वे थक गए। उपेक्षा की चोट वहुत भयंकर होती है। एक व्यक्ति आलोचना करता है और दूसरा उसे सुन उत्तेजित नही होता, उसकी उपेक्षा कर देता है,यह वात आलोचक के लिए असह्य हो जाती है। आलोचना में अपना रस नही है। उसमें प्रत्यालोचना रस भरती है। प्रत्यालोचना के विना गुलावजी द्वारा की गई आलोचना रसहीन होकर रह गई। उस नीरसत्व से ऊबे हुए वे साझ के समय युवाचार्यश्री के पास आकर वोले—मैं कंठ तक भरा हुआ हूं। क्या करूं, मेरी वात कोई सुनने वाला नही है।

युवाचार्यश्री ने सोचा—जनता ने गुलावजी को परख लिया है। अव इनमें कोई प्राण नही रहा है। अव इस स्थिति को समेट लेना संघ के हित मे होगा। यह चिंतन कर उन्होंने गुलावजी से कहा—मैं तुम्हारी सारी वात सुनूंगा। तुम निश्चित रहो और मौन रहो। संध्याकालीन प्रतिक्रमण के वाद युवाचार्यश्री ऋषिराय से आज्ञा प्राप्त कर गुलावजी जिस दुकान में ठहरे हुए थे, वहां गए। गुलावजी ने अपना पोथा पढ़ना शुरू किया। अनेक साधुओं की नामपूर्वक कटु आलोचना की। उन्होंने कहा—आपका दुर्वल पक्ष मेरे हाथ नही लगा है। आप मे या तो वैराग्य की वहुलता है या आप छलना करने में चतुर हैं। दोनों मे से एक वात अवश्य है। लगभग दो घंटा तक वे वोले। मन में जो भरा हुआ था, वह सारा निकल गया। मन खाली हो गया। भरे हुए मस्तिष्क में दूसरी वात नही भरी जा सकती। खाली मस्तिष्क में नई वात भरना सहज-सरल होता है।

युवाचार्य ने अवसर देखकर लंबे समय के वाद अपना मौन खोला। वड़े मीठे शब्दों से उनके कटुता से भरे मन को आश्वस्त कर उनकी प्रत्येक आलोचना का उन्हे समाधान दिया। उनकी चार शंकाओ का भी समाधान किया। मुनि गुलावजी वहुत प्रसन्न हो गए। वे वोले—युवाचार्यवर ! आपने मेरी पूरी वात सुनी। मुझे वहुत समय दिया। मेरी शंकाओं का समाधान किय।। मैं उत्तेजना के स्वर में वोला, मैंने अनेक साधुओं की कटु आलोचना या निंदा की, फिर भी आप एक क्षण के लिए भी उत्तेजित नही हुए। आपकी शांति निरंतर वनी रही। मै इससे वहुत प्रभावित हुआ हूं। मैं आपके चरणों में प्रणत हूं।

युवाचार्य जय ने मुनि गुलावजी को साधुत्व का मर्म समझाया। आपने कहा छोटे दोषो के सेवन मात्र से साधुत्व नही जाता। दोष की स्थापना करने से साधुत्व चला जाता है। इस प्रकार लंवी वातचीत के वाद युवाचार्यवर ऋषिराय के पास आए। उन्होने संपूर्ण वार्ता से ऋषिराय को अवगत करा दिया।

युवाचार्य जय धर्मज्ञ और नीतिज्ञ—दोनो थे। उन्होने तीसरे दिन गुलावजी के साथी तपस्वी मुनि उदैचंदजी से एकात मे वातचीत कर उन्हे सारी स्थिति समझाई। वे युवाचार्य के विचार से सहमत हो गए। अव वे गुलावजी के प्रंश्नों का उत्तर देने लगे। गुलावजी का पक्ष कमजोर हो गया। युवाचार्य ने उन्हें फिर समझाया। उन्होने तात्त्विक और सहयोग—दोनो दृष्टियों से अपने आप को शक्तिहीन अनुभव किया। वे वोले—'अव मै आपके विचार से सहमत हू। मै अनुभव करता हूं कि मैंने संघ की निंदा कर गलत काम किया है। अव मैं उसका प्रायश्चित्त करना चाहता हू।

युवाचार्यवर ने कहा—तुम्हे जिस पर विश्वास हो, उसे चुन लो। मैं ऋषिराय से उसकी स्वीकृति दिलाने का प्रयत्न करूंगा।

गुलावजी—हमें आप पर विश्वास है। हम आपके पास प्रायश्चित्त करना चाहते हैं। आप हमें प्रायश्चित्त दे शुद्ध करे। आप जो भी प्रायश्चित्त देंगे, वह हम स्वीकार करेंगे।

युवाचार्यश्री ने कहा—ऋषिराय के पास जाकर वंदनापूर्वक प्रायश्चित्त के लिए प्रार्थना करो। गुलावजी ने युवाचार्यवर का परामर्श स्वीकार कर लिया। तीनों मुनि—गुलावजी, उदैचंदजी और ईसरजी युवाचार्य के साथ ऋषिराय के पास पहुचे। उन्होने परिषद् के वीच वदना कर प्रायश्चित्त की माग की। लोगों को वड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ समय पूर्व तक संघ पर आक्षेप करने वाले साधु प्रायश्चित्त स्वीकार कर पुन संघ मे प्रवेश पा लेंगे, इसकी कल्पना नही हो रही थी। युवाचार्यवर के व्यक्तित्व का प्रभाव है कि असंभव लगने वाली वात संभव हो गई। तीनो सावुओ को प्रायश्चित्त दे ऋषिराय और युवाचार्यवर ने वहा से प्रस्थान कर दिया। मघवागणी ने लिखा है—जैसे चक्रवर्ती के पास सेनापति होता है, वैसे ही पूज्य ऋषिराय के पास युवाचार्य जय थे। उनके वुद्धिवल के सामने सव लोग प्रणत हो जाते थे।[1]

---

१. ते. आ. ग्रं. २. पृ. ६६-६६ [जयसुजश, ढा० २४,२५]।

सं० १६०७ की घटना है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में विहार कर रहे थे। अजमेर से आचार्यवर ऋषिराय मेवाड़ पधार गए। युवाचार्यश्री उनकी आज्ञा से जयपुर पधारे। वहा एक श्रावक था। उसका नाम था रामचंद कोठारी। उसने साधु-साध्वियों को वंदना करना छोड़ दिया। युवाचार्यश्री ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—जो साधु दोपपूर्ण आचरण को निर्दोप मानने का आग्रह करते है, 'उन्हें वंदना कैसे की जाए ? युवाचार्यवर ने कहा—आवेश स्वयं एक दोप है। कोई साधु दोप को निर्दोप वताता है, और वह आवेशवश वताता है, तो उससे वह दोपी वनता है, पर असाधु नही होता। उसका प्रायश्चित्त कर वह निर्दोष हो जाता है। कोठारी ने कहा—युवाचार्यवर ! मै आपकी वात को समझ गया। आग्रहवश सदोप को निर्दोप वताने वाला साधु प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है, पर मेरे मन की उलझन यह है कि उसे सुनने वाला गृहस्थ उलझ जाता है और उसकी साधु-संस्था से आस्था उतर जाती है, पर आपके उत्तर ने मुझे समाधान दिया है। अव मैं इस उलझन से परे हूं।' उसनें फिर से वंदना-व्यवहार शुरू कर दिया।

जयपुर की घटना है। सरदारमलजी लूणिया के पिता का नाम था पनराजजी लूणिया। वे जुआ खेलते-खेलते प्रसिद्ध जुआरी वन गए। घर वाले वहुत परेशान थे। उन्होंने जयाचार्य से कहा—आप इनकी आदत को वदलें। आचार्यवर ने पनराजजी को जुआ न खेलने की प्रेरणा दी। उनकी इच्छा नही थी उसे छोड़ने की, पर अपने आचार्य की इच्छा का अतिक्रमण वे कैसे करते ? उन्होंने जुआ न खेलने का संकल्प कर लिया।

पनराजजी के साथी उन्हे जुआ खेलने के लिए वहुत प्रेरित करते तव वे श्मशान में जा सामायिक-साधना में वैठ जाते। एक दिन पनराजजी का एक साथी श्मशान मे आया। वे सामायिक-साधना मे लीन थे। उनकी उंगली से हीरे की अंगूठी निकाल वह चलने लगा। वह वोला—रुपयों की जरूरत है, इसलिए यह ले जा रहा हूं। किसी से कहना मत। धर्म की सौगंध है। वह चला गया।

पनराजजी घर पहुंचे। घर वालों ने देखा, उनकी उंगली में हीरे की अंगूठी नहीं है। उसका मूल्य था वीस हजार रुपए। उन्होंने समझा, ये अंगूठी

---

१. ते आ ख. २, पृ. ११३,११४ [जयसुजश, ३३।३-१३]।

जुए में हार कर आए है। पूछने पर न बताया तब वह संदेह और अधिक गहरा हो गया।

वात जयाचार्य के कानों तक पहुंची। आचार्यवर ने उलाहना की भाषा में कहा—तूने संकल्प को कैसे तोड़ा ?

पनराजजी—गुरुदेव ! मैने संकल्प नही तोडा है।

जयाचार्य—तो फिर अंगूठी कहा गई ?

पनराजजी- यह बताने की स्थिति मे नही हूं।

जयाचार्य—क्या इस मौन का अर्थ यह नही होगा कि अंगूठी तुम जुए में हार गए हो ?

जयाचार्य का उलाहना सह लिया, फिर भी अपने साथी को अनावृत नही किया।

कुछ दिनों वाद उस साथी ने रुपए कमा लिए। वह पनराजजी के पास आया। उसने अंगूठी लौटाई और बोला—तुम्हे साधुवाद देता हू कि तुमने वहुत धैर्य रखा, अंगूठी की घटना को कही भी प्रगट नही किया। सचमुच तुम्हें कोई अच्छा गुरु मिला है।

अंगूठी की घटना जयाचार्य तक पहुंची। उन्हें अपने गृहस्थ-शिष्य के संकल्प-वल और धृति पर संतोष का अनुभव हुआ।

२६

विनोद

प्रसन्नता प्रकृति का एक अनुपम अनुदान है। यह सबके लिए है, पर आश्चर्य है कि सब इसके लिए नहीं होते। इसका वरण कोई विरल व्यक्ति ही कर पाता है। वही कर पाता है जो सामंजस्य को जानता है। प्रसन्नता एक प्रेरणा है। प्रसन्न व्यक्ति के पास आने वाला सहज ही प्रेरित हो जाता है। विनोद प्रसन्नता की एक रश्मि है। उसका शाब्दिक अर्थ है प्रेरणा। विनोद हो और प्रेरणा न हो, सोयी हुई भावना न जागे, यह संभव नही है।

जयाचार्य का जीवन रसहीन नहीं था। उनके जीवन में विनोद के दर्शन होते हैं और उसके पीछे दिखलाई दे रहे हैं ये सब—प्रसन्नता, सामंजस्य और प्रेरणा। ऋषिराय जयाचार्य के गुरु थे। उनका शरीर स्वस्थ था। उन्हे तैल-मर्दन से बड़ी अरुचि थी। कोई साधु कारणवश तैल-मर्दन करता वह उन्हें अच्छा नही लगता। सं० १६०३ में वे चातुर्मास प्रवास जयपुर में कर रहे थे। एक दिन घोड़े ने टक्कर लगा दी। हाथ की हड्डी उतर गई। चातुर्मास संपन्न होने पर भी विहार नहीं हो सका। चैत्र मास तक वही रुकना पड़ा। पुराने जमाने में अस्थि-पीड़ा मे तैल-मर्दन एक मुख्य उपचार था। उसका प्रयोग चल रहा था। चातुर्मास संपन्न होने पर साधु-साध्वियों ने आचार्यवर के दर्शन किए। जयाचार्य उस समय युवाचार्य अवस्था मे थे। उन्होंने भी आचार्यवर के दर्शन किए। ऋषिराय तैल-मर्दन करा रहे थे। जयाचार्य ने वह देखा। उनके मन में अतीत की स्मृतियां उभर आईं। उन्होंने कहा—गुरुदेव ! आप शीघ्र स्वस्थ हों, यह हम सबकी मंगल-भावना है। तैल-मर्दन आपको अच्छा नही लगता, फिर भी परिस्थितिवश

यह करना पड़ रहा है। कैसी बात बनी है ! बात करते-करते वे विनोद की भाषा मे बोले—

'कोई तेल लगाई आवतो, करता तिण स्यू तर्क।
इक दिन इसड़ो आवियो, गुरु रहै तेल में गर्क॥'

जयाचार्य की इस विनोद भरी वाणी द्वारा सबके होठो पर मुस्कान दौड़ गई। ऋषिराय ने भी अपने उत्तराधिकारी को पुलकित नेत्रों से देखा।

३०

वात्सल्यमूर्ति

हमारा जगत् आकर्षण और विकर्षण का जगत् है। सौंदर्य-बोध और प्रेम से उत्पन्न होता है आकर्षण। भद्दापन और घृणा से उत्पन्न होता है विकर्षण। प्रेम की अनेक रश्मियो में से एक रश्मि है वात्सल्य। एक व्याध हिरनी को लक्ष्य बना बाण चलाने की तैयारी कर रहा था। हिरनी उसके समीप आकर बोली—व्याध, तुम मुझे मारना चाहते हो ? लो, मै स्वयं तुम्हारे सामने उपस्थित हूं। स्तनो को छोड़ तुम मेरे शरीर का पूरा मांस ले लो और मुझे जाने दो। तुम मुझ पर कृपा करो। अभी तक मेरे शिशु घास खाना नही जानते। वे मेरी बाट जोह रहे है। यह है मातृ-वात्सल्य। इसमें न स्वार्थ है, न कामना, न वासना।

धर्म के शासन में भी वात्सल्य का बहुत महत्त्व है। यह जोड़ता है नाना देशों से आए नाना भाषा-भाषियो को, नाना रुचि, स्वभाव और विचार वालों को। इसीलिए वात्सल्य सम्यग् दर्शन का सातवां आचार है।

जयाचार्य ने सं० १९११ का चातुर्मास-प्रवास रतलाम (उस समय का मालवा, आज का मध्यप्रदेश) में किया। चातुर्मास संपन्न होने पर वे इंदोर पधारे। वहा मुनि मघवा को ज्वर हो गया। धीरे-धीरे वह भाव या मोतीझरा (टाइफाइड) में बदल गया। जयाचार्य एक महीने तक वहां रहे, फिर भी मघवा स्वस्थ नहीं हुए। उनकी सेवा में कुछ साधुओं को नियुक्त कर जयाचार्य ने उज्जैन की ओर प्रस्थान कर दिया। उन्होंने इंदोर से दो कोस (चार मील) की दूरी पर पहला पड़ाव किया। मघवा सदा जयाचार्य के साथ रहे थे। उन्हे अलग रहना अच्छा नही लगा। उन्होंने साधुओं को भेजकर जयाचार्य से प्रार्थना करवाई—मैं आचार्यवर के साथ ही विहार

करना चाहता हूं, यहां अलग रहना नही चाहता। मुझे दर्शन दें और अपने साथ ले चले। जयाचार्य ने मुनि मघवा को अपने साथ लेने की वात सोची और साधुओं से कहा—तुम इंदोर जाओ, उसे उठाकर यहां ले आओ। उस समय लालचंदजी वोरड़, वैद्यराज खूबचंदजी आदि श्रावक सशक्त स्वर में वोले—गुरुदेव ! मुनि मघवा के अवधि-ज्वर (मियादी वुखार) है। अभी ज्वर को सत्ताईस दिन नही हुए हैं। वे मार्ग मे आपके साथ कैसे रह पाएंगे ? कहां सुविधापूर्ण स्थान मिलेगा ? कैसे समुचित उपचार होगा ? आप उन्हे अपने साथ लेने की बात न सोचे। आप कृपा करें। फिर इंदोर पधार उन्हें दर्शन दें, उनका योगक्षेम करे। उनकी युक्तिसगत प्रार्थना पर ध्यान दे आचार्यवर वापस इंदोर पधार गए। कुछ दिन वहां रहे, ज्वर उतार पर आया तव मघवा को साथ ले उज्जैन की ओर प्रस्थान कर दिया। मुनि मघवा दुर्वल हो गए थे। वे अपने पैरो से चलने में अशक्त थे, इसलिए साधु उन्हें उठा कर उज्जैन ले आए।[1]

माणकगणी का जन्म जयपुर में हुआ था। उनके मन में वैराग्य का अंकुर फूटा, पर वे अपनी संकोचशील प्रकृति के कारण उसे पल्लवित नही कर सके। तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षा पारिवारिक जनों की स्वीकृति के वाद ही होती है। माणकगणी के वावा का नाम था लिछमणदासजी। वे वड़े धर्मनिष्ठ श्रावक थे। उन्ही की देख-रेख मे सारा परिवार चल रहा था। माणकगणी उन्हें अपनी भावना जताने का साहस नही कर सके।

जयाचार्य कुचामन पधारे। लाला लिछमणदासजी अपने परिवार के साथ उपासना कर रहे थे। जयाचार्य ने अवसर देख कहा—माणकलाल दीक्षा लेना चाहे तो तुम क्या सोचोगे ?

लालाजी—गुरुदेव ! ऐसा सौभाग्य वैराग्य होने पर ही हो सकता है।

जयाचार्य—यदि माणकलाल के मन में वैराग्य हो तो तुम्हे उसे दीक्षा की स्वीकृति देने में कोई आपत्ति तो नही होगी ?

लालाजी—शहर में रहने वालों के मन में इतना जल्दी वैराग्य कहां होता है ?

ज़याचार्य—यदि हो तो तुम क्या करोगे ?

लालाजी—गुरुदेव ! माणक वहुत कोमल है, शहरी वातावरण में

---

१. ते. आ ख २, पृ. १३२, १३३ [जयसुजश ४२। १३-१७, ४३ दो. १,२]

पला-पुसा है। इसे संयम-साधना मे आने वाले कष्टों का पता नही है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि कष्टों को सहने की इसमें क्षमता नही है। यह साधु-दीक्षा कैसे लेगा ?

जयाचार्य—वैराग्य नही होता तव ये सारे कष्ट असह्य लगते हैं। वह होता है तव ये सारे कष्ट सरलता से सह लिए जाते है। तुम इन कष्टो की चिंता मत करो।

लालाजी—गुरुदेव ! यह पैदल कैसे चल पाएगा ? कंधों पर भार उठा कर चलना कैसे संभव होगा ? यह श्रावक रह कर संघ की अच्छी सेवा कर सकेगा।

जयाचार्य—तुम पदयात्रा की चिंता क्यो करते हो ? अभ्यास से सव कुछ ठीक हो जाएगा। भार उठाने की चिंता भी मत करो। अपने रजोहरण का भार तो उठा ही लेगा ?

जयाचार्य की वात्सल्य भरी वाणी सुन लालाजी गद्‌गद्‌ हो गए। माणक का मनोरथ पूरा हुआ। लालाजी ने उसे जयाचार्य के चरणों मे समर्पित कर दिया।

३१

अन्तर्दृष्टि

हम परोक्ष से वहुत परिचित हो गए है, इसलिए उसी मे विश्वास करते है। प्रत्यक्ष की यत्किंचित् मात्रा हर व्यक्ति मे मिलती है, पर अविश्वास उसका उपयोग नही करने देता। इद्रियो से अति परिचय का परिणाम है अतीद्रिय ज्ञान का विलयन। कुछ लोगो को अतीद्रिय ज्ञान की रश्मियां जन्म से ही उपलब्ध होती है। कुछ लोग साधना द्वारा उसे उपलब्ध कर लेते है। जो भीतर मे झाकता है, उसकी भीतरी दृष्टि जाग जाती है। जयाचार्य अन्तर्दर्शन की साधना करते थे, इसलिए उनकी अन्तर्दृष्टि जाग गई थी। वे व्यक्ति, घटना और परिस्थिति के वाह्य को ही नही, उसके अन्तर् भाग को देख लेते थे।

सं० १९११ की घटना है।[1] जयाचार्य अपना चातुर्मासिक प्रवास रतलाम (मध्य प्रदेश) में कर रहे थे। वह युग वाद-विवाद और जय-पराजय का युग था। धर्म की जिज्ञासा कम थी, साम्प्रदायिक आग्रह अधिक। वभूतसिहजी पटवा आदि अनेक लोग जयाचार्य के पास आए। उनके साथ एक ब्राह्मण विद्वान् था। वह उनका पक्षधर था। प्रश्नोत्तर चल रहे थे। उनके वीच में ही ब्राह्मण ने साधुओ की ओर सकेत कर पूछा—इन्हे आप क्या समझते है ? जयाचार्य की अन्तर्दृष्टि गहरे तक पहुंच गई। आचार्यवर ने सोचा, यदि मै कहूं कि साधु समझता हूं तो यह कहेगा—इनमें कुछ अभव्य हो सकते है, फिर आप इन्हें साधु कैसे समझते है ? प्रश्नकर्त्ता का मन सरल नही है। यह कपट भरा हुआ लगता है। आचार्यवर ने तर्क के प्रति

---

१. ते. आ. ख० २ पृ. १२९-१३० [जयसुजश ४१। ५-२४]

तर्क का प्रयोग करते हुए कहा—'किसी ने पूछा, तुम्हारे पिता का नाम क्या है ?' वह किसका नाम बताएगा ? इस प्रतितर्क पर ब्राह्मण विद्वान् मौन रहा। यह पटवाजी को अच्छा नहीं लगा। वे बोले—माता बतलाएगी, वही उसका पिता होगा।

जयाचार्य ने कहा—पुत्र अपनी माता के अनुसार अपने पिता का नाम बताएगा। वास्तव में उसका पिता वही है या कोई दूसरा ?

दूसरों को इसका क्या पता कि वास्तव में उसका पिता कौन है। व्यवहार में वह जिसका पुत्र कहलाता है, वही उसका पिता है। इसी प्रकार वास्तव में ये क्या है, यह केवली जानते है। व्यवहार दृष्टि से ये साधु हैं।

जयाचार्य के उत्तर की गहराई में डुबकियां लेते-लेते सब मौन हो गए।

३२

मंत्रदाता

आचार्य मंत्रदान करते है, इसलिए वे मंत्रदाता कहलाते है। मंत्र का संबंध मननीय, रहस्यात्मक एवं परिवर्तन करने वाली शक्ति से होता है। आचार्य का एक वाक्य कभी-कभी आलबन बन जाता है। सं० १८८५ मे जयाचार्य ने मुनि अवस्था में जयपुर मे चातुर्मास-प्रवास किया था। उस समय बावन व्यक्तियो ने उनसे गुरुदीक्षा ली थी। उनमे एक थे मालीरामजी लूणिया। वे जयपुर के प्रतिष्ठित नागरिक थे। जयपुर के नरेश सवाई रामसिह द्वितीय के वे कृपापात्र थे। किसी कारणवश उनका नरेश से मनमुटाव हो गया, इसलिए वे जयपुर को छोड़ आगरा मे रहने लगे। जयाचार्य जयपुर में प्रवास कर रहे थे। उदयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक मोखजी खीमेसरा ने वहा दर्शन किये। राजमाता तीर्थयात्रा करने जा रही थी। उनकी तीर्थयात्रा मोखजी की देख-रेख मे हो रही थी। मोखजी ने बातचीत के मध्य आगरा जाने की बात कही। आचार्यवर ने कहा—वहा मालीरामजी लूणिया रहते है, वे अच्छे श्रावक है।

राजमाता तीर्थयात्रा के मध्य रुग्ण हो गई और उनका देहावसान भी हो गया। मोखजी राजमाता के शस्त्र-सज्जित अगरक्षको और कर्मचारियो के दल के साथ उदयपुर लौट रहे थे। उन दिनों आगरा के आस-पास डूगजी, जुहारजी आदि डाकुओ का बड़ा आतक फैला हुआ था। पुलिस बड़ी तत्परता से उनकी खोज मे लगी हुई थी। मोखजी का दल उधर से गुजरा। डाकू समझकर उन्हे पकड़ लिया गया। पुलिस अधिकारी के सामने उदयपुर राजमाता की तीर्थयात्रा का प्रसंग प्रस्तुत किया, पर उन्होने उस

पर विश्वास नही किया। आगरा में तुम्हें कोई जानता हो तो तुम्हें छोड़ सकते है, वात यहां आकर ठहरी। मोखजी ने जयाचार्य द्वारा प्रदत्त मंत्र का उपयोग किया। उन्होने कहा—मालीरामजी लूणिया मेरे सहधर्मी है। मालीरामजी ने आगरा में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। पुलिस अधिकारी मोखजी को उनके पास ले गया। पारस्परिक अभिवादन के वाद परिचय पूछा गया। मोखजी ने कहा—आपके विषय में मुझे जयाचार्य से जानकारी मिली। जयाचार्य का नाम सुनते ही मालीरामजी की आंखे अश्रुपूरित हो गईं। श्रद्धा के साथ हाथ जुड़ गए। आचार्य द्वारा की गई स्मृति आनंद की अश्रुधारा का प्रवाह वन गई। उन्होंने अपने हर्षावेश को रोककर विश्वास प्राप्त करना चाहा। जयाचार्य के वारे में मोखजी से अनेक प्रश्न पूछे— कौन जयाचार्य ? वे किस संघ के आचार्य हैं ? वे कव दीक्षित हुए थे ? वे अकेले ही दीक्षित हुए हैं या उनके परिवार के अन्य सदस्य भी दीक्षित है ? मोखजी ने इन सव प्रश्नों के उत्तर दिए। प्रामाणिक उत्तर प्राप्त कर मालीरामजी विश्वस्त हो गए। उन्होंने पुलिस अधिकारी को आश्वस्त कर दिया। उन्होने अपने सार्धमिक का मुक्तभाव से आतिथ्य किया। आचार्य द्वारा अनायास उपलब्ध मंत्र ने मोखजी को संकटमुक्त कर दिया।

३३

सम्मति का सम्मान

जयाचार्य स्वयं प्रबुद्ध थे, पर उनमें प्रबुद्धता का अहंकार नही था। वे बहुत विनम्र और सत्य के प्रति समर्पित थे। वे दूसरों के मत का सम्मान करना भी जानते थे। जैन ज्योतिष पर उनका अधिकार था। उनके मन मे एक विचार आया—जैन पर्वो की एकता स्थापित करने के लिए एक सौवर्षीय पंचांग का निर्माण किया जाए। आचार्यवर ने उसका कार्य प्रारंभ कर दिया।

एक स्थानकवासी मुनि उनसे मिले। वे आचार्यवर की वहुमुखी प्रतिभा और विद्वत्ता का वहुत सम्मान करते थे। आचार्यवर ने पंचांग-निर्माण की बात उनके सामने रखी। उन्होने कहा—आचार्यवर ! आपकी प्रतिभा में मुझे संदेह नही है। आपके द्वारा निर्मित पंचाग निस्संदेह उपयोगी होगा, पर सब जैन संप्रदायों द्वारा मान्य होगा, इसमे मुझे संदेह है। मुनि द्वारा व्यक्त किया गया संदेह एक परामर्श बन गया। आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर पंचाग-निर्माण का कार्य स्थगित कर दिया।

एक बार आचार्यवर ने चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र का स्तवक (लघु व्याख्या) लिखना शुरू किया। एक वयोवृद्ध और अनुभवी स्थानकवासी मुनि ने पूछा—आजकल क्या स्वाध्याय चल रहा है ? आचार्यवर ने वताया—अभी मै चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र का स्तवक लिख रहा हूं। आचार्यवर का गणित और ज्योतिष—दोनो विषयों के प्रति आकर्षण था। इन दोनों सूत्रों का संबंध खगोल से है। माना जाता है कि इसमे कुछ मंत्र है और वे वहुत शक्तिशाली है। निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि

मुनिजी ने किस दृष्टि से कहा—आप इनका स्तवक लिख कर क्या करेंगे ? उन्होंने कोई रहस्य की वात कही। आचार्यवर ने उनके परामर्श पर ध्यान दिया। उन्होंने स्तवक लिखना स्थगित कर दिया। स्तवक के कुछ अंश आज भी संघीय ग्रंथागार में सुरक्षित पड़े हैं।

जयाचार्य मुनि मघवा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सवसे वड़े संघीय दायित्व से मुक्त हो चुके थे। वे संघ-संचालन और साहित्य-सृजन दोनों कार्य कर रहे थे। एक स्थानकवासी मुनि ने युवाचार्यश्री की मृदुता, प्रतिभा और कार्य-क्षमता का परिचय प्राप्त कर जयाचार्य से कहा—जीतमलजी ! आपको मघवा जैसे योग्य शिष्य मिले हैं, अव आपको संघीय चिंता से मुक्त हो, अधिक समय स्वाध्याय-ध्यान में ही लगाना चाहिए। यह परामर्श उनकी जीवन-व्यवस्था को पुष्टि दे रहा था। वे स्वयं इसी दिशा में प्रस्थान कर चुके थे। उनके जीवन की संध्या के वर्ष स्वाध्याय और ध्यान के निदर्शन वन गए।

३४

साहित्यिक ऊर्मियां

जयाचार्य साहित्यिक रुचि वाले पुरुष थे। समय-समय पर व्यग और विनोद का प्रयोग करते रहते थे। गुरु की रुचि शिष्य-वर्ग मे संक्रात होती है। आचार्यवर की रुचि का संक्रमण श्रावक समाज मे भी हुआ। स० १६१० की घटना है। जयाचार्य मेवाड़ मे विहार कर रहे थे। वे ग्रामानुग्राम विहार करते-करते काकरोली पहुंचे। राजनगर वीच मे आता था, उसे छोड दिया।

राजनगर के श्रावकों को यह वहुत अप्रिय लगा। राजनगर तेरापथ की ऐतिहासिक भूमि है। आचार्य भिक्षु की वोधिभूमि, आचार्य भारीमालजी की महाप्रयाण स्थली और आचार्य ऋषिराय की पदारोहण भूमि है। जयाचार्य ने उसकी उपेक्षा की, यह उन्हे वहुत अखरा।[1] वे जयाचार्य के चरणों में पहुचे। उन्होने कहा—'हम प्रार्थना लेकर नही आए है कि आचार्यवर राजनगर पधारें। हम आपको उलाहने से वचाने के लिए आए है। हमारे सघ के तीनो आचार्यों ने राजनगर को वहुत महत्त्व दिया। आपने उसकी उपेक्षा की है। स्वर्ग में वे आप से मिलेंगे तव इस वात के लिए आपको उलाहना देंगे। राजनगर के साथ किए गए व्यवहार के लिए वे अपना

१. इस विषय मे राजनगर के श्रावक हसराजजी सेवग ने जो गीतिका वनाई, उसके राजस्थानी मे रचे गए पद्य भी वडे मार्मिक हैं—

राजनगर किम टालियोजी, काकरोली के काम।
आप टाली ने नीकल्याजी, पिण म्हारो वेनी छै राम ॥ १ ॥
भीखणजी गुण भाखियाजी, भारीमाल ज्यारी भेंट।
स्वग माहि मिलता थका, था नै ओलमो देसी थेट ॥ २ ॥
अब ही आप पधारिये जी काइ, रुडी हिरदा मे धार।
भोलेइ भूलो मतीजी काइ, पाछो आवेला पुकार ॥
'हस' कहे हजूर ने जी, म्हारे पिंड नहि छै पाप।
ए ओलमो दीधो आपने जी काइ, तिणरोइ गुनो छै माफ ॥

असंतोप प्रगट करेंगे। हम नहीं चाहते कि आप उन्हें यह अवसर दें। फिर जैसी आपकी इच्छा। इस मार्मिक व्यंग ने जयाचार्य की गति वदल दी। वे कांकरोली से प्रस्थान कर राजनगर पधार गए।

सं० १६१० का चातुर्मास संपन्न कर आचार्यवर ने कानोड़ की ओर प्रस्थान किया। उस समय मालवा के कुछ प्रमुख श्रावक आचार्यवर के दर्शन करने आए। वे अपने साथ तुलसी की माला लाए। रतलाम निवासी गोमनजी और वृद्धिचन्दजी अग्रवाल ने व्यंग की भापा मे कहा—आचार्यवर! हमारे पूर्वज वैष्णव थे। वे तुलसी की माला से जप करते थे और गोमुखी रखते थे। मुनि वेणीरामजी ने उन्हें जैन-धर्म में दीक्षित किया। हम भी जैन-धर्म की आराधना कर रहे है, पर आप हमारी ओर ध्यान नहीं दे रहे है। आप हमारे क्षेत्रों का स्पर्श नही कर रहे है। उन्होने तुलसी की माला जयाचार्य की गोद में डाल दी और कहा—या तो आप हमारे जनपद की यात्रा करें या फिर हमें यह तुलसी की माला पकड़ा दें।

आचार्यवर प्रसन्न हुए उनकी व्यंग्योक्ति पर और उन्होंने सं० १६११ का चातुर्मासिक-प्रवास रतलाम में करने की घोपणा कर दी।[1]

राजा भोज ने चाहा था कि कालीदास जीवनकाल में ही मुझे शोक-गीत सुनाए। राजा ने महाकवि कालीदास से कहा। उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। राजा ने रुष्ट हो महाकवि को अपने देश से निर्वासित कर दिया। राजा अपनी भावना के वेग को रोक नही पा रहा था। वह वेप वदल कर महाकवि की खोज में निकला। अकस्मात् भेट हो गई। महाकवि राजा को नही पहचान पाए। उन्होंने पूछा—धारा नगरी से आए हो। कहो, राजा कैसे है? आगंतुक ने कहा—राजा भोज मर गया। 'क्या सच कह रहे हो?' 'हां, सर्वथा सत्य कह रहा हूं।' तत्काल महाकवि के मुंह से निकल पड़ा—

अद्य धारा निराधारा, निरालंवा सरस्वती।
पंडिताः खंडिताः सर्वे, भोजराजे दिवंगते॥

---

१ जयसुजश मे उक्त दोनो घटनाओ का उल्लेख नही है।
उसके अनुसार आचार्यवर राजनगर से काकरोली पधारे।
(ते. आ. ख. २ पृ. १२४ [जयसुजश ३८।६)]
आचार्यवर ने मालवा यात्रा की सकल्पना कर कानोड की ओर प्रस्थान किया था।
(वही, पृ. १२६ [जयसुजश, ढा०४०, दोहा १)

राजा अपने प्रयत्न की सफलता पर हर्षोत्फुल्ल हो गया। उसकी मुस्कान अपने आप को छिपा नही सकी। महाकवि प्रवंचना का परिष्कार करते हुए वोल उठा—

अद्य धारा सदा धारा, सदालंबा सरस्वती।
पंडिता मंडिताः सर्वे, भोजराजे भुवंगते ॥

महासती सरदारांजी ने किसी प्रवंचना और निर्वासन के विना ही अपनी जीवन-गाथा अपने गुरु के मुंह से सुन ली। जयाचार्य ने उनके जीवन काल में ही 'सरदार सुयश' रचा और उन्हे सुना दिया। उनकी जीवन-गाथा की पंद्रह गीतिकाएं है। चौदह गीतिकाएं उन्हें सुना दी। एक गीतिका उनके स्वर्गवास के बाद रची गई।

जयाचार्य मुनि अवस्था मे थे। यात्रा चल रही थी। गर्मी का मौसम। राजस्थान की गर्मी। सूर्य का परम अनुग्रह। रेतीले टीले। सौर-ऊर्जा का उपयुक्त क्षेत्र। धरती ही नही, आदमी भी तप उठता है। चारों ओर धूप ही धूप। आवश्यकता हुई विश्राम की। छाह की खोज शुरू हुई। जहां दृष्टि जाए वहां धूलि ही धूलि। धूलि का एकछत्र साम्राज्य। वृक्ष का दर्शन सत्य की भांति दुर्लभ है। वहुत खोजने पर भी दिखाई नही देता। पर वह असफल नही होता जो निरंतर खोज में संलग्न होता है। आखिर एक वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ। वह थी खेजडी। राजस्थान का कल्पतरु। वह साग के लिए 'सांगरी' देता है, वच्चों को खाने के लिए मीठे-मीठे 'खोखा' देता है और उसकी छोटी-छोटी पत्तियां धूप से तपे हुए राही को छाह देती हैं। खेजड़ी के नीचे बैठने वाला छांह का मूल्य जानता है। कल्पतरु के नीचे बैठने वाला छांह का मूल्य नही जान सकता। जहा धूप नही, वहा छाह का मूल्य कैसे आंका जा सकता है?

मुनिवर ने खेजड़ी के नीचे विश्राम किया। उन्होने छांह की अनुभूति का एक दोहे में चित्रण किया—

'छोटी-सी खेजड़ी, गहरी ठंडी छांय।
जीत आदि मुनि संचरया, विश्रामो तिहा पाय॥'

३५

सार्वभौमधर्म के प्रवक्ता

धर्म के क्षेत्र में वहुत सारी मान्यताएं है। उनमें एक मान्यता है—मेरे सम्प्रदाय मे आओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी; अन्यथा नही होगी। यह धर्म का सम्प्रदायीकरण है। इससे धर्म आवरण के नीचे चला गया। सम्प्रदाय अधिक मिलता है, धर्म कम। अपेक्षा है धर्म अधिक मिले, सम्प्रदाय कम। आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में एक क्राति की, धर्म को समझने का नया दृष्टिकोण दिया। उसका मूल सूत्र है—वास्तविक सत्य मुख्य रहे, व्यावहारिक सत्य गौण। धार्मिक लोग धर्म के क्षेत्र में भी व्यावहारिक सत्य को मुख्य मानकर उसके आधार पर निर्णय लेते हैं और वे निर्णय साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देते है।

धर्म किसी सम्प्रदाय से आवद्ध नही है। वह सार्वभौम सत्य है, देश और काल की सीमा से परे है। जयाचार्य ने उसके सार्वभौम रूप का जैन आगमों के अनेक स्रोतों से समर्थन किया है। एक महत्वपूर्ण स्रोत है–'असोच्चा केवली' (अश्रुत्वा केवली)। वहां वतलाया गया है कि जो सहज भाव से राग-द्वेपमुक्त जीवन जीता है, वह चेतना को अनावृत करते-करते केवली वन जाता है। जिसने धर्म का नाम तक नही सुना, उसकी व्याख्या भी नही पढ़ी, वह केवली वन जाता है, इसलिए उसे 'अश्रुत्वा केवली' कहा गया। यह धर्म के संप्रदायातीत स्वरूप का एक महत्वपूर्ण निदर्शन है।

धर्म के दो रूप है–१. परम्परागत धर्म, २. आन्तरिक चेतना में घटित होने वाला धर्म। परम्परागत धर्म के कुछ नियम होते है। आन्तरिक चेतना में जो घटित होता है, वह नियमातीत होता है। व्यवहार के जगत् में जो

धर्मज्ञ नही है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। आगम-सूत्रो मे दो घोषणाएं मिलती है—१. मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया अच्छी है, मोक्ष-मार्ग की आराधक है। २. मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया का उतना मूल्य नही है, जितना सम्यग्दृष्टि की धर्म-क्रिया का है। इन दो घोषणाओं के आधार पर दो विचारधाराएं वन गई। अनेकात की जव-जब विस्मृति होती है तव-तब विचारों या विवादो का विस्तार होता है। सापेक्षदृष्टि से देखे तो दोनो घोषणाओ में कोई विसंगति नही है। दोनो घोषणाएं सापेक्ष है। जहा सापेक्षदृष्टि को निरपेक्ष मान लिया जाता है वहा एकागी दृष्टि बनती है और विवाद वढता है। आगम का प्रत्येक वचन निश्चय और व्यवहार—इन दोनो दृष्टियों से परीक्षणीय होता है। सम्यग् ज्ञान के लिए इन दोनो दृष्टियो का उपयोग अनिवार्य है। सूक्ष्म सत्य स्थूलदृष्टि द्वारा नही जाना जाता, संम्प्रदाय की सीमा में नही आता, वह निश्चय नय के द्वारा ही जाना जा सकता है। स्थूल सत्य स्थूलदृष्टि के द्वारा गम्य होता है। वह सप्रदाय की सीमा मे आवद्ध होता है। उसकी व्याख्या व्यवहार नय के आधार पर की जा सकती है।

आचार्य भिक्ष ने मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया को मूल्यवान् वतलाया। इस विषय मे उनकी एक महत्वपूर्ण कृति है—'मिथ्याती री करणी री चौपाई।' जयाचार्य ने उसे आधार वनाकर 'भ्रमविध्वसन' नामक ग्रंथ का पहला अधिकार लिखा—मिथ्यात्वी क्रियाधिकार। उसमे उन्होने संप्रदायातीत धर्म का सशक्त समर्थन किया। उनका तर्क है—धर्म को संप्रदायातीत माने विना आन्तरिक जगत् मे होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नही की जा सकती। एक प्राणी वनस्पति जगत् मे होता है। वह उस सूक्ष्म जगत् से उत्क्रमण कर स्थूल जगत् मे, अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था मे, प्रवेश करता है। यह विकास की प्रक्रिया चेतना के आतरिक परिवर्तन से होती है। वह परिवर्तन धर्म से होता है।

धर्म की दो विधिया है—सहज धर्म और प्रयत्नकृत धम। सहज धर्म में धर्म हो रहा है, इसका पता नही चलता। प्रयत्नकृत धर्म मे उसका पता लग जाता है। सहज धर्म आतरिक प्रक्रिया है। यह प्रत्येक प्राणी मे होती है। इसी आधार पर 'असोच्चा केवली' की व्याख्या की गई है। जिस व्यक्ति ने धर्म को नही सुना, वह आतरिक परिवर्तन और चेतना की निर्मलता को उपलब्ध होते-होते केवली की भूमिका तक पहुच जाता है। वाहर से वह न

संयमी वनता है, न वीतराग वनता है। आन्तरिक प्रक्रिया से वह सम्यग्दृष्टि, सयमी, वीतराग और केवली—सव कुछ वन जाता है। कहा जाता है—सम्यग् दृष्टि के विना ज्ञान नही और ज्ञान के विना चारित्र नही। मिथ्या दृष्टि वाला व्यक्ति ज्ञानी नही होता, फिर चारित्र-सम्पन्न कैसे हो सकता है ? मुक्ति की आराधना का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के लिए यह क्रम है, किन्तु प्रयत्न-शून्य आराधना मे यह क्रम अन्तस् में फलित होता है, वाहर में उसका पता नही चलता। शुद्धि के प्रारम्भिक विंदुओं को अस्वीकार करें तो उसके मध्यविन्दु तक पहुचने का कोई मार्ग ही नही मिलता। मिथ्या दृष्टि वाला जीव सम्यग्दृष्टि को उपलव्ध कैसे होगा ? यह तर्क सार्वभौमधर्म के समर्थन का शक्तिशाली तर्क है। जयाचार्य ने अपने तर्क-वल और अनुभव-वल से संप्रदायातीत धर्म का सशक्त प्रतिपादन किया।

३६

जीवन-वृत्त के कुशल शिल्पी

जीवन जीना कला है। जीवनी-लेखन उससे भी बड़ी कला है। विशाल जोवनी को शब्दों की सीमा में समेटना और निर्जीव शब्दो मे प्राण भरना अद्‌भुत कला है। जीवनी वह होती है जिसमे जीवन-वृत्त आकार ले सके और पाठक अतीत-जीवन का साक्षात् कर सके। जयाचार्य कलाकार थे। उन्होंने जीवनी-लेखन में अपनी कला को सदा मूर्धाभिषिक्त रखा। उनके द्वारा लिखित जीवनियो की तालिका इस प्रकार है—

१. भिक्खुजशरसायण
२. लघु भिक्खुजशरसायण
३. ऋषिराय चरित्त। ऋषिराय पंचढालियो
४. सतजुगीचरित्त। सतजुगी पंचढालियो
५. हेमनवरसो। हेमचौढालियो
६. शांतिविलास
७. सरूपनवरसो। सरूपविलास
८. भीमविलास
९. मोतीजी स्वामी रो पंचढालियो
१०. मुनि उदयराजजी
११. सरदार-सुजश
१२. शिवजीस्वामी रो चौढालियो
१३. हरखचदजी चौढालियो
१४. कर्मचंद गुणरास
१५. उदयचंद चौढालियो।

नपे-तुले शब्दों में अतुलनीय को प्रस्तुत करना उनकी अपनी विशेषता है। वे श्रद्धा, विनय और कृतज्ञता की प्रतिमूर्ति थे। आचार्य और इतने विनम्र, यह कोई दुर्लभ योग है। उनकी कला के कुछ प्रतिविंब प्रस्तुत है। आचार्य भिक्षु की मुद्रा का वर्णन है —

'सावली सूरत, दीर्घ देह विशाल, लाल नयण, गजहस्ती नी चाल।'[1]

जीवनी के अंत मे आचार्य भिक्षु के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त हुई है। वे पद पाठक के मन को भाव-विभोर कर देते हैं।[2] जीवनी में श्रद्धा-ललित पदावली और अनुभव का मणिकाचन योग दृष्टिगोचर होता है।[3] जयाचार्य घटना का सटीक वर्णन करने में दक्ष है। कही-कही शब्दचित्र और भावचित्र चित्र की भाति आखो के सामने उभर आते हैं। आचार्य भिक्षु के गुरु कहते हैं— भिक्खन ! निरतिचार चारित्र का पालन दुष्कर है। यदि कोई दो घड़ी भी तन-मन से वैसा चारित्र साध ले तो वह केवली हो सकता है। इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा—गुरुदेव। यदि ऐसा हो तो मैं दो घड़ी तक वचन,

---

१ ते. आ. ख. १ पृ. ५८ [भिक्खुजशरसायण ६।२७]

२. ते. आ. ख. १ पृष्ठ १६२,१६३ [भिक्खुजशरसायण, ६३।३४-३७, ४०, ४२]

राम नाम ज्यू रटै स्वाम नैं, मुझ मन अधिक निहोर।
हसा मानसरोवर हरपै, चित्त जिम चन्द चकोर॥
चातक मोर पपईया घन चिन, गरजी ध्यान गगन।
राग विलासी राग अलापै, मुझ भिक्खु नैं मन॥
पतिवरता समरै जिम पिउ नैं, गोप्या रै मन कान्ह।
तबोली रा पान तणी पर, धरू स्वाम नो ध्यान॥
आशा पूरण आप तणा गुण, कह्या कठा लग जाय।
सागर जल गागर किम मावै, किम आकाश मिणाय॥
नाम आपरो घट भितर मुझ, जपू आपरो जाप।
तुझ नामै दुख दोहग दूरा, कटै पाप सताप॥
मत्राक्षर जिम स्मरण मोटो, परख्यो म्हैं तन-मन।
इहभव परभव मैं हितकारी, भिक्खु तणो भजन॥

३ ते. आ. ख. १ पृ. १६३ [भिक्खुजशरसायण—अतिम कलश]

मतिवत सत महत महा मुनि, तत भिक्खु ऋप तणा।
गुण सघन गाया परम पाया, हद पुणासण किअै घणा॥
तज जत्र मत्र सुतत्र लौकिक, भज ए मत्र मनोहरू।
सुख सद्म पद्म सुकरण जय जश नमो भिक्खु मुनि वरु॥

काय और श्वास को रोक, चित्त को स्थिर स्थापित कर रह सकता हूं। जीवनी का पद है—[1]

इम वचन सुन झट सुघट सुध वर, प्रगट भिक्षु उच्चरै।
घटिका जु बे सुध चरण निर्मल, अमल करि केवल वरै।
बे घडी तलक वक्क काय नासा, रूंघ समभावे रहूं।
थिर चित्त अधिक पवित्त अति हित, चित्त थी केवल लहूं।

ऋषिराय तेरापंथ के तीसरे आचार्य और जयाचार्य के दीक्षागुरु थे। उन्हे दीक्षा आचार्य भिक्षु से प्राप्त हुई थी। जयाचार्य ने उनकी दीक्षा का वहुत सरस वर्णन किया है।[2] भारमलजी स्वामी तेरापंथ के दूसरे आचार्य थे। वे रुग्ण हो गए। वे अपने उत्तराधिकारी का निर्णय करने की वात सोच रहे थे। सतजुगी खेतसीजी स्वामी और हेमराजजी स्वामी को किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसका संकेत मिल गया। वे दोनो भारमलजी के पास आकर वोले—'आप प्रसन्नता के साथ ऋपिराय को अपना उत्तराधिकारी चुनें, हमारी ओर से कोई चिता न करे। मुनि हेमराजजी ने कहा—'वाई और दांई आंख मे क्या फर्क है ? मुझे और ऋषिराय को आप वैसे

---

१. ते. आ. ख. १ पृ. २०५ [लघु भिक्खुजशरसायण, ३. कलश-२३, २४]

२. ते. आ. ख. २ पृ. ३० [ऋपिरायचरित्त, ३।१-५]

पूज भिखणजी पधारिया, आनन्दा रे।
वडी रावलिया वखाण क, आज आनन्दा रे ॥
दिक्षा देवा मा पुत्र ने आनन्दा रे, भला पधार्या जाण क।
नर-नारी हरप्या घणा आ०, पूज्य भिखनजी ने पेष क ॥
मा सुत दिक्षा लें चूप सू आ०, ज्या रे मन माहे हरप विशेप क।
वैरागी वनडो वण्यो आ०, रायचंद विध रात क ॥
मात खुसाला सोभता आ०, परम चरण सू प्रीत क।
चतुरो साह अति चूप सू आ०, करे दिक्षा मोछव अधिकाय क।
हथणी होदै हरष सू आ०, तिण उपर वैसाय क ॥
गाम-गाम ना आविया आ०, नर-नारया ना वृंद क।
अव वृक्ष तला विहु भणी आ०, सयम दियो सुखकन्द क ॥

ही जानें। कोई विचार न करें।"[1] आचार्य भारमलजी उनकी बात से बहुत प्रसन्न हुए और ऋषिराय को अपना उत्तराधिकारी चुन लिया।[2] ऋषिराय के साथ अपने सबंधो का वर्णन करते हुए जयाचार्य ने लिखा—'ऋषिराय मेवाड़ में विहार कर रहे है और ऋषि जीत उनकी आज्ञा से थली प्रदेश (तत्कालीन बीकानेर राज्य) मे विहार कर रहा है। क्षेत्र की दूरी है, फिर भी आचार्यवर के प्रति मेरे तन और मन मे प्रीति का भाव भरा हुआ है।"[3] उनका कृतज्ञता का स्वर बहुत अद्भुत है। वे कहते है—'गुरुदेव! मैं विंदु था, आपने मुझे सिंधु बना दिया। आपने मुझ दीक्षा दी, ज्ञान दिया और अपना उत्तराधिकार दिया। आपने मुझ पर जो उपकार किया, उसे मैं कैसे भूल सकता हू।"[4]

मुनि हेमराजजी जयाचार्य के विद्या-गुरु थे। उनके प्रति जयाचार्य के मन मे अगाध श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव है। मुनि हेमराजजी सिरियारी (जिला पाली) मे जन्मे, वही दीक्षित हुए, वही उनकी आखों की शल्य-चिकित्सा हुई और वही उनका स्वर्गवास हुआ।[5] मुनि हेमराजजी की माता सोमा ने स्वप्न मे देखा—देव-विमान सामने खड़ा है। उन्होंने कहा—मेरी संतान जीवित नही रहती। तव उत्तर मिला, अव दो जातक जीवित रहेंगी—एक पुत्र और एक पुत्री। उस समय मुनि हेमराजजी गर्भ मे थे। माता को

---

१. अमरगाथा [हेमनवरसो, ५।५६-५६]

तिणइज वर्स पूज तन जाणी, काइ वेदना अधिक जणाणी।
भारीमाल री मुरजी पिछाणी, मुनि बोल्या अमृतवाणी॥
रायचद छै गुणखाणी॥
हेम सुंदर वाण वदीजे, रायचदजी नै पट दीजे।
म्हारी तरफ सूं सका न राखीजै॥
आंख डावी जीमणी विचारो, तिण मे फरक नही छै लिगारो।
तिम हू रायचद सारो॥
हेम वाणी सुणी पूज हरख्या, यानै तन-मन सू विनीत परख्या।
निकलक हेम इम निरख्या॥

२. ते. आ० ख. २, पृ ३६ [ऋषिरायचरित्त, ७।४-७]

३. ते आ. ख. २, पृ. ४० [ऋषिरायचरित्त, १०।दो. २,३]

४ ते आ. ख. २ पृ. ४८ [ऋषिरायचरित्त, १३।४०]

५. अमरगाथा [हेमनवरसो, ढा० १।दो. ८]

सरियारी मे जनमिया, सरियारी व्रत धार।
सरियारी नेत्र खुल्या, सरियारी सथार॥

बहुत प्रसन्नता हुई।[1]

मुनि हेमराजजी की दीक्षा से पूर्व आचार्य भिक्षु के संघ में बारह साधु थे। वे तेरहवें मुनि बने। उसके पश्चात् संघ का चतुर्मुखी विकास हुआ।[2] उनका हृदय निर्मल और प्रकृति सरल थी। वे बुद्धि के धनी और सुगुरु के लिए सुखदायी थे।[3] वे ध्यान मे लीन रहते थे। उनका चरित्र कमल की भांति पंक से परे था।[4]

कृतज्ञता और आभार प्रगट करते हुए जयाचार्य ने लिखा—'मुनिवर ! आपने तेरह वर्ष तक बहुत परिश्रम कर मुझे सूत्र और अर्थ का ज्ञान दिया, और भी अनेक कलाएं सिखलाईं। आप महान उपकारी है।[5] मुझ पर जो उपकार किया उसका मै वर्णन नही कर सकता। मै बिंदु था, आप ने मुझे सिंधु बना दिया। पारस लोहे को सोना बनाता है। आप सच्चे पारस है, जो लोहे को पारस बना देते है। आपने मुनि जीत की जय की है। स्वप्न में भी आपकी मुद्रा देखते ही हृदय आनंद से भर जाता है।[6]

---

१. अमरगाथा [हेमनवरसो, १।११,१२]

अमरोजी तात विख्याता जी, काइ माता सोमा दीपती काइ देख्यो देव विमाण।
कर जोडी कहै वाणीजी मुझ पुत्र सुता जीवै नही, कह्यो दोय जीवसी जाण।।
एहवो सुपनो निरखीजी काइ हरखी माता अति घणी, स्वामी हेम गर्भ अनुसार।
जनम्या उत्तम प्राणी जी सुखदाणी पुण्य सरोवरु हूओ आणद हरष अपार।।

२ वही, [हेमनवरसो, ३।३५]

बारे संत आगे हुंता, स्वाम भीखू रे सोय।
हेम थया सत तेरमा, या पाछे न घटियो कोय।।

३. वही, [हेमनवरसो, ३।३६]

हेम हीया रा निरमला, हेम सुगुरु सुखदाय।
हेम निपुण बुध आगलो, हेम सरल मुनिराय।।

४. वही, [हेमनवरसो, ४।दो. ४]

अमल चरण वर करण धर, निमल सील निकलक।
विमल ध्यान लहलीन चित्त, कमल जेम 'निरपक'।।

५. वही, [हेमनवरसो, ६।३४]

तेरा चौमास बहु खप कर नैं, सूत्रादि अर्थ उदारी।
विविध कला सिखाई जीत नैं, हेम इसा उपगारी।।

६ वही, [हेमनवरसो,७।२९-३३]

मु० मोसू उपगार कियो घणो, कह्यो कठा लग जाय।
निश दिन तुझ गुण समरू, वस रह्या मो मन माय।।
मु० सुपने सूरत आप री, पेखत पामैं पेम।
याद आयां हियो हुल्लसैं, कहणी आवै केम।।
मु० हू तो बिंदु समान थो, तुम कियो सिंधु समान।
तुम गुण कबहू न वीसरू, निश दिन धरू तुझ ध्यान।।
मु० साचा पारस थे सही, कर दे आप सरीस।
विरह तुम्हारो दोहिलो, जाण रह्या जगदीश।।
मु० जीत तणी जय थे करी, विद्यादिक विस्तार।
निपुण कियो सतीदास नैं, वलै अवर सत अधिकार।।

गुणग्राहिता और कृतज्ञता के क्षेत्र में जयाचार्य अग्रणी है। वे इस प्रतियोगिता में किसी से पीछे रहना नहीं चाहते। मुनि हेमराजजी की प्रज्ञा उनकी दृष्टि में ऋतंभरा थी।[1] वे बहुत मृदुभाषी थे। जयाचार्य ने उत्प्रेक्षा की है—मानो कठोर वचन बोलने का नियम ले रखा था।[2] जीवन की संध्या में जयाचार्य ने कहा—'मुनिवर ! मृत्यु महोत्सव है। यह अशुचि शरीर छूटता है तो उसके लिए चिंता करने की क्या बात है ? हम पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। साधक यहां से मर कर दिव्य जीवन में प्रवेश करता है। दीर्घकाल तक वह आनंदपूर्ण अवस्था मे रहता है। भविष्य में मुक्ति का मार्ग प्रशस्त पाता है, इसलिए मृत्यु महोत्सव है। मुनि हेमराजजी ने आश्चर्य के स्वर ने पूछा — क्या मृत्यु महोत्सव है ? जयाचार्य ने कहा—साधक समाधि-मरण को प्राप्त होता है, इसलिए मृत्यु महोत्सव है।[3]

मुनि सरूपचन्दजी जयाचार्य के बड़े भाई थे और दीक्षा-पर्याय में भी ज्येष्ठ। वे एक यशस्वी संत थे। उन्होने आचार्य भारमलजी, ऋषिराय और मुनि हेमराजजी की बहुत सेवा की तथा उनकी प्रसन्नता प्राप्त की।[4] उनमे साधुओं को निभाने की कला बेजोड़ थी। कोई साधु कभी साधना के प्रति-कूल व्यवहार करता तब वे उसे धीरज से समझा कर ठीक मार्ग पर ले

---

१ अमरगाथा [हेमनवरसो, ६।८६]

सत्य प्रग्या भली आप री, बडा ओजागर आप।
परभव री खरच्या पलै बाधी भली, मेटचा घणा रा सताप ।।

२. वही, [हेमनवरसो, ७।२२]

मु० कठण वचन कहिवा तणो, जाणक कीधो नेम।
बहुजरणै नही वागर्यो, वचनामृत सू पेम ।।

३. वही, [हेमनवरसो, ६।७२-७४]

ए मरण छै सो तो महोच्छव अच्छै, छूटै असूच तन एह।
सोच करै किण बात रो, आछी वस्त तो नही जेह।।
आगै असख्याता काल मे, इसा कष्ट तणो नही काम।
नीव लागै सिवपुर तणी, तिण स्यूं मृत्यु महोच्छव अभिराम ।।
जब हेम हरप घर पूछियो, मृत्यु महोच्छव है ताम।
जीत कहै मृत्यु महोच्छव सही, पिंडत मरण सकाम ।।

४. वही, [सरूपनवरसो, ८।१६]

भारीमाल ऋपिराय नी, हेम व्यावच विध रीत।
विध-विध सूं रीझाविया, पूर्ण त्यांसूं प्रीत ।।

आते।[1] दूरदर्शी—तीन काल की आलोचना करने वाले, गुणग्राही और प्रतिपालक थे—जिसका हाथ पकड लिया उसे अपनी ओर से कभी नही छोडते। मनुष्य के पारखी थे। कोई कपट-प्रपच करता उसे पहचान लेते।[2] वे साधना की ज्योति को प्रज्वलित रखते थे। राजस्थान की भयंकर सर्दी मे केवल एक चादर ओढते थे। सं० १९०८ के वाद एक चादर ओढ़ना भी छोड़ दिया। रात्रि के समय खुले वदन बैठे या खडे स्वाध्याय किया करते थे।[3] उन्होंने अनेक जैन आगमों का पारायण किया। वे आगमो के मर्मज्ञ थे।[4]

एक वार आचार्य भारमलजी ने मुनि सरूपचदजी को अग्रणी वना दिया। मुनि सरूपचंदजी ने प्रार्थना की—प्रभो! आपने वड़ी कृपा की, पर मै मुनि हेमराजजी के साथ ही रहना चाहता हू, इसलिए मुझे उन्ही के पास रखें। आचार्य भारमलजी ने कहा—तुझे मुनि हेमराजजी से वोलने का प्रत्याख्यान है—तू उनसे वोल नही सकता। मुनि हेमराजजी को बुलाकर कहा—तुम्हे मुनि सरूप से वोलने का प्रत्याख्यान है। उस समय जयाचार्य ने मुनि सरूपचंदजी से कहा—आप आचार्यवर की आज्ञा को शिरोधार्य करें।

---

१ अमरगाथा [सरूपनवरसो, ८।२४]

सत निभावण नी कला, ते पिण कहिय न जाय।
'ऊचचलाइ पणो' तजी, देवै धीरप सू समजाय॥

२ वही, [सरूपनवरसो, ८।२५-२७]

आलोचना ऊडी घणी, ए पिण गुण इधिकाय।
तीन काल री विचारणा, जवर हिया रै माय॥
गुणग्राही पिण अति घणा, अधिक निभावत प्रीत।
जेहनै आप अगीकर्‌यो, राखै तेहनी रीत॥
अधिक मिनख नी पारखा, स्वाम सरूप रै सार।
कोइ कपट प्रपच करै तसु, ओलखी सग निवार॥

३ वही, [सरूपनवरसो, ८।१६,१७]

शीतकाल माहै मुनि, एक पछेवडी उपरत।
वहुलपणै ओढी नही, वर्ष घणै मतिवत॥
आठा ना वर्ष पछै मुनि, इक पछेवडी परिहार।
प्रवर सझाय निशा विषै, करता अधिक उदार॥

४ वही, [सरूपनवरसो, ८।७]

वार अनेक ही वाचिया, सूत्र वत्तीस उदार हो।
जाण झीणी रहिसा तणा, वारू न्याय विचार हो॥

इसमे हित होगा । उन्होने जयाचार्य का परामर्श स्वीकार कर लिया ।[1]

मुनि खेतसीजी सतजुगी के नाम से प्रसिद्ध है ।[2] वे आचार्य भिक्षु के परम विनीत और सहायक मुनियो मे अग्रणी थे । आचार्य भिक्षु ने अंतिम समय में कहा था—सतजुगी, टोकरजी और भारमलजी—इन तीनों के सहयोग से मैने सयम की निर्मल साधना की ।[3] शिष्य के लिए इससे बड़ा कोई उपहार नहीं हो सकता । गुरु के सहयोग से शिष्य संयम की साधना करते है, यह सर्वसम्मत तथ्य है, किन्तु गुरु ने शिष्य के सहयोग से संयम-पालन किया यह एक विशिष्ट घटना है । मुनि सतजुगी इस उपहार के पात्र थे । जयाचार्य ने लिखा—सतजुगी पूरे संघ के लिए सुखदायी है । ऐसे पुरुष इस जगत् मे विरले ही होते है ।[4] मुनि खेतसीजी के पिता का देहावसान हो

---

१ अमरगाथा [सरूपनवरसो, ६।दो ४-८]

भारीमाल स्वामी तदा, वारु करी विचार ।
अति प्रसन्न चित्त सू कियो, सरूप नो 'सिंघाड' ।।
सरूप भाखै स्वामजी, निसुणो मुझ अरदास ।
हेम सेवा करवा तणो, मो मन अधिक उल्हास ।।
भारीमाल कहै हेम थी, बोलण रा पचखाण ।
हेम भणी पिण त्याग ए, स्वाम कराया जाण ।।
भाखै जीत सरूप नै, पूज्य तणी ए आण ।
अगीकार कीजै सखर, लीजै सत सुजाण ।।
ताम सरूप अगी करी, स्वाम आण सुखकार ।
इम चित प्रसन्न थी कियो, सरूप नो सिंघाड ।।

२ ते आ. ख. १, पृ. १७४ [भिक्खुजशरसायण, ५३।१४]

सखर सेवा में हो खेतसीजी सुवनीत, सतजुगी नाम अपर शोभावियो ।
पूर्ण त्यारै हो पूजजी री प्रतीत, चार तीर्थ माहि जश तसु छावियो ।।

३ ते आ. खं. १, पृ. १७५ [भिक्खुजशरसायण, ५३।५-८]

स्वाम कहै सतजुगी भणी, थे सखर शिष्य सुविनीतो ए । घर प्रीतो ए ।
साझ दियो संजम तणो क ।।
टोकरजी तीखा हुन्ता, विनयवंत सुविचारी ए । हितकारी ए ।
भक्ति करी भारी घणी क ।।
भारमलजी सूं मेलप भली, रहीज रुड़ी रीतो ए । अति प्रीतो ए ।
जाण के पाछल भव तणी क ।।
सखर तीना रा साझ सूं, वर सजम उजवाल्यो ए । म्है पाल्यो ए ।
प्रत्यक्ष ही शूरापणै क ।।

४. अमरगाथा [सतजुगी रो पचढालियो, ढा०१।दोहा ४]

सकल संघ ने सतजुगी, साताकारी सोय ।
इसा पुरुष इण जगत में, केइक विरला होय ।।

गया। उन्हें इसका पता चला। आचार्य भिक्षु जानते थे, यह गृहवासी जीवन में अपने माता-पिता के प्रति वहुत स्नेहसिक्त था। अव इसके मन पर क्या असर हुआ है, यह जान लेना चाहिए। उन्होने खेतसीजी को वुला कर कहा—'तेरे पिता का देहावसान हो गया है। तू कुछ भी मन में मत लाना।' मुनि खेतसीजी वोले—'मेरे पिता आप है। मुझे कोई चिंता नही। मुझे पिता का विरह नही हुआ है। यदि मै गृहस्थ जीवन में होता तो मुझे जरूर कष्ट होता। मै रोता-विलपता, पर मै उस जीवन से मुक्त हू, इसलिए मुझे न कोई कष्ट है और न रोने का प्रसंग है।'[1]

मुनि खेतसीजी विनय की प्रतिमूर्ति थे। जयाचार्य ने वड़े श्रद्धापूरित शब्दों मे उनके वहुगुणी व्यक्तित्व का अकन किया है।[2] आचार्य भिक्षु उन्हे आमन्त्रित करते तव पहले देख लेते कि उनके हाथ मे पात्री तो नही है। उन्हे आचार्य भिक्षु का आमंत्रण मिलते ही उनके हाथ जुड़ जाते। हाथ मे कोई वस्तु होती, वह नीचे गिर जाती। आचार्य भिक्षु जैसे गुरु और खेतसीजी जैसे शिष्य—यह कोई अद्भुत योग है।[3] सतजुगी की दीक्षा के पश्चात् संघ की वृद्धि हुई और आचार्य भिक्षु को खेतसी के द्वारा चित्त-समाधि उपलब्ध

---

१. अमरगाथा [सतजुगीचरित्त, ३।१४-१७]

गाम 'कोठारीये' पधारिया, तिणहिज दिवस सुजोग।
खेतसीजी सुणी वारता, जनक पौहता परलोग॥
पूछै भीक्खू स्वामजी, तू मन मे म आणीजै काय।
खेतसीजी कर जोड नै, वाण वदै सुखदाय॥
मोनै तो आप आवी मिल्या, जो चल्या ससारी वाप।
म्हारै तो विरह पडियो नही, हू क्यानै करू सताप॥
हू ससार माहे रह्यो हु तो, तो रोवणो पडतो मोय।
सो हू तो छूटो दुख थकी, इम वोल्या अवलोय॥

२. वही, [सतजुगीचरित्त, ५।दो. २-४]

दमता इद्री पच दिल, रमता गुरु वच रग।
खमता गुण कर खेतसी, समता सखर सुचग॥
नमता गुन सू निरमला, वमता च्यार कषाय।
जमता जिन मत सतजुगी, गमता सहु गण माय॥
प्रकृति विनय गुन कर प्रवर, सतजुग सरिसा सत।
सतजुगी नाम सुहामणो, मोटा मुनी महत॥

३ वही, [सतजुगीचरित्त, ५।८]

कार्य भलार्यां विहु कर जोडी, आदर सहित अपारी।
विलब रहित कार्य मुनि करता, एहवा विनयवत भारी॥

हुई।[1] वे एक-एक पहर तक खड़े रहते थे। सर्दी मे कपड़े नही ओढ़ते। साधु-साध्वियो की सेवा उनका जीवनव्रत था।[2] वे साधु-साध्वियो के पिता तुल्य थे।[3] इस युग में वैसा विनयशील मुनि कोई जन्मेगा, यह मुझे कठिन लगता है।[4]

मुनि भीमराज जी जयाचार्य के वड़े भाई थे। वे सेवाभावी, समूचे गण के लिए प्रिय और महान् तपस्वी थे। उन्होंने लंवे-लंवे उपवास किए। सर्दी के मौसम में वारह वर्ष तक केवल एक चादर ओढ़ते। गर्मी में सूर्य का आतप लेते। उनकी स्वाद-विजय प्रशस्त थी। वे पंच परमेष्ठि के जप में लीन रहते थे।[5] वे छोटी आयु (वयालीस वर्ष की आयु) में स्वर्गवासी हो गए।

---

१. अमरगाथा [सतजुगीचरित्त, ढ़ा० ६।दो. ४]

तिम सतजुगि चरण लिया पछै, धर्म वृद्धि अधिकाय।
भीक्खू स्वाम तणै भली, चित्त समाधि सवाय॥

२ वही, [सतजुगीचरित्त, ६।१२-१४]

शीतकाल मे शीत सह्यो अति, काटण कर्म करूडो।
सार करता सत-सत्या नी, कर्म काटण नै सूरो॥
ऊभा रहिवा री तपसा करि, एक पोहर उनमानो।
ते पिण घणा काल लग कीधी, खेतसीजी गुणखानो॥
लघु वृद्ध समणी सता नै, उष्ण काल जल आणी।
विविध समाधि पमावै स्वामी, धर्म निर्जरा जाणी॥

३ वही, [सतजुगीचरित्त, १३।१६]

समण-सत्या नै जनक सरीखा, सतजुगि महा सुखकारो।
सत-सत्या थानै निश दिन समरै, आप इसा साताकारी॥

४. वही, [सतजुगीचरित्त, १३।१३]

विनयवत मुनि सतजुगि सरिखा, पचम काल मझारी।
वलि व्हैणा महा दुर्लभ जाणो, उत्तम पुरुप अवतारी॥

५. वही, [भीमविलास, ३।७-१०]

मुनिवर रे! वर्स वारै रै आसरै, शीतकाल मे सोय।
पछेवड़ी दोय परहरी, सीत सह्यो अवलोय॥
मुनिवर रे! उष्ण काल आतापना, लीधी वोहली वार।
सम दम सत सुहामणो, भीम गुणा रो भण्डार॥
मुनिवर रे! रस नो त्याग कियो ऋषि, नित विगै दोय उपरत।
उत्तम करणी आदरी, ध्यान सज्झाय रमत॥
मुनिवर रे! समरण जाप सदा धर्यो, पच पदा नो जाण।
नेम अभिग्रह निरमला, भीम गुणां री खान॥

उन्होने अनेक लोगो को चित्त-समाधि उपलब्ध कराई और अनेक लोगों को अपराध से मुक्त किया, इसलिए वहुत लोग उन्हें याद करते रहते।[1]

मुनि भीमराज ने दिव्य आत्मा के रूप मे जयाचार्य का साक्षात्कार किया था। वे यत्र-तत्र जयाचार्य के सहयोगी भी बने। आचार्यवर ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2]

जयाचार्य के निर्मल चक्षु रंग-रूप की प्रतिमा की अपेक्षा गुणात्मक प्रतिमा के प्रति अधिक सवेदनशील थे। वे सूक्ष्म मे प्रवेश कर गुणो को खोज लेते और उनकी वाणी उन्हें शब्दों में चित्रित कर देती। न यथार्थ का सगोपन और न अयथार्थ का मूर्त्तीकरण। सहज अभिव्यंजना। सरस शब्दो में घटना का समंजन और अंकन। इस शैली में उन्होने गीतिवद्ध जीवन-वृत्त लिखे। इस कार्य से उनकी गुणग्राहिता की प्रतिमा मडित हो गई।

मुनि मोतीजी के संसारपक्षीय चाचा की दुकान दक्षिण मे थी। वे अपने चाचा के पास चले गए। वही रहने लगे।[3] उनके मन में दीक्षा लेने के भाव जागे। उनको भावना लोगों मे फैल गई। वे वहुत भावुक थे। एक दिन किसी जीमनवारमें भोजन करने घोड़े पर चढ़कर जा रहे थे। लोगो ने कहा— यह घोड़े की सवारी कर रहा है, फिर कैसे दीक्षा लेगा? मोतीजी ने सुना। वे तत्काल घोडे से नीचे उतर गए और जीवन-भर किसी वाहन पर न बैठने का संकल्प कर लिया।[4] वे पैदल चल रहे थे। वे पैरों मे जूते पहने हुए थे। किसी ने

---

१ अमरगाथा [भीमविलास, ७।११]

दीधी थे तो घणा रै समाध, टाल्या थे तो घणा रा अपराध।
नाम जप्या ही अहलाद, करै थानै वहु जन याद॥

२ वही, [भीमगुण वर्णन, १।४]

सरूपचद सहोदर भणी, वे दीधो दीसै सम्मान।
दिव्य सरूप देख्या छता, हर्ष थयो असमान॥

३ वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, ढा० १।दो. ४]

काका तणी दुकान थी, दक्षिण माहै ताम।
पीतरिया पासै तदा, मोती रहिता आम॥

४. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।२१-२३]

अश्व जाति ऊपर वैसी नै, मोती पिण तिण वारो।
जीमणवार विषै जीमण नै, जावै छै जिह वारो॥
किण ही लोक कह्यु तिण अवसर, ए जावै इहवारी।
दिख्या लेवा त्यार थयो छै, वलि हयनी असवारी॥
ए वचन मोती साभल नै, हय थी तुरत उतरियो।
जावजीव सहु असवारी ना, त्याग कीया गुण दरियो॥

हुई।[1] वे एक-एक पहर तक खड़े रहते थे। सर्दी में कपड़े नही ओढ़ते। साधु-साध्वियों की सेवा उनका जीवनव्रत था।[2] वे साधु-साध्वियो के पिता तुल्य थे।[3] इस युग मे वैसा विनयशील मुनि कोई जन्मेगा, यह मुझे कठिन लगता है।[4]

मुनि भीमराज जी जयाचार्य के बड़े भाई थे। वे सेवाभावी, समूचे गण के लिए प्रिय और महान् तपस्वो थे। उन्होंने लंबे-लबे उपवास किए। सर्दी के मौसम में बारह वर्ष तक केवल एक चादर ओढ़ते। गर्मी में सूर्य का आतप लेते। उनकी स्वाद-विजय प्रशस्त थी। वे पंच परमेष्ठि के जप मे लीन रहते थे।[5] वे छोटी आयु (वयालीस वर्ष की आयु) में स्वर्गवासी हो गए।

---

१. अमरगाथा [सतजुगीचरित्त, ढा० ६।दो. ४]

तिम सतजुगि चरण लिया पछै, धर्म वृद्धि अधिकाय।
भीक्खू स्वाम तणै भली, चित्त समाधि सवाय॥

२ वही, [सतजुगीचरित्त, ६।१२-१४]

शीतकाल मे शीत सह्यो अति, काटण कर्म करूडो।
सार करता सत-सत्या नी, कर्म काटण नैं सूरो॥
ऊभा रहिवा री तपसा करि, एक पोहर उनमानो।
ते पिण घणा काल लग कीधी, खेंतसीजी गुणखानो॥
लघु वृद्ध समणी सता नैं, उष्ण काल जल आणी।
विविध समाधि पमावै स्वामी, धर्म निर्जरा जाणी॥

३ वही, [सतजुगीचरित्त, १३।१६]

समण-सत्यां नैं जनक सरीखा, सतजुगि महा सुखकारी।
सत-सत्या थानै निश दिन सभरै, आप इसा सालाकारी॥

४. वही, [सतजुगीचरित्त, १३।१३]

विनयवत मुनि सतजुगि सरिखा, पचम काल मझारी।
वलि व्हैणा महा दुर्लभ जाणो, उत्तम पुरुष अवतारी॥

५. वही, [भीमविलास, ३।७-१०]

मुनिवर रे! वर्स बारैं रैं आसरैं, शीतकाल मे सोय।
पछेवडी दोय परहरी, सीत सह्यो अवलोय॥
मुनिवर रे! उष्ण काल आतापना, लीधी वोहली वार।
सम दम सत सुहामणो, भीम गुणा रो भण्डार॥
मुनिवर रे! रस नो त्याग कियो ऋषि, नित विगै दोय उपरत।
उत्तम करणी आदरी, ध्यान सज्झाय रमत॥
मुनिवर रे! समरण जाप सदा धर्यो, पच पदा नो जाण।
नेम अभिग्रह निरमला, भीम गुणा री खान॥

उन्होंने अनेक लोगो को चित्त-समाधि उपलब्ध कराई और अनेक लोगों को अपराध से मुक्त किया, इसलिए बहुत लोग उन्हे याद करते रहते।[1]

मुनि भीमराज ने दिव्य आत्मा के रूप मे जयाचार्य का साक्षात्कार किया था। वे यत्र-तत्र जयाचार्य के सहयोगी भी बने। आचार्यवर ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2]

जयाचार्य के निर्मल चक्षु रंग-रूप की प्रतिमा की अपेक्षा गुणात्मक प्रतिमा के प्रति अधिक संवेदनशील थे। वे सूक्ष्म मे प्रवेश कर गुणो को खोज लेते और उनकी वाणी उन्हें शब्दों मे चित्रित कर देती। न यथार्थ का संगोपन और न अयथार्थ का मूर्त्तीकरण। सहज अभिव्यंजना। सरस शब्दो में घटना का समंजन और अंकन। इस शैली में उन्होने गीतिवद्ध जीवन-वृत्त लिखे। इस कार्य से उनकी गुणग्राहिता की प्रतिमा मंडित हो गई।

मुनि मोतीजी के संसारपक्षीय चाचा की दुकान दक्षिण मे थी। वे अपने चाचा के पास चले गए। वही रहने लगे।[3] उनके मन में दीक्षा लेने के भाव जागे। उनकी भावना लोगो मे फैल गई। वे वहुत भावुक थे। एक दिन किसी जीमनवारमें भोजन करने घोड़े पर चढ़कर जा रहे थे। लोगो ने कहा—यह घोडे की सवारी कर रहा है, फिर कैसे दीक्षा लेगा ? मोतीजी ने सुना। वे तत्काल घोडे से नीचे उतर गए और जीवन-भर किसी वाहन पर न बैठने का संकल्प कर लिया।[4] वे पैदल चल रहे थे। वे पैरों मे जूते पहने हुए थे। किसी ने

---

१ अमरगाथा [भीमविलास, ७।११]

दीधी थे तो घणा रै समाध, टाल्या थे तो घणा रा अपराध।
नाम जप्या ही अहलाद, करै थानै बहु जन याद॥

२ वही, [भीमगुण वर्णन, १।४]

सरूपचद सहोदर भणी, वे दीधो दीसै सम्मान।
दिव्य सरूप देख्या छता, हर्ष थयो असमान॥

३ वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, ढा० १।दो. ४]

काका तणी दुकान थी, दक्षिण माहै ताम।
पीतरिया पासै तदा, मोती रहिता आम॥

४. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।२१-२३]

अश्व जाति ऊपर बैसी नै, मोती पिण तिण वारो।
जीमणवार विषै जीमण नै, जावै छै जिह वारो॥
किण ही लोक कह्यु तिण अवसर, ए जावै इहवारी।
दिख्या लेवा त्यार थयो छै, वलि हयनी असवारी॥
ए वचन मोती साभल नै, हय थी तुरत उतरियो।
जावजीव सहु असवारी ना, त्याग कीया गुण दरियो॥

कहा—यह जूते पहने हुए है, फिर कैसे दीक्षा लेगा ? यह सुनकर मोतीजी ने जूते खोल दिए और जीवन-भर जूते न पहनने का संकल्प कर लिया।[1] वे नंगे पैरों से भोज में पहुंचे। वहा भोजन करने लगे। किसी ने कहा—यह रात को भोजन कर रहा है, फिर कैसे दीक्षा लेगा ? मोतीजी ने यह सुना और तत्काल उन्होने रात्रि में भोजन न करने व जल न पीने का संकल्प ले लिया।[2]

वे दक्षिण से चले। लगभग सात सौ, आठ सौ मील की पद-यात्रा कर पाली पहुंचे। उस समय उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी।[3] मुनि वनने के आठ वर्ष वाद तक वे जयाचार्य के पास रहे। उन पर जयाचार्य के अनुशासन की छेनी चली, वे प्रतिमा वन गए। उन्होंने तेज आंच को सहा और कुन्दन वन गए।[4] वे सव साधु-साध्वियों के लिए सुखदायी, मधुरभाषी, विनयशील और गुणग्राही हो गए। उनके क्रोध आदि कपाय प्रवल नही रहा।[5] उनकी

---

१. अमरगाथा [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।२४-२५]

क्रिण हिक जन वलि इह विध आख्यू ए चारित्त लियै विदेशी।
पिण पग माहि पानहीं पहिरै, ए स्यू चारित्त लेसी रे॥
इम सुण मोती जेह पानही, पग थी तुरत उतारी।
जावजीव पगरखी पैहरण, त्याग किया तिहवारी रे॥

२. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।२६-२७]

जीमणवार मे निश भोजन करता, कोयक जन भाखै।
चरण लेण नै त्यार थयो ए, वलि निश भोजन चाखै॥
ए लोक नो वचन सुणी नैं, मोती तुरत उमगै।
निश मे च्यारू आहार भोगवण रा, त्याग कीया चित चगै॥

३. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।३०-३१]

तव मोती दक्षिण थकी चालियो, पथ अलवाणै ताह्यो।
चौविहार वलि रात्रि विषै पिण, मन मे नही तमाह्यो॥
आसरै कोस तीन सौ इह विध, आयो पाली माह्यो।
तिहा भारीमालजी आदि सतारा, दर्शण मोती पायो।

४. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, ढा० ५।दो. ६,७]

टाची लागा पथर री, प्रतिमा हुवै वदीत।
तिम कठिन वचन वहु शीख दे, प्रकृति सुधारी जीत॥
समभावै मोती सही, कठिण शीख मृदु जेम।
अग्नि करी प्रेर्यो थको, हुवैज कुंनण हेम॥

५. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, ५।११]

साताकारी सत, श्रमण नै सुखदाई, मधुर वचन मतिवत अधिक ही नरमाई।
नरमाई वलि गुणग्राही, क्रोधादिक तास प्रवल नांही।
ओ तो धिन-धिन मोती सत प्रवर शोभा पाई॥

सहिष्णुता अनुपम थी और अनुपम थी उनकी इन्द्रिय-विजय।[1] जयाचार्य ने अनेक व्यक्तित्वों का निर्माण किया। वे कुशल शिल्पी थे। उनके शिल्प का एक निदर्शन है मुनि मोतीजी का तपस्वी और साधक जीवन।

मुनि शिवजी बड़े अनुशासन-निष्ठ संत थे। वे मर्यादा और अनुशासन को बहुत मूल्य देते थे। जयाचार्य ने सं० १९१० पौष कृष्णा नवमी के दिन मर्यादापत्र-वाचन की स्थापना की थी।[2] मध्याह्न काल मे प्रतिदिन मर्यादा-पत्र का वाचन चलता था। एक दिन मुनि शिवजी उस कार्यक्रम मे सम्मिलित नही हुए। जयाचार्य ने पूछा, आज तुम उपस्थित क्यो नही हुए? शिवजी ने कहा—'गुरुदेव! मेरी बहुत इच्छा थी उपस्थित होने की, पर मुनि माणक ने मुझे स्थान की रखवाली के लिए नियुक्त कर दिया। फिर मै क्या करता? जयाचार्य ने कहा—तुम मुझे कहते, मै दूसरी व्यवस्था कर देता। दूसरे दिन मर्यादा-पत्र-वाचन के समय जयाचार्य ने शिवजी को याद किया और अपने पास बिठाया। शिवजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने अपने जीवन को धन्य माना।[3] मुनि शिवजी प्रकृति के सरल, त्यागी, तपस्वी साधक थे।

---

१. अमरगाथा [मोतीजीस्वामी रो पचढालियो, ५।२१]

शीत काल मे शीत, परिसह प्रति खमतो।
उष्ण ऋतु मे उष्ण, सहै समता रमतो।
समता रमतो जी परिचय वमतो, मन इन्द्रिय पच भणी दमतो।।
ओ तो धिन धिन मोती सत तीर्थं नै मन गमतो।।

२. वही, [शिवजीस्वामी रो चौढालियो, १।२८]

उगणीसैं दशकै समे रे, पोह विद नवमी सार।
पवर हाजरी नी थापना रे, जय गणपति करी उदार।

३. वही, [शिवजीस्वामी रो चौढालियो, ढा० २।दो. ६-११]

एक दिन न सुंणी हाजरी, जयगणी वर पूछत।
वारु मर्यादा नी वारता, क्यू न सुणी शिव सत।।
कहै शिव रुखवाली करण, राख्यो माणक ताय।
मुज मन अति सुणवा तणो, नटूं केम मुनराय।।
जय कहै अवर मुनि भणी, रुखवाली राखत।
मुज भणी क्यूं न जतावियो, अब मत कर मन चित।।
पश्चाताप करतो घणो, न सुंणी आज मर्याद।
वचन माहै अति हरख रस, वदै चित्त अहलाद।।
दिवस दूसरे हाजरी, जय वाचता जांण।
शिव भणी याद कियो सही, लियो निकट बैसाण।।
शिव चित्त अति प्रशन्न थयो, याद कीयो महाराज।
अधिक कृपा मुज ऊपरे, जाण्यो धिन-धिन आज।।

उनकी दृष्टि केवल अनुशासन पर थी।[1] ऐसे साधक अनुशासन-विकास के लिए आदर्श हो सकते हैं।

मुनि कर्मचंदजी दीक्षित होने के वाद मुनि हेमराजजी के पास रहे, दो वर्ष ऋषिराय की सेवा में, फिर वहुत वर्षों तक जयाचार्य के पास रहे। उनके मन में जयाचार्य से वहुत प्रीति थी। उन्होंने वत्तीस आगमों का अनेक वार वाचन किया।[2] वे वहुत स्वाध्याय-प्रिय थे। उन्होने गूढ़ स्थलों का समाधान जयाचार्य से लिया। वे स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा अपने चित्त को निर्मल वनाए रखते थे।[3]

मुनि उदयचन्दजी ऋषिराय के पास दीक्षित हुए और मुनि हेमराजजी की पाठशाला मे पढे।[4] वे वहुत विनम्र और अनुशासित थे। अनुशासन की शिक्षा हमारे धर्मसंघ की शिक्षा का मुख्य अंग रहा है। आचार्य भिक्षु ने इसका बीज वोया था। उत्तरवर्ती आचार्य उसे सीचते चले गए। केवल आचार्यों ने ही उसे नही सीचा, संघ के सभी साधु-साध्वियों ने, पूरे संघ ने उसे सीचा। फलतः वह शतशाखी हो गया। जयाचार्य ने अनुशासन के सुखद परिणामो का मार्मिक चित्रण किया है—मुनि उदयचन्दजी अनुशासन में रहते थे, इसलिए उन्हें गुरु का प्रसाद मिला। गुरु के प्रसाद से उन्हें शिक्षा मिली।

---

१. अमरगाथा [शिवजीस्वामी रो चौढालियो, ४।२]
सरल भद्र गुण अधिक सोभता, मृदु मार्दव मन जीत।
एक दृष्टि वर आणा ऊपर, परम सद्गुर सू प्रीत ॥

२ वही, [कर्मचन्द गुणवर्णन, १।४५-४७]
हेम पास चौमासा च्यारो, पचमो छठो अवधारो।
ऋषिराय समीपे सारो ॥ ध. ॥
पछै जीत पास सुविचारो, घणा चौमासा कोया उदारो।
तिण रै जीत सूं पीत अपारो ॥
वहु वार वाच्या सु जगीसो, वच प्रवचन सूत्र बतीसो।
स्वाध्याय करत निशि दीसो ॥

३. वही, [कर्मचन्द गुणवर्णन, १।५२,५३]
नित्य सज्झाय निर्मल ध्यांनो, वारू सवेग रस गलतानो।
पाप नो भय तसु असमानो ॥ ध. ॥
थल कठिन सिद्धान्त ना भारी, जयगणपति पास उदारी।
थट प्रगट जाण्या सुधारी ॥

४. वही, [उदयचद चौढालियो, १।दो. ११]
हेमराजजी स्वाम नैं, सूप्या गणि ऋपराय।
विनयवत गुणवत अति, गण मे सोभ सवाय ॥

शिक्षा से उज्ज्वल ध्यान मिला। उससे चित्त की शुद्धि हुई। चित्त की शुद्धि से तपस्या में रुचि बढ़ी। इस प्रकार वे तपस्या में प्रवृत्त हो गए।[1]

व्यक्ति की अपनी क्षमता होती है, पर उसकी अभिव्यक्ति मे सान्निध्य का बडा योग होता है। महानता के सान्निध्य मे महान् बनना सरल होता है। क्षुद्रता का सान्निध्य मिलने पर महानता का बीज बीज ही रह जाता है, वह अंकुरित नही हो पाता। हेमराजजी के सान्निध्य मे मुनि उदयचन्दजी हेम बन गए। इस प्रसंग मे जयाचार्य ने मुनि हेमराजजी का श्रद्धासिक्त चित्रण किया है। मुनि हेमराजजी का प्रसंग आते ही जयाचार्य की वाणी मुखर हो जाती है, शब्द की धारा अविरल होकर बहने लग जाती है।[2]

मुनि उदयचन्दजी ने जीवन के संध्या-काल मे अनशन किया था। उस

---

१. अमरगाथा [उदयचद चौढालियो, १।२६-३२]

ओ तो चालै वडा रै अभिप्रायो, तिण सू रीझ्या सुगुरु सवायो ॥
सुगुरु रीझ्या अधिक गुण आया, सीख सुमति सुधारस पाया ॥
सीख पाया उज्जल ध्यान ध्याया, तिण सू बहुला कर्म खपाया ॥
बहु कर्म क्षये तसु जीवो, ओ तो ऊजल हूवो अतीवो ॥
ओ तो जीव उज्जल थी साधी, तप विनय थकी रुचि बाधी ॥
रुचि बाध्या सुगुरु ले आणा, अै तो तप करवा मडाणा ॥
मड्यो तप करवा अति भारी, ओ तो उदयराज अधिकारी ॥

२ वही, [उदयचद चौढालियो, ढा.२।दो ४-११]

हेम ऋषि रा सग सू, बाध्या गुणमणि हेम ।
उदयराज रा घट मझै, हेम वधायो खेम ॥
हेम सुपारस सारिखो, हेम साचलो हेम ।
हेम तणा गुण सभर्‌या, पामै अधिको प्रेम ॥
हेम सुमति ना सागरू, हेम क्षमा भरपूर ।
हेम सील नो घर सही, सखरो हेम सनूर ॥
हेम ग्यान नो पीजरो, हेम ध्यान गलतान ।
हेम मान-मद निर्दली, हेम शाति असमान ॥
हेम सवेग रसे भर्‌यो, हेम सुमति दातार ।
कहा कहियै गुण हेम ना, शासण नो सिणगार ॥
हेम स्थंभ शासण तणो, सुपने मुद्रा हेम ।
मूर्ति देख सुहामणी, पामै तन-मन प्रेम ॥
एहवा हेम मुनिद नै, रीझाया अधिकाय ।
विनय करी गुण वाधिया, उदयराज घट माय ॥
उदयराज मुनि हेम नो, विनयवत अधिकाय ।
वैष्णव मत मे जिम कृष्ण रे, [ज्यू] ऊधो भक्त कहाय ॥

समय जयाचार्य उन्हें दर्शन देने बीदासर से लाडणू पधारे। तपस्वी को इसका पता चला। वे हर्ष से ओत-प्रोत हो गए। जिस दिन जयाचार्य उनके पास पहुंचे, उनके अनशन का अड़तीसवा दिन चल चल रहा था।[1] उनका अनशन हिन्दू और मुसलमान सबके लिए आश्चर्य का कारण बन गया।[2]

मुनि हरखचन्दजी भी हेमराजजी स्वामी की पाठशाला के विद्यार्थी थे। जयाचार्य स्वयं एक दिन इसी पाठशाला में पढ़े थे। हेमराजजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद मुनि हरखचन्दजी मुनि शाति के पास रहे। वे भी स्वर्गवासी हो गए। मुनि हरखचन्दजी जयाचार्य के पास पहुंचे। आचार्यवर ने उनसे कहा—'तुम्हारी इच्छा हो तो तुम अग्रणी होकर विहार करो और तुम्हारी इच्छा हो तो तुम मेरे पास रह सकते हो। ये दोनो निर्देश तुम्हारे सामने हैं। तुम जैसा चाहो वैसा कर सकते हो। मुनि हरखचन्दजी ने कहा—'मैं आपकी सन्निधि मे रहना चाहता हूं।' उनकी चाह स्वीकृत हो गई।[3] जयाचार्य ने उनका बहुत मूल्यांकन किया, उन्हें आचार्यपद के योग्य व्यक्तित्व की सूची में स्थान दिया।

मुनि सतीदास (अपर नाम शांति मुनि) की जीवनी मे जयाचार्य ने अपने अन्तःकरण के सभी दरवाजे खोल दिए। उन्हे अपना परम मित्र घोषित

---

१. अमरगाथा [उदयचद चौढालियो, ४।३०-३२]

तपस्वी उठी थइ सन्मुख आवी सीधा, गणपति ना दर्शण कीधा।
वचनामृत प्याला पीधा॥
गणि दर्शण कर गुण खान, वचनामृत साभल कान।
तपस्वी पायो हरष असमान॥
जद हूतो अडतीसमो दिन्न, वारू वचन वदै प्रसन्न।
म्हारै आज दिहाडो धन्न॥

२. वही, [उदयचंद चौढालियो, ४।८१]

लोक अन्यमती स्वमती सोय, घणा अचरज पाम्या जोय।
हिन्दू मुसलमान अवलोय॥

३. वही, [हरखचंद चौढालियो, २।५-७]

विचरो मुनि पोथ्या ग्रही, सिंघाडो तुज सार।
मन हुवै तो पासै रहो, मुझ बेहुं आज्ञा उदार॥
हरख कहै सेवा आपरी, करवा रा मुझ भाव।
सूंपै मुनि पोथ्या प्रतै, सखर विचारण साव॥
जय गणपति रै आगले, हरख रहै हुसीयार।
तन-मन सू सेवा करै, वारू विनय विचार॥

किया।[1] उनके व्यक्तित्व का वर्णन काव्य की प्रांजल और सरस पदावलि में किया।[2] जयाचार्य मुनि-अवस्था में हेमराजजी स्वामी के पास पढ़ रहे थे, उसी समय मुनि सतीदासजी जयाचार्य के पास पढ रहे थे। जयाचार्य के प्रति उनके मन में अत्यधिक प्रीति थी। उसकी तुलना दूध और जल से की है।[3]

मुनि सतीदासजी का आंतरिक व्यक्तित्व वहुत आकर्षक था। उनकी दीक्षा मुनि हेमराजजी के द्वारा आम्र वृक्ष के नीचे संपन्न हुई। मुनि हेम-राजजी के मन में वहुत हर्ष था।[4] सतीदासजी को देखकर आचार्य भारमलजी भी वहुत प्रसन्न हुए।[5] उनके जीवन पर जयाचार्य की अमिट छाप थी। उनका स्वर, वाणी और कार्य सभी सरस थे।[6] वे वहुत मृदुभाषी और विनम्र

---

१. अमरगाथा [शान्तिविलास, १३।५२]

परम मित्र मुझ शाति मनोहर, सुविनीता सिरताज।
याद आवै निश दिन अधिकेरो, जाण रह्या जिनराज॥

२. वही, [शान्तिविलास, १३।४७-५०]

बड भागी त्यागी वैरागी, सोभागी सुखकार।
ज्ञान गुणे अनुरागी गिरवो, सखर शाति अणगार॥
समता खमता दमता जमता, नमता वचन निहाल।
तमता भ्रमता वमता तन-मन, मुनी शाति गुण माल॥

सुख सपति दायक गुण लायक, दायक अभय दयाल।
बोधि पमायक धर्म वधायक, शाति ऋषी सुविशाल॥
चितको चटको मटको छाडी, दुरमत खटको पेल।
निरूप द्रव्य वटको गुण नो गटको समय सुलटको झेल॥

३. वही, [शान्तिविलास, ढा०३।दो.२,३]

हेम ऋषि पासे हु तो, जीत सत जिह वार।
तास पास सतिदासजी, पढ़ै सु अधिकै प्यार॥
पीत जीत सूं अति प्रवर, सतीदास कै सोय।
सीख्या विविध प्रकार सू, बोल थोकडा जोय॥

४. वही, [शान्तिविलास, ७।२७]

हेम ऋषी तिण अवसरे, पाम्या हरष अपार।
सजम दे सतीदास नै, विहार कियो तिणवार॥

५. वही, [शान्तिविलास, ढा० ८।दो. ६]

सतीदास जी नै सही, दीधा पगा लगाय।
भारीमाल हरख्या घणा, कह्यो कठा लग जाय॥

६. वही, [शान्तिविलास, ढा० ६।दो. ६]

सरस कठ वाणी सरस, सरस कला सुविहाण।
हेम समीपे शाति ऋप, वाचै सरस वखाण॥

थे ।[1] उनके जैसा सुन्दर स्वभाव हजारों व्यक्तियों में खोजने पर भी नहीं मिलता था । वे मूर्तिमान प्रशांतरस थे ।[2]

सं० १६०८ की घटना है । जयाचार्य लाडणू में थे । ऋषिराय का स्वर्गवास हो गया था । जयाचार्य आचार्यपद पर आसीन हुए । उस समय मुनि सतीदासजी अनेक साधुओं सहित लाडणूं आए । जयाचार्य ने सरूपचंदजी स्वामी आदि सतो को उनकी अगवानी के लिए भेजा ।[3] वे स्थान पर पहुंचे तब उन्हें अपने पट्ट पर विठा लिया । यह अनुश्रुति है । रात्रि को स्वप्न मे आभास हुआ—सामान्य साधु को आचार्य अपने वरावर न विठाए। प्रातःकाल यह वात जयाचार्य ने सव साधुओं को सुनाई ।

महामती सरदाराजी एक यशस्विनी साध्वीप्रमुखा थी । गृहस्थ जीवन मे भी उनकी तपस्या आश्चर्यजनक थी । वे सर्दी के दिनों में पिछली रात में ढाई घंटा तक एक ओढनी मे रह कर, गर्मी के दिनों में तीन घंटा तक सूर्य के आतप में बैठकर समता की आराधना करती थी । यह क्रम

---

१. अमरगाथा [शान्तिविलास, ६।६]

> वोलण मे मृदु बोलवै, विनय वचन वर वाण ।
> चित परसण कियो हेम नो, तू अवसर नो जाण ॥

२. वही, [शान्तिविलास, ६।२०,२१]

> सुंदर स्वभाव था सारिखो, मनुप हजारा रै माय ।
> वहुल पणै नहि देखियो, तुझ गुण अनघ अथाय ॥
> सखर मुद्रा थारी सोभती, पवर प्रशात आकार ।
> प्रशात रस प्रभूजी कह्यो, देख लो अनुयोगदुवार ॥

३ वही, [शातिविलास, ११।२६-३३]

> दोय साधु तो पैहला मोकल्या, शाति ऋपी साहमा जान ।
> अहो मुनि । 'ईडवै' जाय भेला हुआ, तीस कोस उनमान ॥
> अहो मु. ! 'लाडणू' आवै छै ते दिने, जीत कहै सुणो सत ।
> अहो मु. ! शान्ति साहमा शीघ्र जायजो, संत सुणी हरषत ॥
> अहो मु. ! सरूपचद ऋप आदि दे, सत घणा लेइ सोय ।
> अहो मु. ! साहमा आया ऋप शाति रै, हरप हीयै अति होय ॥
> अहो मु. ! लोक घणा नगरी तणा, शाति ऋषि साहमा जाय ।
> मेलो मड्यो तिण अवसरै, हूओ हरप ओछाय ॥
> अहो मु. ! शाति ऋपी बहु सता थकी, प्रणमै जीत ना पाय ।
> अहो मु. ! लोक सइकड़ा भेला हुआ, सत सती बहु ताय ॥

अनेक वर्षो तक चला ।[१] तपस्या में सहिष्णुता की शक्ति विकसित होती है। वह जीवन का सवसे वड़ा वरदान है। जिसे सहिष्णुता की शक्ति प्राप्त है वह जीवन की यात्रा में आगे वढ़ सकता है।

महासती सरदारांजी को दीक्षा की स्वीकृति वहुत कठिनाई से मिली। तेरापंथ धर्म-सघ में पारिवारिक जनों की स्वीकृति के विना दीक्षा नही दी जाती। उनके परिवार के लोग स्वीकृति देना नही चाहते थे। महासती का निश्चय अटल था। उन्हें वहुत कठिनाइयों का सामना करना पडा। जयाचार्य ने उन कठिनाइयों का विशद वर्णन किया है। वह अपने आप मे एक उपन्यास जैसा है। आखिर जीत उसी की होतो है, जिसका संकल्प शक्ति-शाली होता है। महासती को दीक्षा की स्वीकृति मिल गई।

दीक्षा के पश्चात् केशलुचन की विधि सपन्न होती है—पुरुष की आचार्य द्वारा और स्त्री की मुखिया साध्वी द्वारा। जयाचार्य ने सोचा—यह साध्वी भविष्य में साध्वियों का नेतृत्व करने वाली होगी। इस दृष्टि से उनके केशलुचन की विधि किसी साध्वी से नही करवाई। उनके केशलुचन की विधि उन्ही के हाथो से सम्पन्न करवाई।[२]

जयाचार्य ने उन्हे साध्वी संघ का नेतृत्व सौप दिया। वे वहुत बुद्धि-सम्पन्न थी। अनेक साधु भी उनसे परामर्श करते थे।[३] साध्वियो ने स्वेच्छा से उनकी निश्रा स्वीकार की।[४] वे प्रवर्तिनी की कक्षा मे पहुंच गईं। साधु

१ अमरगाथा [सरदारसुजश २।११,१२]

केंइ वर्ष उन्हाल मे, सामायिक नित्य सार।
चिहु चिहु करणी तावडे, एहवो वधो उदार।।
शीतकाल निशि पाछली, नित्य तीन सामायक माहि।
एक ओढणा उपरत ओढ्यो नही, केई वर्ष लग ताहि।।

२. वही, [सरदारसुजश, ढा० ६।दो ६,२०]

जीत विचारे ए सती, काल अनागत माहि।
जवर भाग्य भारी दिशा, हुती दीसैं ताहि।।
तिण कारण निज हस्त करि, लै पोते शिर केश।
सती भणी समझाय दी, वारू रीत विशेष।।

३. वही, [सरदारसुजश, ढा० ११।दो १३,१४]

शासण कार्य भलावीयो, सती भणी गणि जीत।
देश-देश मै विस्तरी, कीरति अधिक पुनीत।।
गणपति र मुख आगलै, अधिक सती नो तोल।
सत-सती पिण कार्य वहु, पूछी करैं अमोल।।

४ वही, [सरदारसुजश, ११।३८]

आप आप रा मन सू इह विधि, रूधी अपणो छदो।
सतिय तणी नेश्राय थई छै, आणो अधिक आनदो।।

भी उनका बहुत आदर करते थे। वे साधु-साध्वियों की आवश्यकता का बहुत ध्यान रखती थी। सभी बड़े पद मिल जाएं और गर्व न हो, यह बड़ी बात मानी जाती है। उनका संघ में भारी सम्मान था, फिर भी उनके मन मे कोई गर्व नही था। जनता इसका अनुभव कर रही थी।[1] मातृ-हृदया साध्वीप्रमुखा सरदारांजी को जनता 'जननी' कहती थी। साधु भी उन्हे चन्दनबाला की उपमा से उपमित करते थे।[2] जयाचार्य उन्हे आज्ञा दी कि साधु-साध्वियों को तुम जो चाहो वह वस्तु दे सकती हो। उनमें दान की प्रबल भावना थी। उदारचेता साध्वीप्रमुखा साधु-साध्वियों की हर सेवा में तैयार रहती थी।[3] जयाचार्य ने उनकी सेवा और सहयोग का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। वे अपनी दानशीलता के कारण छोटे-बड़े सभी के लिए आधारभूत बन गई थी।[4] वे जयाचार्य के शासनकाल में स्वर्गवासी हो गई। आचार्यवर ने उनके व्यक्तित्व का बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रण

---

१. अमरगाथा [सरदारसुजश, ११।३६,४२]

प्रवर्त्तिनि सम प्रत्यक्ष पेखो, पचम काल मझारो।
सत तिके पिण तोल सती नो, राखै अधिक उदारो॥
समणी सत भणी अति तीखो, पोष सती नो भारी।
बहु जन भाखै कुडब इसो पिण, गर्व न दीसै लिगारी॥

२. वही, [सरदारसुजश, १२।६]

शासण भार धुरधरू, जननी जिम कहै जन्न।
मुनि पिण चदणबाल नी, दै ओपम कहै धन्य॥

३. वही, [सरदारसुजश, ढा० १३।दो. १,२]

आज्ञा जय गणपति तणी, सती भणी सुखदाय।
सत अनै सतिया भणी, दीजै तुज चित्त चाह॥
दान धर्म नवमो कह्यो, जती धर्म रे माय।
ते गुण अधिक सती मझै, देख्या आश्चर्य पाय॥

४. वही, [सरदारसुजश, १३।२८]

लघु वृद्ध प्रमुख मुनि अज्जा, सगलां नै आधारो जी।
दान धर्म नो लाभ इसी विधि, लेवै सती उदारो जी॥

किया है।[1]

जयाचार्य ने अनेक व्यक्तियों को प्रतिष्ठित किया। उनमें विद्यमान शक्तिबीजों को प्रस्फुटित होने का अवसर दिया। उनकी समस्याओं को समाधान दिया। उन्हे गतिशील बनाया। अपने व्यक्तित्व का निर्माण एक बात है। दूसरों के व्यक्तित्व का निर्माण दूसरी बात है, पहली से सर्वथा भिन्न बात है। दूसरों के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले बहुत कम लोग होते हैं। जयाचार्य उन कम लोगों मे से एक प्रमुख व्यक्ति थे। उनकी अनेक कला-कृतिया हैं। उनमें सबसे बड़ी कलाकृति है—आचार्य मघवा।

---

१. अमरगाथा [सरदारसुजश, १५।५२-५८]

प्रवर्त्तिनी सम पचम आरे, महासती सिरदार।
हिवडा तो दीसैं नही एहवी, याद करै नर-नार।।
चिमत्कार कीधो इण आरै, वारु धर्म उद्योत।
बाह्य अभ्यतर द्रव्य भाव करि, घण घट घाली जोत।।
गुणवती नै महिमावती, जशवती फुन जोय।
पुण्यवती नै विनयवती अति, लजवती अवलोय।।
सर्व भणी अति साताकारी, भारी बुद्धि भडार।
गण हितकारी सील सुधारी, शासण री सिणगार।।
महासती देखी छै तिण नै, याद घणी आवत।
सत-सत्यां नै दान-धर्म नो, लीधो लाभ अत्यत।।
सत-सत्या नै अन्न-पान, वस्त्रादिक नो दे दान।
अधिक खेद मेटी गणपति नी, सखर रीत सुविधान।।
शासण रा बहु कार्य कीधा, शासण मैं जिम स्थभ।
आज्ञाकारी अति ही भारी, गणपति प्रीत अदभ।।

३७

श्रवण, मनन और निदिध्यासन

हम शब्दो के संसार में जीते है इसलिए वहुत सुनते हैं, मनन कम करते है। जितना मनन करते है उससे वहुत कम निदिध्यासन करते हैं। सफलता का रहस्य है श्रवण, मनन और निदिध्यासन का समन्वय। जो एक या दो पर रुक जाता है वह सफलता के शिखर तक नही पहुंच पाता। जयाचार्य की सफलता का यही रहस्य है कि उनकी श्रुत-यात्रा मे अर्धविराम मिलते हैं, पूर्णविराम कही भी नही मिलते। उन्होंने ग्यारह वर्ष की अवस्था में 'संतगुणमाला' की रचना की। एक वार उन्होंने लघुपात्र पर रंग-रौगन किया। वह वहुत आकर्षक वना। वे उसे अपने आचार्य ऋषिराय को दिखाने गए। उस समय महासती दीपांजी ने व्यंग की भाषा में कहा—'यह हमारा काम है। हमारी साध्विया खूव अच्छा काम करती हैं। इसमें आपकी क्या विशेपता है? आप कोई नई रचना कर, कोई नया ग्रंथ लिख-कर आचार्यवर को दिखाते तो मुनिजी! आपकी विशेषता होती।' महासती के इस व्यंग ने मुनि जीतमल की सुप्त मेघा को जगा दिया। उन्होंने सतरह वर्ष की अवस्था में निशीथ सूत्र का पद्यानुवाद किया। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश। यह वहुत गूढ़ अर्थ वाला प्रायश्चित्त सूत्र है, इसीलिए इसका नाम निशीथ रखा गया है। इतनी छोटी अवस्था में उसका पद्यानुवाद कर उन्होंने अपने भविष्य को वर्तमान के दर्पण मे प्रतिविंवित कर दिया। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने प्रज्ञापना के प्रथम पद का पद्यानुवाद किया। प्रज्ञापना तत्त्वविद्या का गहन-गंभीर सूत्र है। उसका आंशिक पद्यानुवाद कर उन्होने अपनी तत्त्ववेत्ता की प्रतिमा को अनावृत कर दिया।

साहित्य-सृजन एक साधना है। इसके पीछे ज्ञान की आराधना का वल होता है तव वह और अधिक तेजस्वी वन जाती है। जयाचार्य स्वाध्याय-योग के महान साधक थे। वे ग्रंथो का पारायण करते रहते थे। अनेक ग्रंथ उनके कंठस्थ थे। वे ग्रंथो को पढ़कर भी उनका पारायण करते और कंठस्थ ग्रथो का दिन-रात पारायण चलता ही रहना। पवित्र शब्दों की तरगों ने उनके आसपास एक शक्तिशाली आभामडल निर्मित कर दिया। वे संकल्प-सिद्ध और वचन-सिद्ध हो गए। जप की महिमा मे पहले संदेह किया जा सकता था, किन्तु पराध्वनि की खोजो के वाद अव उसमें संदेह का अवकाश ही नही है।

स्मृति और मेधा

स्मृति इंद्रिय और बुद्धि का मध्य सेतु है। इंद्रिय द्वारा विषय का वोध होता है और बुद्धि द्वारा उसका विवेक व विश्लेषण। स्मृतिकोष्ठ प्रवल होते है तव ज्ञात का विवेक हो जाता है। विस्मृति होने पर न विवेक हो सकता है और न विश्लेषण। आज का विद्यार्थी स्मृति के मामले में वहुत संपन्न नही है। पुराने विद्यार्थी की स्मृति वहुत प्रखर होती थी। जयाचार्य स्मृति-शक्ति से संपन्न थे। उन्होने हजारों-हजारो पद्य कंठस्थ किए। कंठस्थ ग्रंथों की तालिका इस प्रकार है :—

आगम सूत्र

१. आवश्यक
२. दशवैकालिक
३. उत्तराध्ययन
४. आचारचूला
५. प्रज्ञापना के प्रथम दस पद
६. आगमो के मुक्त पाठ—सहस्र-सहस्र ग्रंथ परिमाण।

व्याकरण और कोश

१. सारस्वत का पूर्वार्ध
२. चंद्रिका का उत्तरार्ध
३. मही (शब्दकोष)
४. भट्टी (व्याकरण)

उनकी स्मृति जितनी प्रवल थी, उतनी ही प्रवल थी उनकी मेधा—धारणा की शक्ति। स्वाध्याय के द्वारा वह और अधिक तेज वन गई थी। ग्रंथ-

पारायण, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा उनके जीवन का प्रमुख कार्यक्रम था। उन्हे 'स्वाध्याय पुरुष' कहा जा सकता है।

स्वाध्याय व्यक्तित्व का निर्माण-सूत्र है। विश्व के अनेक महापुरुष इसके द्वारा साधारण से असाधारण बने है, उत्कर्ष के शिखर तक पहुंचे है। जयाचार्य ने जैन परम्परा के सुप्रसिद्ध बत्तीस आगमों का अनेक वार पारायण किया। निर्युक्ति, प्रकीर्णक, टीका आदि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों तथा आचार्य भिक्षु की रचनाओं का अनेक वार स्वाध्याय किया। भरतवाहुवली आदि काव्य,कोश,छंद-शास्त्र औरअलंकार-शास्त्र,सभा-प्रकाश आदि साहित्य-ग्रंथ, योग-शास्त्र, व्याख्यान, कथा-साहित्य आदि उन्होंने पढ़े। आगम सूत्रों व आचार्य भिक्षु के ग्रंथों के अतिरिक्त लाखों श्लोक-प्रमाण साहित्य के वे अध्येता थे।[1]

परिवर्तना और अनुप्रेक्षा

कंठस्थ ग्रंथों को दोहराना है परिवर्तना और अर्थ का अनुचिंतन है अनुप्रेक्षा। जयाचार्य एकान्त में वैठ परिवर्तना और अनुप्रेक्षा में लीन हो जाते। वाहरी ध्वनि से एकाग्रता भंग न हो, इस दृष्टि से कानों में रूई के फाहे डाल लेते। अनुश्रुति है कि कभी-कभी कानो में काष्ठशलाका का भी प्रयोग करते। स्वाध्याय का क्रम एक साथ तीन-तीन घंटा तक चलता रहता। सं० १९३० के वैशाख में वीदासर में पधारे। वहां शरीर अस्वस्थ हो गया। चातुर्मास-प्रवास वही हुआ। कुछ स्वस्थ हुए तव परिवर्तना का विशेष प्रयोग शुरू किया। उसकी तालिका इस प्रकार हैं :—

संवत्	श्लोक संख्या
१९३० आश्विन शुक्ला एकादशी से आषाढ़ी पूर्णिमा तक	४,६२,९००
१९३१ श्रावण कृष्णा १ से आषाढ़ी पूर्णिमा तक	५७६७५८
१९३२ ,, ,, ,, ,,	८११६००
१९३३ ,, ,, ,, ,,	१९९४०००
१९३४ ,, ,, ,, ,,	१३२०४००
१९३५ ,, ,, ,, ,,	१३६११५०
१९३६ ,, ,, ,, ,,	१४३७९५०
१९३७ ,, ,, ,, ,,	११२१०००
१९३८ आषाढी पूर्णिमा से श्रावण सुदी १ तक (१६ दिनों में)	८१११९२

१. ते. आ. ख. २ पृ. २०३ [जयसुजश, ६७।२६, ३०-३२]

सात वर्ष, नौ महीने और इक्कीस दिन मे कुल मिलाकर छियासी लाख, सड़सठ हजार, चार सौ पचास श्लोकों का पुनरावर्तन किया। उनका अंतिम जीवन केवल स्वाध्याय का जीवन था। स्वाध्याय उन्हें वचपन से ही प्रिय था। जीवन की संध्या में वह प्रिय से अभिन्न वन गया। वे षष्ठीपूर्ति होते-होते मुनि मघवा को अपना उत्तराधिकारी चुन गणचिंता के कुछ भार से मुक्त हो गए। अंतिम नौ वर्षो में वे गणचिंता से मुक्तवत् होकर केवल स्वाध्याय-ध्यान मे ही लग गए थे।

ग्रंथ-पारायण के साथ मनन चलता रहता। वे आगम-श्रुत के पारगामी विद्वान् थे। उत्तराध्ययन जैन आगमो मे सरलतम सूत्र माना जाता है। उन्होंने उसे कंठस्थ किया, उसके वड़े भाग का पद्यानुवाद किया। वे हजारों वार उसका पारायण कर चुके। गहन अन्धकार वाली रात्रि के समय जैसे आकाश मे तारे चमकते है, वैसे ही पारायण करते-करते चिदाकाश में कोई तारा चमक उठता। वे अपने युवाचार्य मघवा से कहते—'मघजी! आज उत्तराध्ययन में एक नया रत्न मिला है।' उन्हे नए-नए रत्न जीवन-भर मिलते रहे। रत्न उसी को मिलता है, जो मनन करता है। यह रत्नगर्भा है हमारी पृथ्वी। यह वसुधरा है हमारी पृथ्वी। इसमें रत्नो की कमी नही है। पग-पग पर निधान है, पर है उसी के लिये जिसे मनन की आख उपलब्ध हो जाती है।

मनस्वी की जिज्ञासा अनंत हो जाती है। उसका विद्यार्थी-जीवन कभी समाप्त नही होता। जयाचार्य ने ऋषिराय से प्रार्थना की—मै भगवती सूत्र कठस्थ करना चाहता हूं। ऋषिराय ने कहा—तुम्हे कठस्थ ही है, फिर क्या कंठस्थ करोगे। नमक को नमकीन वनाना और घी को चुपड़ना क्या आवश्यक है? हृदयंगम ज्ञान को कठस्थ करने की क्या आवश्यकता होगी?

भगवती सूत्र उपलब्ध जैन आगमों मे सवसे वड़ा सूत्र है। उसका ग्रंथमान सोलह हजार श्लोक प्रमाण है। अभयदेवसूरी ने उसकी टीका लिखी। उसका ग्रंथमान अठारह हजार श्लोक प्रमाण है। जयाचार्य ने उसका पद्यानुवाद किया। उसका ग्रंथमान इकसठ हजार श्लोक प्रमाण है। यह राजस्थानी साहित्य का विशालतम ग्रथ है। इसमे पाच सौ गीतिकाएं

है। वे विभिन्न लोकगीतों और रागिनियो में गाई जाती हैं। तत्त्वविद्या की गहन गुत्थियो को सुलझाने वाला यह ग्रंथ संगीत के स्वरों मे गुंफित है। यह कैसा विचित्र योग।[1]

जयाचार्य संगीतप्रिय थे। उनकी गद्य-रचनाएं भी कम नही हैं, पर पद्य-रचनाएं उनसे वहुत अधिक है। पद्य-रचनाओं में उन्होंने संगीत को प्राथमिकता दी। दोहों, सोरठो और कलसों (हरिगीतिका छंदों) के अतिरिक्त अनेक गीतो और रागिनियो का प्रयोग किया। उनका संगान श्रोता के मन को आह्लाद से आपूरित कर देता है।

भक्तिकाव्य

चौवीसी उनकी एक लघु कृति है। जैन परंपरा में चौवीस तीर्थंकर हुए। पहले भगवान् ऋषभ और अंतिम भगवान् महावीर। उस कृति मे चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति है। यह उनकी सवसे अधिक लोकप्रिय रचना है। प्रातः काल सैकड़ों-सैकडो गावो और नगरों में हजारो कंठों द्वारा इस का संगान होता है। यह ध्यानयोग की विशिष्ट रचना है। ध्यान के मूल तत्व हैं—कायोत्सर्ग, सहिष्णुता और समता। आचार्यवर ने तीर्थंकरों की जीवन-चर्या मे इन तत्त्वों का निरूपण किया है। भगवान ऋषभ कायोत्सर्ग, सहिष्णुता और समता के जीवंत प्रतीक थे। वे दीक्षित होते ही तपस्या में लग गए। पूरे एक वर्ष तक न भोजन किया और न जल पिया। कायोत्सर्ग की मुद्रा मे ध्यानलीन रहे।[2] जिसे शरीर और चैतन्य का भेद-विज्ञान नही

---

१ भगवती सूत्र का पद्यानुवाद पाच वर्ष मे सपन्न हुआ। स. १९१९ आश्विन कृष्णा नवमी, गुरुवार, पुष्य नक्षत्र, सुजानगढ मे रचना का प्रारभ हुआ। उसकी सपन्नता स. १९२४, पौष शुक्ला दशमी, रविवार, बीदासर मे हुई।

२ आराधना [चौवीसी, १।२-५] पृष्ठ ६ :

> अनुकूल प्रतिकूल सम सही, तप विविध तपदा।
> चेतन तन भिन्न लेखवी, ध्यान शुकल ध्यावदा॥
> पुद्गल सुख अरि पेखिया, दुख हेतु भयाला।
> विरक्त चित विगट्यो इसो, जाण्या प्रत्यक्ष जाला॥
> सवेग सरवर झूलता, उपशम रस लीना।
> निंदा स्तुति सुख दुःख मे, समभाव सुचीना॥
> वासी चदन समपणैं, थिर चित जिन ध्याया।
> इम तन सार तजी करी, प्रभु केवल पाया॥

होता, जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति को सह नही सकता, जिसका जीवन और मृत्यु के प्रति समान भाव नही होता, वह एक वर्ष तक आहार और जल को कैसे छोड़ सकता है ?

हमारा सबसे निकट का संबंध शरीर से है। हमारे व्यक्तित्व के दो मुख्य घटक है—चेतना और शरीर। हम दार्शनिक भाषा में सोचते और बोलते है तब चेतना और शरीर को भिन्न कहते है। व्यवहार के धरातल पर शरीर चैतन्य पर इतना हावी है कि हम अपने अस्तित्व को शरीरमय ही अनुभव करते है। जो अभिव्यक्त होता है, जो क्रियान्वित होता है, उसका मूल आधार शरीर है। साधना के क्षेत्र मे उसे नौका कहा गया है, पर उसकी कुछ समस्याएं है—

- वह अनित्य है, नश्वर है।
- वह रोग से आक्रात होता है।
- वह बूढा होता है।
- वह कष्टानुभूति का माध्यम है।
- वह भूखा-प्यासा होता है।
- वह सर्दी-गर्मी से पीड़ित होता है।

इस शरीर का उत्सर्ग वही कर सकता है, जिसे चैतन्य का अनुभव हो जाता है। असहिष्णुता और विषमता—ये मानसिक समस्याए है।

- मन चचल है।
- वह प्रभावित होता है।
- उसमे प्रतिक्रिया होती है।
- वह आवेगों का वाहक है।
- वह राग-द्वेष या प्रिय-अप्रिय सवेदनों का भार ढोता है।
- उसमें अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना होती है।

इस परिस्थिति मे सहिष्णुता और समता का विकास वही कर सकता है, जिसे चेतना का अनुभव हो जाता है।

ध्यान मे रगों का बहुत महत्त्व है। जयाचार्य इसका मूल्य जानते थे। उन्होने रगों के ध्यान का महत्त्व बतलाया है।[1] चौबीसी में भी उन्होने तीर्थंकरों के रंगो की चर्चा की है—चंद्रप्रभु और सुविधि ये दो तीर्थंकर श्वेत रंग के, पद्मप्रभु और वासुपूज्य लाल रंग के, मुनि सुव्रत और अरिष्टनेमि

१ आराधना [ध्यान प्रकरण], पृ. ८१,८२ ॥

श्याम वर्ण के, मल्ली और पार्श्व नील रंग के और शेष सोलह तीर्थंकर स्वर्ण वर्ण जैसे गौर थे।[1]

क्रोध जीवन की सुन्दरता और मधुरता दोनों को नष्ट करता है। जिस जीवन में सुंदरता नहीं, वह कैसा जीवन? जिस जीवन में मिठास नही, वह कैसा जीवन? प्रभु वासुपूज्य कभी क्रोध नही करते थे, इसलिए उनकी वाणी में शर्करामिश्रित दूध जैसी मधुरता आ गई थी।[2]

आचार्यवर ने प्रस्तुत कृति में 'अनुराग से विराग' के सिद्धान्त का अनेक वार उपयोग किया है। परम से प्रीति किए विना काम की प्रीति नही छूटती। भगवान् अरिष्टनेमि की शिवरमणी से प्रीति जुड़ गई। राजीमती को उन्होंने छोड़ दिया। अप्रीति में राजीमती छोड़ी जाती तो वह उनके स्मृति-पटल पर वनी रहती। परमप्रीति होने पर उसे छोड़ा। उसे छोड़ने का अर्थ था उसमें अपने जैसे अनंत चैतन्य का अनुभव। अनुभव की धारा से अभिषिक्त इस कृति का आध्यात्मिक मूल्य भी है और साहित्यिक मूल्य भी है।

जयाचार्य जितने वड़े तत्त्ववेत्ता थे, उतने ही वड़े लोकमानस के अध्येता थे। वे जनता की उपयोगिता को ध्यान में रखकर रचना करते थे। उनकी सामयिक रचनाओं में एक महत्वपूर्ण रचना है—आराधना। जीवन का मूल्य है और हम उससे परिचित है। मृत्यु का मूल्य जीवन से ज्यादा है और आश्चर्य है कि हम उससे परिचित नही हैं। जयाचार्य ने उससे परिचित कराने का प्रयत्न किया है। आराधना की रचना साधु-संस्था को या स्वयं को लक्ष्य में रख कर की गई थी, फिर भी उसकी गीतिकाओं का मूल्य सार्वभौम है। उसके संगान से चित्त की निर्मलता होती है, साथ-साथ शांतरस और वीररस की अजस्र धारा प्रवाहित हो जाती है। इस कृति को

---

१. आराधना [चौबीसी, प्रवेश दोहा १०,११] पृ. ४ :

श्वेत वरण चद सुविधि जिन, पद्म वासुपूज्य लाल।
मुनि सुव्रत रिठनेम प्रभु, कृष्ण वरण सुविशाल॥
मल्लिनाथ फुन पार्श्व प्रभु, नील वरण वर अंग।
षोडश शेष जिनेश तनु, सोवन वरण सुचग॥

२. आराधना [चौबीसी, १२।४] पृष्ठ १६ :

इन्द्र थकी अधिका ओपें, करुणागर कदेय नही कोपें।
वर साकर दूध जिसी वाणी, प्रभु वासुपूज्य भजलै प्राणी॥

मानसिक चिकित्सा का महाग्रंथ कहा जा सकता है। वीमारी से पीड़ित और मृत्युशय्या पर सो रहे मनुष्य के चित्त को शाति देने वाला है, इसीलिए यह वहुत लोकप्रिय है।

जयाचार्य परिस्थितिवादी नही थे। एक दृष्टि है परिस्थितिवाद की। उसके अनुसार सव कुछ परिस्थिति से ही होता है। इसमे उपादान कुछ नही होता, निमित्त सव कुछ होता है। दूसरो दृष्टि है कर्मवाद या भाग्यवाद की। उसके अनुसार सव कुछ कर्म या भाग्य से होता है। इसमे उपादान सव कुछ होता है, निमित्त नही होता। तीसरी दृष्टि है समन्वयवाद की। उसके अनुसार घटना के घटित होने में उपादान और निमित्त दोनो भागीदार होते है। अकेला कोई भी तत्त्व सार्वभौम शक्तिसंपन्न नही होता।

जयाचार्य ने इस समन्वयवादी दृष्टिकोण के आधार पर निमित्तों को सम्यक् करने, व्यवस्था को सुधारने और उपादान को निर्मल वनाने का मार्गदर्शन दिया।

जयाचार्य विशुद्ध अर्थ में दार्शनिक साहित्यकार थे। उन्होंने सृजनात्मक साहित्य भी लिखा था। साहित्य का वर्गीकरण सापेक्ष है। उसका उद्देश्य एक ही है। वह है जन-मानस को जागृत करना। चेतना का विकास और जागरण न हो, वह मूर्च्छित वनी रहे तव साहित्य की सार्थकता नही होती। साहित्यकार महान् उद्देश्य के लिए समर्पित होता है। वह सामयिक समस्याओं के साथ शाश्वत समस्याओं से भी अपना सपर्क वनाए रखता है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार सोल्जेनेत्सिन के शब्दो में—'मानव मन, आत्मा की आंतरिक आवाज, जीवन-मृत्यु के वीच सघर्ष, आध्यात्मिक पहलुओं की व्याख्या, नश्वर ससार में मानवता का वोलवाला जैसे अनादि सार्वभौम प्रश्नो से जुडा है साहित्यकार का दायित्व। यह दायित्व अनंत काल से है और जव तक सूर्य का प्रकाश और मानव का अस्तित्व रहेगा, साहित्यकार का दायित्व भी इन प्रश्नों से जुडा रहेगा।'

जयाचार्य साहित्य के दीर्घतपस्वी थे। उनका साहित्य तपस्या और साधना का सतत प्रवाही निर्झर है। प्रकृति का निरीक्षण, परिस्थितियो का आकलन और सामयिक समस्याओ का सदर्भ—इनकी परिधि में साहित्य का वड़ा भाग सिमटा हुआ है। आत्म-निरीक्षण और स्थायी समस्याओ का समाधान वहुत कम साहित्यकार करते है। जयाचार्य ने आत्म-निरीक्षण की विधा को छुआ। स्वसवोधन और स्वनिरीक्षण उनकी सहज-सरल काव्य

भाषा में वहुत प्रस्फुटित हुआ है। उदाहरण-स्वरूप स्वसंवोधन के कुछ सोरठे प्रस्तुत हैं—

जीता ! जनम सुधार, तप-जप कर तन ताड़यै।
खिण में ह्वै तन छार, दिन थोड़ा मे देखजै ॥१॥
जीता ! निज दुख जोय, कुण-कुण कष्टज भोगव्या।
अव दिल मे अवलोय, ज्यूं सुख लहिये सासता ॥२॥
वैरी मान विखेर (जय) नरमाई गुण नीपजै।
हिवडै पर-गुण हेर, निज अवगुण सुण निंदमा ॥७॥
जय ! निज-आदि सुजोय, विविध पणै तू दुख लह्यो।
अल्प कठिन अवलोय, कोपै तू किण कारणै ॥८॥
भू सम जय ! गंभीर, निष्प्रकंप मंदर गिरी।
हेरै निज गुण हीर, ध्यान सुधारस ध्यान नै ॥१०॥'[1]

परिस्थिति और घटना को संवोधन का माध्यम वनाना साहित्यकार का जन्मसिद्ध अधिकार है। जयाचार्य इस अविकार का उपयोग करने में नही चूकते थे। एक वार की घटना है। वे सुजानगढ़ में विराज रहे थे। नाहटा की हवेली की तीसरी मंजिल पर वैठे थे। पास मे कुछ साधु उपस्थित थे। नीचे रास्ते में दो कुत्ते आपस में लड रहे थे। दोनो आक्रमण की मुद्रा वनाए वहुत जोर-जोर से भौक रहे थे। आसपास की शांति भंग हो रही थी। उस समय जयाचार्य का कवि-पुरुष वोल उठा। साधुओं को संवोधित कर एक शिक्षापद कहा —

'नही ज्ञान अरु ध्यान, काम-काज पिण को नही।
ते कूकर सम जाण, फिरै चरै कलहो करे॥'

जयाचार्य विनोदप्रिय थे। कभी-कभी विनोद के क्षणो में उनका कवित्व स्फुरित हो जाता था। मोतीजी तेरापंथ के यशस्वी साधु थे। उन्होने छोटी अवस्था में पाली में मुनि-दीक्षा स्वीकार की थी। वे जयाचार्य के आगे चल रहे थे। चलते समय भूमि को देख कर चलने की विधि होती है। वे विधिवत् नहीं चल रहे थे। उसी समय जयाचार्य ने एक कविता रची—

'मोतीजी रंगीलो साधू, चालै आंटो-आंटो।
ईर्या सुमति पूरी नही सोधै, नहीं वतावै कांटो॥

१. आराधना [अध्यात्म पदावली—आत्म-सवोध] पृ० १०५

ओ तो मोतीडो साधो, म्हानै पाली माहै लाधो।
ओ तो लक्खासर रो डागो, म्हानै पाली मांहै लाधो ॥'

सहज कविता प्रसंग से जुडी होती है। वह भीतरी हो या वाहरी। प्रसंगशून्य कविता में प्राण नही होता। वह केवल शव्द-जाल होती है। कवि प्रसंग का लाभ उठाकर अपने अन्तर्भाव को शव्दो में गूथ देता है। उसमें प्राण-शक्ति होती है और वह दूसरों मे भी प्राण फूक देती है। जयाचार्य पाली चातुर्मास सपन्न कर लाडणू की ओर आ रहे थे। वहां उनके संसार-पक्षीय वडे भाई मुनि सरूपचन्दजी प्रवास कर रहे थे। वृद्ध अवस्था के कारण उनकी शक्ति कम हो गई थी। जयाचार्य उनसे मिलना चाहते थे। पाली से प्रस्थान कर सिरियारी, कंटालिया और वगड़ी पहुचे। आचार्य भिक्षु उनके इष्ट है। कंटालिया आचार्य भिक्षु की जन्म-भूमि, वगड़ी दीक्षा-भूमि और सिरियारी उनकी निर्वाण-भूमि है। तीनो पवित्र भूमियों का स्पर्श कर वे रामपुर पहुंचे। रात्रि-प्रवास के समय उनके पास आठ साधु थे। उनके नाम ये है—१. मघराज २. कर्मचद ३. अनोपचंद ४. मोतीजी ५. अनाम ६. रत्न ७. मुनिपत ८ वीजराज।

आचार्यप्रवर ने प्रत्येक साधु को एक-एक सोरठा रचकर शिक्षा-संवोध दिया।[1] वह मार्मिक और हृदय को छूने वाला है। इस प्रयत्न से उन्हे

---

१ ते आ ख २, पृ १५२ [जयसुजश, ५०]

वर उपयोग सु वृद्धि, चित्त मे अति राखो चटक।
शासन वृक्ष समृद्ध, रत्न जत्न मघराज इम ॥ १ ॥
वारू समय विनोद, कीधो चित्त अति हितकरी।
मन मे परम प्रमोद, मखरो राखे कर्मसी ॥ २ ॥
दिन-दिन विनय दिनेश, अतर उजुवालो अधिक।
वाधै सुजश विशेप, ताजक सीख तिलेमरा ॥ ३ ॥
सुविनीता रो सग, परम प्रीत गणपति थकी।
अलगो तज खल अग, महिमा वाधै मोतिया ॥ ४ ॥
मत दे निद्रा मान, ज्ञान ध्यान उद्यम गुणी।
मखर सग सुविधान, निरखी रहिजै निमल चित्त ॥ ५ ॥
चारित्र सू चित्त चग, नरक-निगोद पडै नही।
अमल चित्त उचरग, हृदय सीख धर रत्न-सी ॥ ६ ॥
चरचा सूं धर चूप, प्रकृति वम कर प्रेम सू।
आदर-विनय अनूप, मान वधै इम मुन्निया ॥ ७ ॥
सखरी मुनिवर सेव, पुद्गल प्यासा परहरी।
भण नव तत्व सु भेव, वर समकित धर वीजिया ॥ ८ ॥

प्रोत्साहन मिला। मघराजजी उनके उत्तराधिकारी वने और सभी साधु वने संघ की प्रतिष्ठा वढ़ाने वाले यशस्वी और तपस्वी।

जादू का चमत्कार किसी ने न देखा हो वह देख सकता है शब्दों के जादू का चमत्कार। साहित्य ने जनमानस को जितना आदोलित किया है, उतना कोई भी जादू नहीं कर पाया। शब्द की शक्ति भावना की शक्ति से शतगुणित हो जाती है। आज का साहित्यकार इस रहस्य को कम जानता है। प्राचीन युग का साहित्यकार इसे वहुत गहराई से जानता था, इसीलिए वह मंत्र का विकास करने में सक्षम हो सका। वाल्मीकि रामायण का पारायण होता है, तुलसी रामायण का पारायण होता है, स्तुति-स्तोत्रों और शांति-पाठों का पारायण होता है। वह इसीलिए होता है कि उनमें शब्द-शक्ति और भावना की शक्ति का समन्वय है। जयाचार्य में श्रद्धा और भावना की अपूर्व शक्ति थी, इसलिए उनके शब्दों मे विचित्र शक्ति का आविर्भाव हुआ था। कुछ घटनाओं से उनके साहित्यिक मंत्र-चैतन्य का अंकन किया जा सकता है।

सं० १९१२ की घटना है। जयाचार्य कंटालिया में विहार कर रहे थे। कंटालिया आचार्य भिक्षु की जन्मभूमि है। उसके साथ उनका आकर्षण-भाव जुड़ा हुआ था। उन दिनो डकैती और लूटपाट वहुत चलती थी। फौज द्वारा गाव को लूटने की आकस्मिक सूचना मिली और वह सारे गांव में फैल गई। गांव के लोग घवड़ा गए। जयाचार्य को इस स्थिति का पता चला। उन्होने लोगों को आश्वस्त करते हुए कहा—हम आचार्य भिक्षु को जन्मभूमि में हैं, उनकी शरण में है। उनका नाम सव विघ्नों को हरने वाला है। फिर यहा कोई विघ्न कैसे होगा? आप सव निश्चित रहे। उन्होने वसत पंचमी के दिन सिरियारी मे एक गीतिका वनाई और माघ शुक्ला चतुर्दशी, पुष्य नक्षत्र के दिन विघ्नहरण के रूप में उसकी स्थापना की। उसका संगान जैसे ही शुरू हुआ, लोग लुटेरों के आने की वात भूल गए, उस संगान मे तन्मय वन गए। संगान पूरा हो ही रहा था तव दूसरी सूचना मिली कि फौज के लुटेरे गांव में आते-आते रुक गए और पता नही कैसे उनका मन वदला, वे वापस मुड गए और आगे वढ गए। गाव का संभावित उपद्रव टल गया। सव लोग खुशियों में झूमने लगे। 'विघ्नहरण की ढाल' आज भी वहुत प्राभाविक मानी जाती है। विघ्न-

निवारण के लिए इसका वहुत प्रयोग होता है। इसमें 'अ० भी० रा० शि० को०' यह बीजमत्र है। इसका संबंध अमोचन्द,भीमराज, रामसुख, शिवराज और कोदरजी—इन पाच तपस्वी साधको से है। जयाचार्य मत्र-साधना के मर्मज्ञ थे। उनकी अज्ञात शक्तियो मे वहुत आस्था थी। वे उनके साथ परोक्ष या प्रत्यक्ष सपर्क साधे हुए थे। उन्होंने अपने भक्ति-काव्यों मे इसकी अनेक वार चर्चा की है। उनकी रचनाओं मे इसके सकेत और रहस्य भरे पड़े है। कुछ पकडे जा चुके है और कुछ अभी भी पकड मे नही आ रहे है। उन्होने अपने संकेतों के वारे मे स्वय लिखा है कि इस रहस्य को कोई जानने वाला ही जानता है, दूसरा नही जान सकता—

जाणे तिके नर जाणता, अवर न जाणै लिगारी।
धर्म उद्योत करण धुरा, निरवद्य कारज सारी।
आणा तास मझारी ॥[1]

चंद्रप्रज्ञप्ति सूत्र की दूसरी गाथा एक शक्तिशाली मत्र या मंत्रों का समूह है। जयाचार्य ने लिखा है—यह विघ्नहरण की ढाल चंद्रप्रज्ञप्ति की दसरी गाथा जैसी है। यह अधिष्ठायक शक्ति से अधिष्ठित है।[2]

सं० १९१४ का वर्षावास वीदासर में संपन्न हो रहा था। जयाचार्य अपना प्रवास 'बैगानियो की पुरानी पोल में' मानमलजी जैचदलालजी बैगाणी की हवेली में कर रहे थे। कार्त्तिक शुक्ला दशमी को वहा एक अप्रत्याशित घटना घटित हुई। वह ऐसी घटना है, जिस पर विश्वास करना कठिन है। अनेक मुनि उस घटना के साक्ष्य थे, उनका भोगा हुआ यथार्थ था, इसलिए उस पर अविश्वास भी नही किया जा सकता।

---

१ कीर्तिगाथा [सतगुणमाला, ८।२७]।

२ वही, [सतगुणमाला, ८।२१]।

चदपण्णत्ती सूत्र नी, गाथा द्वितीय विचारी।
तिमहिज भजन ए ऋषि तणो, अधिष्ठायक अधिकारी,
स्थिर दृढ आसता धारी ॥

इसके अनुभूत लाभ हैं—

तस्कर तास न प्राभवे, चरचा में जयकारी।
भूत रोग आपद हरे, अघ दल रूप परिहारी।
समरण महा सुखकारी ॥
वही, [सतगुणमाला ८।२०]

जयाचार्य अपने साधुओं के साथ जिस कमरे में विराज रहे थे, उसकी छत से अंगारे बरसने लगे। सब साधुओं को लगा कोई उपद्रव है। हो सकता है, कोई प्राकृतिक प्रकोप हो। इसे किसी प्रेत आत्मा का उपद्रव भी माना जा सकता है। यह भी हो सकता है कि वह जयाचार्य द्वारा किए जाने वाले मंत्र-जप की प्रतिक्रिया हो। कुछ भी हो, अंगारे बरसे, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। उस समय जयाचार्य अप्रभावित रहे। उन पर उस घटना का कोई प्रभाव नहीं हुआ। शेष सब साधु अचेत हो गए। जयाचार्य ने तत्काल एक गीतिका रची। उसका शीर्षक है—'मुणिंद मोरा भिक्षु ने भारीमाल।' पूरी तन्मयता के साथ सस्वर उसका उच्चारण किया। देखते-देखते उपद्रव शांत हो गया। साधुओं की मूर्च्छा टूट गई।

इस गीतिका मे जयाचार्य ने अपने इष्ट के प्रति हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त की है और साथ-साथ अन्य अनेक शक्तिशाली साधकों का स्मरण किया है। आचार्य भिक्षु और भारीमाल के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित थे। उन्होंने श्रद्धासिक्त भाव से लिखा—

मुणिंद मोरा भिक्षु नै भारीमाल, वीर गोयम सी जोड़ी रे, स्वामी मोरा।
अति भली रे, मोरा स्वाम।
मुणिंद मोरा चौथा आरा नी चाल, विविध मर्यादा बाधी रे, स्वामी मोरा।
निरमली रे, मोरा स्वाम ॥[1]

जयाचार्य ने कुछ देवियों का शासन-सहायिका के रूप में उल्लेख किया—[2]

मुणिंद मोरा शासण महासुखकार, अमरसुरी अधिष्ठायक रे, स्वामी मोरा।
सहायका रे, मोरा स्वाम।
मुणिंद मोरा दवदंती जयवंती सार, अनुकूल वली इंद्राणी रे, स्वामी मोरा।
दायिका रे, मोरा स्वाम।

यह उल्लेख कोई आकस्मिक नही है। इस प्रकार का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है—[3]

---

१ कीर्तिगाथा [स्तुतिगीत, २४।१]।
२ वही, [स्तुतिगीत २४।१२]।
३. वही, [विघ्नहरण, २२]।

दवदंती सूरी दीपती, जयवंती जशधारी।
इंद्राणी सूरी आद दे, साहज करण सुखकारी।
पुण्यवती प्यारी॥

जयाचार्य शासनदेवी का वार-वार उल्लेख करते है, पूरे आत्म-विश्वास के साथ और साक्षात्कार की भाषा मे —[1]

शासन-सुरी सुहामणी, अद्भुत रूप अनूप।
ते पिण संत-सत्या तणा, पग प्रणमै धर चूंप।
कोमल कल्पलता समी, कर्णाभरण सुकंत।
हिय छायो हारे करी, रत्नतिलक भलकंत॥
बाजूबंध अरु बहिरखा, काकण रत्न जडत।
पग नेउर अरु घूघरी, भिण भिणकार करत।
आंगुलिया दश मुद्रिका, कडि कंदोरो सार।
नकबेसर हद नाक में, देख्या हर्ष अपार॥
कडी मेखला रत्न नी, हाथ रत्न नी माल।
पहिरण चीर शोभे रह्यो, नानाविध सिणगार॥
एहवी सुरी सुहामणी, शासण नी अधिष्ठात।
निश दिन चिता तेहनै, सुखदाई साख्यात॥
असिआउसा भक्त से, इन्द्रादिक हरसंत।
वचन-शूर शासण-सुरी, परतख ही परखत॥

जयाचार्य अड़सठ वसंत पार कर चुके थे। बीदासर मे प्रवास। सवत् १९२९ की वैशाख शुक्ला छठ का दिन। अकस्मात् मूत्र-निरोध हो गया। वैद्यो ने चिकित्सा की, अनेक उपचार किए, पर कोई लाभ नही हुआ। स्थिति विषम वन गई। जीवन और मृत्यु का सघर्ष छिड़ गया। समाज मे चिता व्याप्त हो गई। जयाचार्य ने देखा, कोई उपचार काम नही कर रहा है। उन्होंने अपना उपचार शुरू किया। उस भयकर वेदना की स्थिति मे भी उन्होने एक गीतिका का सृजन कर उसका संगान शुरू किया। उसका ध्रुवपद है—

'भिक्षु म्हारे प्रगटचाजी भरत खेतर मे।
ज्यांरो ध्यान धरूं अंतर मे।'

१. आराधना [अध्यात्म पदावली, जिनशासनमहिमा (१) १४।१९–२४]।

उसके ग्यारह पद्य हैं।[1] जैसे ही अंतिम पद्य का संगान पूरा हुआ वैसे ही मूत्रावरोध मिट गया। एक बडा सकट टल गया। समूचा वातावरण हर्षोल्लास से उल्लसित हो गया। कुछ अन्य गोतिकाओं में भो विघ्न शान्त होने और उपद्रव मिटने के संकेत मिलते है, पर उनके साथ जुड़ी हुई घटनाए आज ज्ञात नही है। सं० १८९९, भाद्रपद चौथ की एक रचना[2] में उन्होंने लिखा है—मैंने आपके नाम का स्मरण किया। मेरे सारे उपद्रव मिट गए।

प्राणी रे मनोहर मुद्रा प्यारी, थारी सूरत री वलिहारी लाल ॥६॥
प्रा० तुम भजन करूं निश दिन मे, स्वामी आप वस्या मुज मन मे॥७॥
प्रा० तुम नामे संकट टलियै, सुख सपति सुदर मिलियै ॥८॥
प्रा० मणिधारी आप उजागर, सुखकारी गुण रा सागर ॥९॥
प्रा० म्हे हंस करी गुण रटिया, तुम नामे उपद्रव मिटिया ॥१०॥
प्रा० कोइ भूत प्रेत दुखदाई, तुज भजन थकी टल जाइ ॥११॥
प्रा० जाप जपू नित तेरो, मनवंछित पूर्ण मेरो ॥१२॥

सं० १९०७ के वर्ष मे जयाचार्य जोबनेर (राजस्थान) में प्रवास कर रहे थे। वहा कोई घटना घटित हुई। उसे लक्षित कर उन्होने दो गीतिकाओं की रचना की। उनमें संकेत है कि उपद्रव शांत हो गया।[3]

---

१ कुछ पद्य वहुत ही मार्मिक वन पडे है। परिस्यिति-विशेष मे रचित रचना साधारण रचना की अपेक्षा अधिक अ त.स्पर्शी होती है—

भिक्षु म्हारे प्रगटचा जी भरत खेतर मे।
ज्यारो ध्यान धरू अ तर मे। ध्रुवपद ॥
देश देश ना लोक आपनो, समरण कर रह्या उर मे ॥ १ ॥
मन्त्राक्षर सम नाम तुम्हारो, विघ्न मिटे घर-घर मे ॥ ३ ॥
साप्रत काले स्वामगण पायो, आयो चिंतामणि कर मे ॥ ७ ॥
आप आचारज महा उपगारी, कल्पवृक्ष जिम तर मे ॥ ८ ॥
भिक्षु भारीमाल ऋपिराय प्रसादे, जयजश सुखमदिर मे ॥ ११ ॥
(कीर्त्तिगाथा, स्तुतिगीत, ३८)

२. कीर्तिगाथा [स्तुतिगीत, ६]।

३. (क) वही, [स्तुतिगीत, १७।१०]
(ख), वही स्तुतिगीत, १८।७)

हो जी हू तो जोवनेर मे पायो परमानद जो
रटिया रे स्वामी सहू उपद्रव मिट गया रे लो ॥ १ ॥
उगणीसे साते समे रे मुनि, जोवनेर जयानद
चेत सुदि एकम दिने रे मुनि, दूर थया दुखधद ॥ २ ॥

मीरां के मन मे गिरधर गोपाल के दर्शन की जो उत्कट लालसा थी, वही उत्कट लालसा थी जयाचार्य के मन मे आचार्य भिक्षु के दर्शन की। वही प्रीत और वही मीत। आचार्य भिक्षु उनके इष्ट है। उनके वश मे है। वे सपने मे आते है, प्रश्नों का उत्तर देते है, वातचीत करते है, पर साक्षात् नही होते। इसलिए साक्षात्कार की तडप और प्रवल हो जाती है। जयाचार्य भी अंतर् प्यास की अकुलाहट मे गाते है—

'म्हारै भिक्षु ऋषि सू, लागी पूरण प्रीत।'[1]

स्वप्न-दर्शन और प्रश्नोत्तर की स्थिति अनेक वर्षो की अनवरत साधना के पश्चात् निर्मित हुई। इससे पूर्व वे उनके दर्शन और प्रश्न पूछने का स्वप्न संजोते है। उनकी अनेक रचनाओ मे वह स्वप्न मुखरित है।[2] उनका

---

१ कीर्त्तिगाथा [स्तुतिगीत, १७]

हो जी म्हारे भिक्षु ऋषि सू लागी पूरण प्रीत जो,
जीवडो रे ललचाणो स्वामीजी सू ओलगे रे लो ॥ १ ॥
हो जी म्हारे स्वामी सरीखो कुण छे दुनिया माहि जो,
देखण रो मुज मनडो अधिको ऊमगे रे लो ॥ २ ॥
हो जी मोनें विविध प्रश्न रा उत्तर अधिक अनोप जो,
देवै रे अति हर्ष धरी नै अतिभला रे लो ॥ ३ ॥
हो जी हू तो सुपने सूरत पेख्या परमानद जो,
आवै रे अति हर्ष वैण सुणिया थका रे लो ॥ ७ ॥
हो जी मन उल्लसै प्रत्यक्ष कद पेखू दीदार जो।
मन रा रे मनोरथ सफल कब हुवे रे लो ॥ ८ ॥

२ (क) वही, [स्तुतिगीत, ३।४]

स्वरूप साक्षात द्रव्ये भावे जोत, तुरत कियो आप अधिक उद्योत।
हिवडो हुलसायो लोभी जाणे लूस, देखण बोलण री मन हूम ॥

(ख) वही, [स्तुतिगीत, ४।४]

सूरत देखण प्रश्न पूछण री, हूस घणी मुझ भारी।
धर ब्रह्मेंद्र अच्युत सुख भाजण, तन-मन मुद्रा प्यारी ॥

(ग) वही, [स्तुतिगीत, ५।३-६]

तुम गुण आया याद, हीयो हुलसावै रे।
स्वामी देखण री अभिलाष, मन उम्हावै रे ॥
था सू बात करण री हुस, मुझ मन भारी रे।
थारी सुदर वाणी विशाल, लागे प्यारी रे ॥
तुम चरण-कमल नी सेव, धिन ज्या कीधी रे।
तुम सीख अमोलक सार, धारे लीधी रे ॥
मुज मन मे मोटी हूंस, किस दिन फलियै रे।
जद होवै हर्ष अपार, शुभ दिन वलियै रे ॥

स्वप्न फलित हो गया। उन्होंने कहा—स्वप्न में आपकी सूरत देखने और वचन सुनने से हर्ष होता है तो साक्षात् दर्शन और श्रवण से कितना हर्ष होता है, वह बताया नहीं जा सकता[1]—

स्वप्ने सूरत देख्यां हर्ष, सुण्यां वचन उदारी।
तो प्रगट नो किसू कहिवो, आप जवर उपगारी।।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के साक्षात्कार की स्थिति तक पहुच गए थे, यह आभास मिलता है। उन्होंने बचपन से ही एक श्रद्धा का निर्माण किया था। वह प्रगाढ़ होते-होते मूर्तिमान बन गई, साक्षात्कार की स्थिति तक पहुंच गई। यह रहस्यमय जगत् है। इसे ध्यान और समाधि का अभ्यासी ही जान सकता है। जयाचार्य का वह वचन अनुभव का वचन है कि आचार्य भिक्षु जयाचार्य के लिए सब कुछ थे। उनके नाम-स्मरण मात्र से वे रोमांचित हो जाते थे।[2] आचार्य भिक्षु से उन्हें कोई संकेत मिला और वह पूरा हुआ। उससे श्रद्धा को और अधिक बल मिला। उन्होंने लिखा—'स्वामी ! आप उजागर हैं। आपका विरुद बड़ा है। आपने थोड़ा कहा और बहुत निभाया।[3] यह कितना आश्चर्य ! आपने पूरी प्रीत निभाई है। आपने मेरे मनोरथ पूरे किए। कम कहा और अधिक कर दिखाया था।[4] स्वामी ! आपने सब पर कृपा की और लोगों की आंतरिक आंखे खोल दी। मुझ पर आपने परम उपगार किया। मुझे आपने गहन ज्ञान दिया।[5]

---

१. कीर्त्तिगाथा [स्तुतिगीत, ३७।४]

२. वही, [स्तुतिगीत, १।५]

सूरत मुद्रा मोहनी, श्याम वर्ण सुहाया हो।
याद आया हीयो हूलसै, रोमांचित हुवै काया हो।।

३. वही, [स्तुतिगीत, २।५,६]

आप उजागर विड़द निभावण, सुमता रस थी भर्‌यो री।
किंचित कहि नैं बहुत निभायो, ए विडद बडा नो धर्‌यो री।।

४. वही, [स्तुतिगीत, २०।६]

पवर मनोरथ मांहरा, ते पूर्‌या तहतीक।
अल्प वचन गुण आगरु, रुडा अति रमणीक।।

५ वही, [स्तुतिगीत, ४४।५,६]

अधिक कृपा भविका पर कर नै, स्वामी थे तो खोल्या अभ्यंतर नेण।
परम उपगार कियो मुझ ऊपर, स्वामी थे तो ज्ञान बतायो गैहन।।

उनके कण-कण में आचार्य भिक्षु रमे हुए थे।[1] उन्हें दृढ़ विश्वास था—आचार्य भिक्षु का नाम विघ्न हरने और मंगल करने वाला है। उसके जप से अचिंत्य कार्य सध जाते है।[2]

जयाचार्य जैसे उदार और गुणग्राही व्यक्ति विरले होते है। उन्होने गुणीजनो का गुणगान करने और उनका सम्मान वढाने मे अपना नाम अग्रिम पक्ति मे लिखा दिया। उन्होने मुनि अवस्था, युवाचार्य व आचार्य-काल मे साधको की मुक्तभाव से प्रशस्ति की। सतगुणमाला के अध्ययन से यह धारणा अनायास वन जाती है। उन्होने कुछ साधु-साध्वियों की सहायक के रूप में स्मृति की और उन्हे विशेष महत्त्व दिया।[3]

---

१ (क) कीर्त्तिगाथा [स्तुतिगीत, ३६।१-४]

हाजरी में स्वामीनाथ हमेसा, हू याद करू जी छिनक छिन मे।
स्वामी म्हारा सोभ रह्या मुनि जन मे, दीपक चद 'उडुगण' मे।
स्वामी म्हारा सोभ रह्या शासण मे ॥
स्वाम तणो समरण सुखदायक, जाणक बैठो नदन वन मे ॥
ध्यान तुम्हारो निश दिन ध्याऊ, आप वसोजी म्हारा मन मे ॥
तेज प्रताप सु अधिक आपरो, इद्र 'फणेंद्र' नरेन्द्र नमे ॥

(ख) वही, [स्तुतिगीत, १२।६]

हू तो नित्य प्रति भजन करू सदा रे, सुख सपति मिलियै सार रे।
दुख दारिद्र दूरा टलै रे, काइ जपता जय जय कार रे॥

२ वही, [स्तुतिगीत, ढा० ४१।दूहा-१]

विघ्न हरण मगल करण, स्वाम भिक्षु नो नाम।
गुण ओलख समरण किया, सरै अचित्या काम ॥

३. सहायक और विशिष्ट शक्ति-सपन्न साधु-साध्वियो की प्रशस्ति इस प्रकार है—

१. मुनि अमीचदजी :

अमीचद तपसी तप दरियो, प्रत्यक्ष उद्योत कर्यो री ॥
[कीर्त्तिगाथा, स्तुतिगीत २।१०]
अमीचद तपसी गुण आगर, तप करनै तन तायो।
भाव उद्योत भरत मे कीधो, जिन मग कलश चढायो।
तपसी अमीचद सुखकारी ॥
चौविहार दश ताई कीधा, वलि तप विविध प्रकार।
मुद्रा सौम्य निश्चल चित समरण, सुख सपति दातार ॥
(वही, ६।५,६)

२. भीम ऋषि :

भीम ऋषि पाडव भीम सरीखो, धर्मोद्यम मे जुड्यो री।
(वही, २।११)

पाडव भीम जिमो ऋषि भीम थयो, गुण सागर ऋषि भारी ।
उपगारी उद्यमी मुनिवर नैं, याद करैं नर-नारी ॥
स्वामी भीम ऋषि सुखकारी ॥
प्रीत निभावण भीम सरीखा, जग मे थोडा जीवा ।
शुद्ध मन सेती समरण करता, खुलै ज्ञान घट दीवा ॥

(वही, ६।१०,११)

वृद्ध सहोदर जीत नो, जशधारी जयकारी हो ।
लघु सहोदर सरूप नो, भीम गुणा नो भण्डारी हो ।
सखर सुजश ससारी हो ॥

(कीर्त्तिगाथा, सतगुणमाला ८।७)

३. कोदरजी :

कोदर ऋषि करणी हद कीधी, छठम छठम अठम धार्‌यो ।
सथारो दिन सात तणो भल, आतम काज सुधार्‌यो रे ॥
तपसी कोदर ऋषि सुखकारी ॥
विचारणा ऊडी वडभागी, वचनसूर वेरागी ।
याद आया तन-मन हुलसावै, तपसी त्रिया त्यागी ॥

(वही, २।७,८)

. मुनि खेतसीजी :

मुनि सुखदाई मिल्या सत-सत्या भणी रे, थे तो खेतसीजी गुणखान रे ।
श्रमण प्रतिपालक सत-सत्यां भणी रे, स्वामी प्रत्यक्ष जनक समान रे ॥
विविध विनय सतयुगी तणैं रे, तन-मन करैं साधा री सेव रे ।
चित्त प्रसन्न कियो सतगुरु तणो रे, अलगो करि नैं अहमेव रे ॥

(वही, १२।४,५)

५. मुनि जशकरण :

'जशकरण' मुनि महा जशवतो, [illegible]वारू जश विस्तार्‌यो री ॥

(वही, २।६)

जशकरण मुनि महा जशवतो, सुमति गुप्ति सुखकारी ।
आचार्य पद आप आराध्यो, भजन करो नर-नारी ॥

(वही, ४।५)

६. मुनि रामसुख :

रामसुख रलियामणो, तेसठ उदक आगारी हो ।
अडसठ पैंतालीस भला, वलि उगणीश चौविहारी हो ।
वड तपसी तपधारी हो ॥

(वही, सतगुणमाला ८।६)

७. मुनि शिव :

शिव सामी लावा तणो, तप गुणराशी उदारी हो।

आश्वासी निज आतमा, षट मासी लग धारी हो।
शातकाल मझारी हो, सह्यो शीत अपारी हो ॥
(कीर्तिगाथा, सतगुणमाला ८।११)

८. मुनि दीप और मुनि जश

दीप गणी दीपक जिसा, जय जशकरण उदारी हो।
धर्म प्रभावक महा धुनी, ज्ञान गुणा रा भडारी हो।
नित प्रणमै नर-नारी हो ॥
(वही, सतगुणमाला ८।२)

९. मुनि शंभु :

सैहर पादू रो शभू सत बहु जाण के, सुर प्रत्यक्ष निजरा देखतो जी।
वर्स निनाणूवे परभव कियो पयाण के, वल्लभ तीर्थ च्यार नै जी ॥
(वही, सतगुणमाला ४।४६)

१०. साध्वी सिणगारांजी

सिणगाराजी मोटी सती, हरखूजी सुखकारी हो।
माता तास सुहामणी, अणमण चरण उदारी हो।
आराध्यो हितकारी हो ॥
हिम्मतवान सती हुती, व्यावच करण विचारी हो।
विघ्न हरण वच्छल करी, दिल सपति दातारी हो।
जय जश हर्ष अपारी हो ॥
(वही, सतगुणमाला ८।२४,२५)

११. साध्वी श्री कल्लुजी

कल्लुजी री उत्तम करणी, प्रवर सुयश हद पायो।
तीन पुत्र ले आप तर्या, जिन मारग कलश चढायो ॥
मास खमण षट वार किया तप, धार्यो विविध प्रकार।
समरण करता सकट भाजै, पामै लाभ अपार ॥
(वही, स्तुतिगीत, ६।११,१२)

अन्य मुनि :

कोदर हीर करी हद करणी, सतयुगी गण अधिकारी।
पीथल युग साम राम जीवो मुनि, आदि थया शिष्य भारी ॥
(वही, ४।७)
टोकरजी हरनाथजी गु० काइ भिक्षु कीध प्रशस।
साम-राम कचन ऋषि, काइ सतयुगी गुणी अवतस ॥
(वही, १३।६)

मुणिद मोरा, तीजे पट ऋषिराय, खेतसीजी सुखकारी रे, स्वामी मोरा।
मुनि पिता रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, सम दम उदधि सुहाय, हेम हजारी भारी रे, स्वामी मोरा।
गुण रता रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, जय जश करण जिहाज, दीप गणी दीपक सा रे, स्वामी मोरा।
महामुनी रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, गणपति मे सिरताज, विदेह क्षेत्र परगटिया रे, स्वामी मोरा।
महाधुनी रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, अमियचद अणगार, महा तपसी वैरागी रे, स्वामी मोरा।
गुण निलो रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, जीत सहोदर सार, भीम जवर जयकारी रे, स्वामी मोरा।
अति भलो रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, कोदर तपसी करूर, रामसुख ऋषि रूडो रे, स्वामी मोरा।
राजतो रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, शिवदायक शिव सूर, सतीदास सुखकारी रे, स्वामी मोरा।
गाजतो रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, उभय पीथल वर्द्धमान, साम राम युग बधव रे, स्वामी मोरा।
नेम सू रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, हीर वखत गुणखान, थिरपाल फतैचद जपियै रे, स्वामी मोरा।
पेम सू रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, टोकर ने हरनाथ, अखैराम सुखरामज रे, स्वामी मोरा।
ईश्वरू रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, राम सभू शिव साथ, जवान मोती साचा रे, स्वामी मोरा।
दमीश्वरू रे मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, इत्यादिक बहु सत, वलि समणी सुखकारी रे, स्वामी मोरा।
दीपती रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा कल्लू महा गुणवत, तीन बधव नी माता रे, स्वामी मोरा।
जीपती रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, गगा नै सिणगार, जेता दोलां जाणी रे, स्वामी मोरा।
महासती रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, जोता महा जश धार, चपा आदि सयाणी रे, स्वामी मोरा।
सोभती रे, मोरा स्वाम ॥
(कीत्तिगाथा, २४।४-११)

भीम अमीचद मुनि भला, कोदर शिव वृद्धिकारी हो।
रामसुख रलियामणो, समण पच सिरदारी हो।
जाप परम जशधारी हो ॥
(वही, सतगुणमाला, ८।१७)

जयाचार्य हृदय-परिवर्तन मे वहुत विश्वास करते थे। उन्हे यह सिद्धांत विरासत मे मिला था। आचार्य भिक्षु इसके मूल स्रोत थे। विचार और उपदेश—ये दोनों हृदय-परिवर्तन का आधारभूत तत्त्व है। यह करना चाहिए और यह नही करना चाहिए, यह उपदेश है, पर वह इतना ही नही है। उसका (उपदेश का) मूल तत्त्व है विचार-दर्शन। विचार हृदय का स्पर्श करता है और उससे हृदय अपने आप वदल जाता है। वह जितना वेधक होता है उतना ही वह हृदय को वदलने मे सक्षम होता है। जयाचार्य के विचार अनुभव की उर्वरा मे अंकुरित हुए थे, इसलिए उनमे मादकता की अपेक्षा हृदय-स्पर्श की क्षमता अधिक है। उनकी दृष्टि में हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है—हृदय मे विवेक-दीप का जलना। इसके जले विना पदार्थ की प्यास वुझ नही पाती।[1] विवेक जागने पर मनुष्य 'करणी' [सत्य साधना का पुरुषार्थ] करता है। उससे पीड़ा शात होती है।[2] मन की वीमारी मनुष्य को सवसे ज्यादा सताती है। उसकी औषध प्रस्तुत है वहुत सीधे-सादे शब्दो मे। कवि ने लिखा है—आत्मन्! तुझे प्रिय वस्तुए प्राप्त है। यदि उन पर तेरे मन मे राग की तरंग न उठे तो तू सरदार है।[3] यदि तू स्तुति सुनकर फूलता नही है और निंदा सुनकर विचलित नही होता है तो तेरी वलिहारी है।[4] सुदर रूप देखकर तू राग और भद्दा रूप देखकर

---

१ वही, [अध्यात्म पदावली ३।८] पृष्ठ १०८

विवेक-दीपक घट जेहनैं, जग रह्यो हो निर्मल ज्ञान-प्रकाश कै।
ससार-स्वरूप विलोकता, किम राखै हो पुद्गल सुख-प्यास कै॥

२ वही, [अध्यात्म पदावली—करणी पार उतरणी ८।२] पृ. ११५

करणी थी मिटियैं पीडा, तिण री उभय भवे रहे व्रीडा जी।
करणी थी दुर्गति टलियैं, करणी थी वछित मिलियैं जी॥

३ वही, [ध्यान प्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, २०] पृ १०१

शब्द रूप रस गन्ध फर्श, मन गमता मिलिया भारी।
राग भाव नी लहर मिटावै तो थारी सिरदारी॥

४. वही, [ध्यान प्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, २२] पृ १०१

स्तवना शब्द विविध साभल नैं, समरस हिया मझारी।
निंदा शब्द सुणी नही डोलै, तो थारी वलिहारी॥

द्वेष नही करता है तो तू जगत् का स्वामी है।[1] अपने आपको दूसरे के अधीन नहीं करता, पुद्गल-पदार्थ से प्रेम नही करता, मोह को शांत करने की कला को जानता है, तो तू चतुराई को उपलब्ध है।[2]

सतत जागरूकता (या भावक्रिया) का रहस्यमय सूत्र प्रस्तुत है—सोते, उठते, बैठते, बोलते और कार्य करते समय तू निरंतर हृदय में रा।ग। की स्मृति रख, प्रतिक्षण इसका अभ्यास कर।[3] अभ्यास के प्रभाव से नट रस्सी पर नाट्य करता है। तू नित्य पूरी एकाग्रता के साथ समता का अभ्यास कर, मन अपने आप वश हो जाएगा।[4] तू प्रतिक्षण समता के प्रति सावधान रह। सावधान के प्रति शत्रु का वश नही चलता।[5] तू अपने आप को शूरवीर सरदार मानता है, पर मै तुझे वैसा तव मानू जव तू अपनी आदतों को वदले और मन को जीत ले।[6]

इस मानसिक दु.ख की औपध में साधना का गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। 'प्रतिक्षण जागरूकता का अभ्यास' सुनने मे छोटी सी वात लगती है, पर इसका सही अर्थ वे ही समझ पाते है, जो इसका अभ्यास कर चुके है।

जयाचार्य प्रवचन के प्रति वहुत आस्थावान् थे। वे प्रवचन के मंथन-कार है। उन्हे प्रवचन से नवनीत मिला है। वे आश्चर्य की भापा में लिखते

१ आराधना [ध्यानप्रकरण—मानसिक दु ख की चिकित्सा, २३] पृ. १०१

सुन्दर रूप अलकृत पेखी, रीझै नहिं लिगारी।
अशुभ रूप देखी नहि खीझै, तो तू जग अधिकारी॥

२. वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दु.ख की चिकित्सा, २४] पृ १०१

निज आपो परवश नहिं हाबै, न करै पुद्गल प्यारी।
मोह दवावण कला केलवै, तो चतुराई थारी॥

३ वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दु.ख की चिकित्सा, २८] पृ. १०२

सोवत उठत वेसत वहु विध कार्य करण हुसियारी।
मम परिणाम हिये समर क्षण क्षण अभ्यास वधारी॥

४. वही, [ध्यानप्रकरण – मानसिक दु ख की चिकित्सा, २७] पृ. १०२

निज अभ्यास प्रभाव वेस पर नाचै नट इकतारी।
नित्य प्रति मन वश करण समपणो, ए अभ्यास दिल वधारी॥

५. वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दु ख की चिकित्सा, २६] पृ. १०२

क्षण-क्षण सावधान हो समपणे, कर मोह उपशम भारी।
सावधान ऊपर दुसमण नों, जोर न लगे लिगारी॥

६ वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दु ख की चिकित्सा, ३०] पृ. १०२

तू साहसीक गिणे आपण ने, शूर वीर सिरदारी।
तो समभाव करी वश कर मन, जद जाणू हुसियारी॥

हैं—प्रवचनरूपी रेचक औषधि का सेवन करने पर भी जिसका मानसिक ताप नही मिटा तो समझना चाहिए कि उसका रोग असाध्य है, पूर्वजन्म में कोई निकाचित (अवश्य वेदनीय) कर्म किया हुआ है।[1]

उपदेश पद की रचनाओ में रूपक और उपमाओ का प्रयोग भी यत्र-त्र मिलता है—

सुमतिरूपी देवरानी अपनी कुमतिरूपी जेठानी से अलग होने का मनुष्य समर्थन करती है। चेतनरूपी पति के लिए वह शुक्लध्यान का चरखा कातती है। अपने चेतनरूपी पति की पगड़ी के लिए सूत कातती है।[2]

इस जगत् में अनेक क्रीडा-स्थलियां है, नाना प्रकार के खेल और अनेक खिलाड़ी। मोह की क्रीड़ास्थली सबसे बड़ी है। सबसे बड़ा है उसका खेल और जादूगर है उसका खिलाड़ी। कवि ने उसका सजीव चित्रण किया है।[3]

जयाचार्य आज्ञा-प्रधान पुरुष है। वे अनुशासन को बहुत मूल्य देते है। उनके काव्य में भी अनुशासन का स्वर मुखर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका केंद्रीय प्रतिपाद्य है आज्ञा और अनुशासन। वे अन्य विषयों की चर्चा परिधि के रूप में करते हैं। घूम-घाम कर फिर केंद्रीय विषय पर लौट आते हैं। धर्म को परखने की प्रेरणा देते है। उनकी प्रेरणा का स्वर है—आज्ञा। बडी सरस पदावली और उपमाओ के साथ उस विषय का काव्य में

---

१. आराधना [अध्यात्म पदावली ३।१२] पृ. १०६

प्रवचन-रेचन-औषध लिया, नाहि मिटियो हो जेहनो सताप कै।
रोग असाध्य छै तेहनें, पूरव सचित हो जे निकाचित पाप कै॥

२. उपदेश की चौपाई १।२ :

असुध निज गुण वड बधवघर, त्रिया कुमति अनाद जेठाणी।
सुध निज गुण लघु वधव धर, सुमति त्रिया देराणी॥
जेठाणीजी सू न्यारा रहिस्या रा॥
म्हानै म्हारा सत सत्या री छै सीख, जेठाणी स्यू न्यारा होस्या राज॥
चरखो ध्यान शुक्ल, वर ध्यास्या, काता सूत हजारी।
चेतन पिउ रे पाग चरण तप, शील सुरगी मुझ साडी॥

३. वही, १।३

केइक गावै केइक रोवे, कोयक ख्याल करिंदा।
केइक नाचै केइक राचै, केइक रति विलसदा।
केइक शब्दादिक मे खूता, पुद्गल सुख नी प्यासा।
जय गणपति कहै मोह कर्म ना जग मे जबर तमासा॥
केइक क्रोध वसै अति ज्वलता, केइक मान मच्छिदा।
केइक माया-कपट केलवै, केइक जन लोभिंदा।
केइक राग स्नेह परवस करि केइक द्वेष धमासा।
जय गणपति कहै मोह कर्म ना जग मे जबर तमाशा॥

गुंफन किया है। नमक विना की रसोई, वाणी रहित सरस्वती, दही रहित ओदन, घी रहित भोजन, चीनी रहित मोदक, आधार रहित गंगोदक, मद रहित ऐरावत हस्ती, वेद रहित ब्राह्मण, परिवार रहित राजा, शस्त्र रहित सेना, फूल रहित वृक्ष, तपस्या रहित भिक्ष, वेग रहित घोड़ा, प्रेम रहित संगम, वस्त्र रहित शृंगार, स्वर्ण रहित अलंकार—ये जैसे शोभित नही होते, वैसे ही आज्ञा के विना धर्म शोभित नहीं होता।[1]

उपदेश दिशा दिखलाने वाला होता है। शब्दों मे शक्ति और पीछे भक्ति का योग होता है तव जनमानस अनायास आंदोलित हो उठता है।

संस्मरण (भिक्षु दृष्टान्त)

भिक्षु दृष्टांत जयाचार्य की एक अमर कृति है। यह संस्मरणात्मक साहित्य है। विश्व साहित्य में एक शताब्दी पूर्व लिखा हुआ संस्मरण साहित्य वहुत कम मिलता है। मुनि हेमराजजी ने जयाचार्य को अनेक दिशाओ में गति करने के सूत्र दिए थे। उनमें इतिहास भी एक है। हमारे संघ का इतिहास वहुत समृद्ध है। उसकी समृद्धि पर हमें गर्व हो सकता है। मुनि हेमराजजी और जयाचार्य पर भी हमें गर्व है। उनके प्रयत्न और दूरदृष्टि से ही इतिहास की समृद्धि हमें उपलव्ध है।

प्रस्तुत कृति में तीन सौ वारह संस्मरण संकलित हैं। सं० १९०३ नाथद्वारा चातुर्मास में मुनि हेमराजजी ने ये संस्मरण लिखाए, जयाचार्य ने

---

१. आराधना [अध्यात्म पदावली ५।१-१०] पृ. १११

आण बिना नहिं अंश धर्म नों, सुगणजन ! सूत्र सिद्धंत सगीत ॥
लवण रहित जिम विरस रसवती मु० सरस्वती वचन-रहीत ॥
दधि रहित जिम ओदन कहियें सु भोजन घीरत-रहीत ॥
खांड रहित जिम मोदक जाणें सु० गगोदक आधार-रहीत ॥
मद रहित ऐरावण हस्ती सु० ब्राह्मण वेद-रहीत ॥
परिवार-रहित जिम नायक नरपति सु० पायक शस्त्र-रहीत ॥
फल-रहित जिम वृक्ष न शोभै सु० भिक्षु तपस्या-रहीत ॥
वेग-रहित नहिं शोभै तुरगम, सु० संगम प्रेम-रहीत ॥
वस्त्र-रहित शृंगार न शोभै, मु० अलंकार स्वर्ण-रहीत ॥
तिम जिन-आज्ञा विन धर्म न दीपै सु० निगम बतावै नीत ॥

उन्हें एक ग्रन्थ का रूप दिया।[1] सीधी-सरल भाषा, सूत्रात्मक शैली, थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति, व्यंग व्यंजना और प्रसाद गुण से परिपूर्ण ये स्मरण पाठक को मंत्रमुग्ध बना देते हैं। निदर्शन के लिए प्रस्तुत है कुछ :—

नाम क्या है ?

सम। जी पुर और भीलवाड़ा के बीच मे थे। वहां ढूढाड़ से आया हु क आदमी मिला। उसने पूछा—आपका नाम क्या है ?

स्वामीजी बोले—मेरा नाम भीखण है।

तब वह बोला—भीखनजी की महिमा तो बहुत सुनी है। फिर आप अकेले ही वृक्ष के नीचे कैसे बैठे है ? हमनें तो जान रखा था कि आपके साथ बहुत आडंबर होगा—घोड़े, हाथी, रथ, पालकी आदि बहुत ठाटबाट होगा।

तब स्वामीजी बोले—हम ऐसा आडंबर नही रखते, तभी हमारी महिमा है। साधु का मार्ग यही है।

यह सुन वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।[2]

तम्बाकू अच्छी तो है नही

स्वामीजी गृहस्थावस्था मे थे तब निमंत्रण देने के लिए राजपूत के साथ किसी दूसरे गांव जा रहे थे।

राजपूत बोला— भीखनजी। तम्बाकू के बिना अब मैं आगे नही चल सकता।

---

१. भिक्खु दृष्टात, प्रशस्ति दोह। १-४

सवत् उगणीसे तीए, कातिक मास मझार।
सुदि पख तेरस तिथ भली, सूर्यवार श्रीकार॥
हेम जीत ऋष आदि दे द्वादश सत विपत।
श्रीजीद्वारा सहर मे, कियो चोमासो घर खत॥
हेम लिखाया हर्ष सू लिख्या जीत घर खत।
सरस रसे करी सोभता, भीक्खु ना दृष्टत॥
उत्पतिया बुद्धि आगला, भिक्षु गुण भडार।
हितकारी दृष्टत तसु, साभलता सुखकार॥

२ भिक्खु दृष्टात—स. १३६।

स्वामीजी वोले—ठाकर साहव ! आगे चलें, सूर्य अस्त होने वाला है।

राजपूत वोला—तंवाकू के विना अव तो नही चला जा सकता।

स्वामी जी ने कुछ पीछे रह, जंगली कंडे को महीन पीस उसकी पुडिया वना ली और कहा—ठाकर साहव ! अच्छी तंवाकू तो है नही, वैसी है।

राजपूत ने एक चुटकी भर कर उसे सूघा और कहा—ठीक[illegible] काम चल जाएगा।

स्वामीजी ने वह पुड़िया राजपूत को सौंप दी। इस चातुर्य से वे कुशलक्षेम के साथ अपने स्थान पर पहुंच गए।[1]

प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध

सं० १९३३ की घटना है। अजीमगंज (मुर्शिदावाद) के मूर्तिपूजक श्रावकों ने जयाचार्य के पास एक प्रश्नावली भेजी। वह वावन दोहों मे निवद्ध थी। दोहों का निर्माण यति विनयचंद के शिष्य गोपीचंद ने किया था।[2] प्रश्नावली के प्रस्तोता थे कालूरामजी[3]। उसमें जयाचार्य के प्रति अत्यंत विनम्रता और प्रशंसा का भाव प्रगट होता है।[4] मतभेद और मनभेद एक

---

१. भिक्खु दृष्टात—स. १२२।

२. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध [परिशिष्ट—कलश]

> इम करी रचना अति ही सुन्दर, वाचता मन उल्लसै।
> देवाधिदेव तिलोय स्वामी, अन्तरजामी मन वसै।
> सवत उगणीस माल तेतीस मास आश्विन सुद पखै।
> मुनि विनयचन्द पसाय करी नै, गोपीचद इम उपदिशै॥

३. वही, [परिशिष्ट—दोहा ५२]

> मुनिवर ना गुण गावता, होता चित आराम।
> मन तन कपट तजी करी, वन्दत कालूराम॥

४. वही, [परिशिष्ट—दोहा, ९-१३]

> सत्तावीस गुणे करी, पालो निज आचार।
> पच महाव्रत पालता, एहवा तुम अणगार॥
> निर्जित मन उन्माद पणो, वर्जित विषय विकार।
> तर्जित कर्मादिक अशुभ, गर्जित नाण उदार॥
> शहर लाडनूं अति भलो, विचरो तिहा धर नेह।
> अप्रतिवन्ध विहार करि, वैठा मम्वर गेह॥
> तुम गुण-गण-मकरन्द से, भविजन भ्रमर लोभाय।
> देश विदेशे मानवी, कर जोडी गुण गाय॥
> मैं पिण गुण श्रवणे सुणी, भेटण की मन चाय।
> ते दिन सफल गीणिस हू, वन्दी तुमरा पाय॥

नही है, इसका वह एक स्वस्थ निदर्शन है। व्यक्ति की विशेपता वतलाकर फिर उसका ध्यान चिंतनीय विपय पर केंद्रित किया जाए, यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है। इस दिशा मे उसे एक प्रयोग कहा जा सकता है।

वह प्रश्नावली जयाचार्य के पास पहुची। आचार्यवर ने वह पढ़ी। [illegible]लकार ने उत्तर देने का आग्रह किया था।[1] इसलिए आचार्यवर ने पद्या-[illegible]र [illegible]श्नो का पद्यात्मक उत्तर देने का निश्चय किया। प्रश्नकर्त्ता का काम [illegible]रल होता है। उत्तरदाता का काम होता है जटिल। आचार्यवर ने [illegible]श्नावली के उत्तर मे लगभग डेढ़ हजार दोहों का 'प्रश्नोत्तर तत्त्ववोध' नामक एक ग्रन्थ रच डाला। उसमें आचार्यवर ने अनेक विपयो की तार्किक और शास्त्रीय पद्धति से चर्चा की है, स्याद्वाद की भाषा का सम्यक् उपयोग किया है। अनाग्रह का भाव पद-पद पर दृष्ट होता है।

जैन शासन मे अनेक सप्रदाय है। कुछ संप्रदायो के साधु मुख पर वस्त्रिका वांधते है। जयाचार्य के सम्मुख यह चिंतन रखा गया—मुनि को मुख पर वस्त्रिका वाधनी नही चाहिए। उसे वाधने का कही भी विधान नही है। आचार्यवर ने इस चिंतन की समीक्षा की, अपने तर्क प्रस्तुत किए। किसी भी विषय के समर्थन और निरसन में वे तर्क और आगम-प्रामाण्य—दोनों का प्रयोग करते थे। इस विषय में भी वैसा ही किया। इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण वात उन्होंने कही—जो वहुत जागरूक है, वह मुनि मुखवस्त्रिका मुह पर नही वांधता, अपने हाथ मे ही रखता है तो मुझे उसमे कोई आपत्ति नही है। मेरा यह आग्रह नही है कि मुखवस्त्रिका को मुह पर वाधा ही जाए।[2]

१. प्रश्नोत्तर तत्त्ववोध [परिशिष्ट—दोहा ४३—४७]

लिख्या अजिमगंज शहर सू, पत्र अधिक उछरङ्ग।
खमतखामणा मानज्यो, करि तीन करण इक सग॥
मुनि गुण अति मुज अल्प धी, कैसे लिखू वणाय।
जैसे जल सब उदधि को, घट विच नही समाय॥
कुशल खेम वरतै तिहा, धर्म यकी जयकार।
इह्या पिण सुगुरु पसाय थी, आणन्द हरप अपार॥
भक्ति पत्र भावे लिख्यो, धरज्यो चित अधिकाय।
अधिको ओछो जो हुवै, ते खमज्यो मुनिराय॥
लिखज्यो उत्तर एहनो, मत धरज्यो मन रीस॥
मुज मति सारू मैं लिख्यो, धरज्यो मन सुजगीश॥

२. वही, [मुखवस्त्रिकाधिकार १६, दो. १६]

कर राखै मुख वस्त्रिका, जसु तीखो उपयोग।
ते पिण नहिं अटकाव तसु, नहिं मुझ खंच प्रयोग॥

जयाचार्य ने उत्तराध्ययन, आचारांग आदि अनेक आगम-सूत्रों के पद्यानुवाद किए। भगवती सूत्र का पद्यानुवाद सबसे बड़ा है। वह अनुवा[illegible] और भाष्य दोनों है। यह ग्रंथ उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रति[illegible] ज्वलंत प्रमाण है।

भगवती की जोड़ के अंत में उन्होंने प्रशस्ति के दोहे लिखे [illegible]ता का अपना आत्म-निवेदन प्रस्तुत किया है। वह सत्य-शोधक की विन[illegible] साधना का घोषणा-पत्र है। उन्होने लिखा है—

मैंने भगवती सूत्र व उसकी वृत्ति को देखकर उसकी व्याख्या लिखी है। दूसरे आगमों का सहारा भी लिया है। कुछ अर्थ मैंने अपनी बुद्धि से किए हैं। मैंने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि कोई भी अर्थ सिद्धांत से विरुद्ध न हो। मैने कहीं-कही संक्षिप्त अर्थ का विस्तार किया है और कही पर विस्तृत अर्थ का संक्षेप किया है। कही-कही वैराग्य वृद्धि के लिए उपदेश की शैली का तो कही पर व्याख्यान की रसात्मक शैली का प्रयोग किया है। कही-कही तुक मिलाने के लिए नए शब्द का प्रयोग किया है तो कहीं पर अनुमान से भी काम लिया है। कहीं-कही बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग भी किया है। यंत्र और मंत्र भी अपनी बुद्धि से तैयार किए हैं। गमा आदि प्रकरणों में जो सूक्ष्म चर्चा है, उसे समझाने के लिए अनेक सूत्रों के संदर्भ प्रस्तुत किए गए है। इस कृति में मैंने अपनी ओर से सिद्धांत से अविरुद्ध निरूपण किया है, फिर भी कोई सिद्धांत-विरुद्ध बात आ गई हो तो ज्ञानी का वचन मुझे प्रमाण है। कोई प्रबल पंडित हो, उसे आगमों के आधार पर इस रचना में कोई सिद्धांत-विरुद्ध तत्त्व लगे तो वह उसे निकाल दे।

उपयोग (चित्त की सक्रियता) के अभाव में अथवा अज्ञानवश कोई विरुद्ध वचन लिखा गया हो, उसके लिए मेरा कोई आग्रह नही है। कोई सिद्धांत-विरुद्ध बात लिखी हो, संदिग्ध और शंकित तत्त्व का प्रतिपादन किया हो तो उसके लिए मै 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' का प्रयोग कर अपने आप

को निर्भार अनुभव कर रहा हूं।[1]

उपदेशरत्नकथाकोश

यह एक विशाल ग्रंथ है। इसमें औपदेशिक श्लोक, दोहे, कवित्त, [illegible] आदि अनेक विधाओं के पद्य संकलित है। लोक-कथाओं, पौराणिक [illegible]ओं और ऐतिहासिक कथाओं का इसमे महत्त्वपूर्ण संग्रह है। आचार्यवर [illegible] लिखने की शैली संक्षिप्त है। वे थोड़े में वहुत कह जाते है। [illegible]तयों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए एक कथा प्रस्तुत है—

एक साहूकार का बेटा घूरे (उकरडे) पर लोट रहा था। लोगो ने देखा। उन्होंने सेठ के पास उसकी शिकायत की। सेठ ने कहा—क्या मेरा बेटा घूरे पर लोट रहा था ?

जी हा, लोगों ने कहा।

सेठ का पुत्र घर पर आया। सेठ ने पूछा—घूरे पर क्यो लौट रहा था ?

यह रत्न लाया हूं, इसी के लिए वहा लोट रहा था। मैंने चलते-चलते घूरे पर इसे देखा। सामने दूसरे लोग बैठे थे। मैने सोचा, नीचे झुक कर रत्न उठाऊंगा तो दूसरों को पता लग जाएगा। वे आधा हिस्सा बंटा लेंगे। मैंने वहा लोटना शुरू किया। लोटते-लोटते रत्न उठा लिया। किसी को पता ही नही चला। सेठ उसकी बुद्धि पर वड़ा प्रसन्न हुआ।

कहावत वन गई—सेठ का बेटा घूरे पर लोटता है तो किसी मतलव

---

१. भगवती जोड—प्रशस्ति दोहा ८-१३

इत्यादिक इण जोड़ मे, दाख्यो मिलतो जाण।
अणमिलतो जु आयो हुवै, ज्ञानी वदै ते प्रमाण ॥
वलि कोइक पडित प्रबल हुवै आगम देख उदार।
जे विरुद्ध वचन हुवै सूत्र थी, ते काढे दीजो धार ॥
विण उपयोगे विरुद्ध वचन, जे आयो हुवै अजाण।
अहो त्रिलोकीनाथ जी, तसु म्हारै नही ताण ॥
म्हैं तो म्हारी वुद्धि थकी, आख्यो छै सुद्ध जाण।
श्रद्धा न्याय सिद्धान्त ना, दाख्या शुद्ध पिछाण ॥
पिण छद्मस्थ पणा थकी, कहियै वारबार।
प्रभु सिकारै अर्थ प्रति, तेहिज छै ततसार ॥
अणमिलतो जु आयो हुवै, मिश्र आयो हुवै कोय।
सका सहित आयो हुवै, तो मिच्छामी दुक्कड मोय ॥

से ही लोटता है ।[1]

अनुवाद और भाष्य

जयाचार्य की साहित्य-साधना विशाल है। उन्होंने अनेक दिशाओं का स्पर्श किया। उपदेश और शिक्षा के पद लिखे, वहां गंभीर तत्त्व-[illegible] को भी पद्यों में गुंफित किया। स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण किया, वहां अ[illegible] भी किया। गद्य और पद्य दोनों में उनकी लेखनी समान रूप से चल[illegible] उनमें अनुवाद की विलक्षण क्षमता थी। वे नपे-तुले शब्दों में मूल का [illegible] चित्र उतार लेते। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक और उनका अनुवाद प्रस्तुत है—

उवलेवो होइ भोगेसु,	अघ उपलेप लगै भोगी रे,
अभोगी नोवलिप्पइ।	अभोगी तो नाहि लिपायो।
भोगी भमइ संसारे,	भोगी संसार मे भ्रमण करै छै,
अभोगी विप्पमुच्चइ ॥[2]	भोग तज्यां थी मुकायो ॥

निद्दं च न वहुमन्नेज्जा,	निद्रा भणी वहु मान न देवै,
संपहासं विवज्जए।	हास्य विषै नही माता रे।
मिहो कहाहिं न रमे,	रमै नही मांहोमांही कथा कर मुनि,
सज्झायम्मि रओ सया ॥[3]	रहै सझाय में राता रे ॥

अद्धाणं जो मंहतं तु,	मोटी तो अटवी हो लीधी मानवी,
सपाहेओ पवज्जई।	पिण वहु संवल सहीत।
गच्छंतो सो सुही होई,	जातो थको तो तेह सुखी हुवै,
छुहातण्हाविवज्जिओ।[4]	भूख तपादि रहीत ॥

---

१. उपदेशरत्नकथाकोश—भाग-१ पृ. ३५२

२. उत्तरज्झयणाणि २५।३९।

३. दसवेआलिय : ८।४१।

४. उत्तरज्झयणाणि : १९।२०।

गच्च कुसुमिय-माइय-लवइय-
वइय ।

फूल्या थका ते रहै सदा,
मयुरचा ते पुष्प उपन्न ।
अंकुरवत् पल्लव ऊपना,
थवइ पुष्प डोडा जन्न ॥
गुल्म लता समूह ऊपनों,
गुच्छा ते पत्र समूह ।
वृक्ष नी सम श्रेणि तिहां,
वे वे तरू एकठा रूह ॥[1]
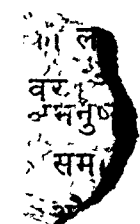
गीता

जयाचार्य ने संस्कृत व्याकरण के दोहे बनाए। भरतबाहुबली महाकाव्य और नयचक्र का पद्यानुवाद किया। गीता के कुछ श्लोको का पद्यानुवाद मिलता है। यदि पूरी गीता का पद्यानुवाद मिलता तो वह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बन जाता। अनुवाद-कौशल का साक्षात्कार इन सात श्लोको के पद्यानुवाद से हो जाता है—

१. ज्ञान श्रेय अभ्यास थी,
ध्यान ज्ञान थी शिष्ट ।
ध्यान थकी तज कर्म फल,
तेहथी शांति विशिष्ट ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः,
त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।

२. सर्वभूत पर द्वेष तजी,
सर्व मित्र सम जान ।
ममत भाव अहंकार तज,
सुख-दुख भाव समान ॥

अद्वेष्टा सर्वभूताना,
मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः,
समदुःखसुखः क्षमी ।

१. भगवती की जोड़, ६।४४,४५ ।

३. पर नें दुखदायी नही,
पर थी आप न दुख।
तजै हर्ष उद्वेग भय,
ते मुझ भक्त प्रत्यक्ख ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको,
लोभान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगै-
र्मुक्तो यः स च प्रियः

४. निर्वांछा शुचि दक्ष मन,
उदासीन नही धंघ।
आरंभ त्यागी सर्वथा,
ते मुझ भक्त सुनंद ॥

अनपेक्षः
उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी,
यो मद्भक्त· स मे प्रियः।

५. सुख दुःख हरख न सोग ए,
चिंता कांक्षा नाहि।
पुण्य-पाप वेहुं तजै,
ते मुझ भक्त ओछाहि ॥

यो न हृष्यति नो द्वेष्टि,
न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी,
भक्तिमान् यः स मे प्रियः।

६. शत्रु-मित्री सम गिणै,
तिमज मान-अपमान।
शीत-उष्ण सम दुक्ख-सुख,
वर्जंत संग सुजान ॥

समः शत्रौ च मित्रे च,
तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु,
समः संगविवर्जितः।

७. निंदा-स्तुति में तुल्य मन,
मौन धार संतुष्ट।
घर त्यागी अरु स्थिर मति,
सो मैं भक्त पियष्ट ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी,
सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः,
भक्तिमान् मे प्रियो नरः।
[गीता१२।१२॥१९]

३८

उत्तराधिकारी का चयन

तेरापंथ एक आचार्य के द्वारा अनुशासित धर्मसंघ है। इसकी सारी व्यवस्थाएं आचार्य-केंद्रित है। इसलिए वर्तमान आचार्य के उत्तराधिकारी के वारे में सबके मन में जिज्ञासा बनी रहती है। जयाचार्य से यह प्रश्न वार-वार पूछा जाता था—आप अपना उत्तराधिकारी किसे चुनेगे ? जयाचार्य का व्यक्तित्व रहस्यमय था। वे इस प्रश्न का उत्तर रहस्य की भाषा में देते। छोग, हरख और मघराज—इन तीनो में से किसी एक को उत्तराधिकारी वनाने का विचार है।[1] ये तीनों योग्यता की कसौटी पर कसे जा रहे थे। छोगजी इस कसौटी पर खरे नही उतरे। हरखचंदजी कसौटी पर खरे उतरे, पर नियति का पर्याप्त बल उन्हे नही मिला। मघवा कसौटी पर भी खरे उतरे और नियति का भी पर्याप्त बल उन्हे उपलब्ध हुआ। जयाचार्य ने उन्हे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया।

मघवा को जयाचार्य ने ही दीक्षित किया था। दीक्षा के वाद वे आचार्यवर की सन्निधि में ही रहे। वे लघुवय मे ही आचार्यवर के विश्वास-पात्र बन गए थे। सं० १९११ में मघवा चौदह वर्ष के थे। इस छोटी अवस्था मे जयाचार्य ने उन्हें 'सिरेपंच' वना दिया। पूरी घटना वहुत आकर्षक है।

---

१ अमरगाथा [हरख चौढालियो, ढा०३।दो. ५-७]

जन वहु पूछै जय भणी, सखरो युवपद साव।
किण मुनि नै देवा तणा, आप तणा छै भाव ॥ ५ ॥
तव जय गणपति उच्चरै, छोग हरष मघराज।
त्रिहु मे पद युव इक भणी, थापण रा छै भाव ॥ ६ ॥
इम अति कुवं वधावीयो, छोग हरष नु हीर।
वीसै युव पद मघ नृपति, थाप्यो जाण गभीर ॥ ७ ॥

जयाचार्य का जीवन एक जीवित प्रयोगशाला जैसा था। वे निरन्तर कुछ न कुछ प्रयोग करते रहते। उन्होंने आचार्य-पद का दायित्व संभालते ही पंच-व्यवस्था का प्रयोग शुरू किया। उसकी निश्चित तिथि का पता नहीं है और पंचों के पूरे नाम भी ज्ञात नही है। केवल दो पंचों के नाम मिलते है—मु[illegible] छोगजी और मुनि हरखचंदजी।

जयाचार्य मालवा की यात्रा कर रहे थे। मेवाड़ की ओ[illegible] समय खाचरोद पधारे। वहां मुनि कालू से कोई भूल हो गई। उसक[illegible] पंचों के पास पहुंचा। वे प्रायश्चित्त का निर्णय करने एकत्र हुए। [illegible] सुनाया जाने वाला था, उस समय मुनि कालू जयाचार्य के चरणों मे उपस्थित हुए। उन्होंने प्रार्थना के स्वर मे कहा—'गुरुदेव ! घटना-चक्र कुछ ऐसा ही घटित हुआ है। उसमें मुझे निष्पक्ष न्याय मिलने की आशा नही है। जयाचार्य ने उनसे घटना का स्पष्टीकरण मांगा। मुनि कालू ने सारी स्थिति स्पष्ट रख दी। जयाचार्य को उनकी बात पर विश्वास हो गया। उन्होंने मुनि कालू से पूछा—क्या तुझे मघवा पर विश्वास है ? क्या तू उसका निर्णय स्वीकार कर लेगा ? मुनि कालू ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया और बड़ी प्रसन्नता प्रगट की। जयाचार्य ने मघवा को बुलाकर उनकी सिरेपंच के पद पर नियुक्ति कर दी।[1]

सं० १९१२ की घटना है। जयाचार्य खैरवा में विराज रहे थे। उस समय उनकी आंखों मे कुछ गड़बड़ी हो गई। वे वैद्य से चिकित्सा करा रहे थे। उन्होंने मर्यादापत्र-वाचन का कार्य मघवा को सौप दिया।[2] इस दायित्व को सौपने का अर्थ होता है उत्तराधिकारी की पूर्वनियुक्ति। मघवा का जीवन उत्तरोत्तर होने वाली नियुक्तियों की एक शृंखला है। उसके साथ जुड़ी हुई है उनकी योग्यता की कहानी।

सं० १९१९ ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को मर्यादापत्र-वाचन के दिन चतुर्विध संघ के मध्य जयाचार्य ने कहा—'मघजी ! इधर आओ।' मघवा आचार्यवर के सामने आ गए। आचार्यवर ने कहा—'सर्व साधु दीक्षापर्याय के क्रम से खड़े हो कर 'लिखत' पढ़ते हैं, उससे तुम्हें मुक्त करता हूं।' मघवा ने आचार्यवर की आज्ञा को शिरोधार्य किया। सांझ के समय अनेक साधुओ की

१. ते. आ. ख. २ पृ. २१७ [मघवासुजश, ढा० ५।दोहा ६]
२. ते. आ. ख २ पृ. २१८ [मघवासुजश, ढा० ६।दोहा ४]

उपस्थिति में आचार्यवर ने कहा—'मघजी ! वंदना करो।' उन्होने वंदना की तव आचार्यवर ने कहा—

१. मर्यादापत्र-वाचन के समय लिखत पढ़ने की छूट।

२. वारी-वारी से समुच्चय के कार्य करने होते हैं, उसकी छूट।

३. समुच्चय के वोझ की छूट।

४. गोचरी (भिक्षा के लिए सवको जाना होता है) की छूट।

समुच्चय के इन कार्यों से मघवा को मुक्त किया, उससे सरूपचदजी स्वामी आदि साधुओं को वहुत प्रसन्नता हुई। मघवा ने समुच्चय के कार्य करते रहने का आग्रह किया। तव जयाचार्य ने कहा—'मघजी! किसी कार्य से तुम्हे मुक्त करता हूं वह चिंतनपूर्वक करता हूं। इसलिए उसे सहज स्वीकार कर लेना चाहिए। पूर्वस्थिति को बनाए रखने का आग्रह नही होना चाहिए।' सरूपचंदजी स्वामी और महासती सरदाराजी ने भी कहा—'आचार्यवर जो आदेश दे, वह स्वीकार कर लेना चाहिए।'[1]

सं० १९२० श्रावण कृष्णा एकम (गुरुवार) को प्रात.कालीन व्याख्यान तथा मर्यादापत्र-वाचन के समय जयाचार्य ने कहा—जो विनीत होता है वह विनीत की पदोन्नति देखकर प्रसन्न होता है और अविनीत ऐसे प्रसंग पर मुह विगाड लेता है। विनीत पर अनुग्रह हो, उसे कुछ विशेषता प्राप्त हो जाए तो होना यह चाहिए कि सब प्रमोद मनाए। छोगजी आदि साधुओं ने कहा—हमें प्रमोद होगा, आप कृपा करे। आचार्यवर ने कहा—मघजी! वंदना करो। मघवा ने वंदना की। आचार्यवर ने मघवा को पट्ट पर वैठने का निर्देश किया। चतुर्विध संघ के समक्ष उन्हे पट्ट पर बिठाया। भाइयों ने और वहनों ने उन्हे वदना की। सभी लोग वहुत खुश हुए। महासती सरदारांजी तथा साधु-साध्वियो में भी हर्ष की लहर दौड़ गई। आचार्यवर ने कहा—'सरूपचंदजी स्वामी के पास यह वात पहुंचेगी तो वे भी वहुत खुश होगे।' मघवा को यह अनुग्रह चूरू मे प्राप्त हुआ।[2]

जयाचार्य के पास कोई संस्कृत का विद्वान् आता तव वे कहते—मघजी से बात करो, वे हमारे संघ में पंडित है। एक घटना ने मघवा को पंडित वना दिया था। एक बार जयाचार्य जैतारण के लिए विहार

१ प्रकीर्णपत्र सख्या ३४७। यह घटना लिखी गई स. १९१९ ज्येष्ठ शुक्ला ५ द्वितीय, पुष्य नक्षत्र।

२ प्रकीर्ण पत्र सख्या, पत्र ३४।

कर रहे थे। कुछ साधु आगे-आगे चल रहे थे। वे गांव के बाहर पहुंच कर रुक गये। उस साधु ने उपस्थित साधुओं के सामने एक पहेली रखी और उसका अर्थ पूछा। वह पहेली इस प्रकार है—

आगै जैतारण लारै जै तारण, बिच में चालां आपां।
इण पैली रो अर्थ बतावै, तिण नै पंडित थांपा।[1]

इस पहेली का अर्थ मघवा ने बताया। उन्होंने कहा—ह[illegible] जैतारण गांव है और हमारे पीछे जनता के तारक जयाचार्य है। [illegible] दोनों के बीच में हैं। पहेली का संगत अर्थ करने पर मघवा पंडित के संबोधन से संबोधित होने लगे।

सं० १९२० का चातुर्मास चूरू मे हुआ। उस समय जयाचार्य की सन्निधि में सोलह साधु और छत्तीस साध्वियां थीं। चातुर्मास का प्रवास सानंद संपन्न हो रहा था। श्रावण और भाद्र दो मास बीत गए। आश्विन मास चल रहा था। आचार्यवर ने अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति का निर्णय किया। अभी उन्हें आचार्य पद पर आरूढ़ हुए बारह वर्ष हुए थे। मघवा की योग्यता ने उन्हें आश्वस्त किया, स्वाध्याय-ध्यान की प्रगाढ़ रुचि से उत्पन्न एकांत-प्रियता ने उन्हें बाध्य किया और उन्होंने उत्तराधिकारी की नियुक्ति की तिथि घोषित कर दी। आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का पुण्य दिन। कल्याण-कारी मुहूर्त्त और वेला। साधु-साध्वियों की उपस्थिति। सैकड़ों-सैकड़ों श्रावक-श्राविकाएं उपासना में निरत। उन सबके बीच विराज रहे थे उच्च आसन पर जयाचार्य। आचार्यवर ने मघवा को संबोधित कर कहा—खड़े हो जाओ। मघवा खड़े हो गए। दोनों हाथ जुड़े हुए। अपलक जयाचार्य की ओर निहारती हुई, वर्तमान में उज्ज्वल भविष्य को झांकती हुई दृष्टि। वे निश्चल मुद्रा में खडे रहे। जयाचार्य ने एक नई चादर ओढ़ी। उसे अपने शरीर से उतारा और प्रतीक्षा के लंबे क्षणों में सांस लेती हुई परिषद् के मध्य अपने दायित्वपूर्ण हाथों से उसे मघवा को ओढ़ा दिया। चारों ओर हर्ष-ध्वनि हुई। पूरी परिषद् हर्ष से झूम उठी।

आचार्य भिक्षु ने सं० १८३२ में भारमल जी को अपना उत्तराधि-कारी नियुक्त किया। उस समय उन्होंने एक लिखत लिखा था। वही लिखत

---

1 *राजस्थानी मे 'य' के स्थान पर 'ऐ' का प्रयोग भी होता है—जय-विजय वरो—जै विजै वरो। इस दृष्टि से जै तारण का 'जय तारण' रूप बन सकता है।*

उत्तराधिकारी की नियुक्ति के समय लिखा जाता है। उसमें मौलिक मर्यादाएं यथावत् रहती है, केवल नाम परिवर्तन हो जाता है। जयाचार्य ने भारमलजी स्थान पर मघवा का नाम लिखा। उसमे लिखा—

१. सब साधु-साध्विया मघराजजी की आज्ञा मे रहेगी।

सब साधु-साध्विया मघराजजी की आज्ञा से शेषकाल मे विहार [illegible]स करेंगी।

[illegible]दीक्षा मघराजजी के नाम से दी जाएगी। कोई भी साधु-साध्वी [illegible] शिष्य-शिष्याएं नही बनाएगी।

उस लिखत पर सब साधु-साध्वियों ने हस्ताक्षर किए। युवाचार्यपद के अभिषेक की विधि सम्पन्न हो गई।

युवाचार्य मघवा जयाचार्य के शासन-संचालन मे पूर्ण सहयोगी बन गए। जयाचार्य महान् अनुशास्ता थे। उनकी अन्तर्दृष्टि जागृत थी। वे गहरे में उतर कर वस्तु-सत्य को जान लेते थे। अतीत और भविष्य में जीने वाला यथार्थ को कम देख पाता है। वर्तमान मे जीने वाला अतीत और भविष्य को अधिक अनावृत करता है। जयाचार्य वर्तमान में जीने की साधना करते थे, इसीलिए उनकी भविष्य की पकड अद्भुत है। उन्होने मघवा को युवाचार्य पद दिया, साथ-साथ शासन-सचालन के महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए। वे सूत्र वृहदाकार गीतिका मे संकलित है। वह गीतिका युवाचार्य की नियुक्ति के अवसर पर ही रची गई थी। वह तेरापथ धर्मसंघ के शासन-सचालन का एक महान् नीतिग्रंथ है। तेरापथ का प्रत्येक आचार्य उससे मार्गदर्शन लेता है। उसके कुछेक नीति-सूत्र यहां प्रस्तुत है—

१. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो साध्वियो के एक वर्ग में पांच से अधिक साध्वियों को मत रखना।[1]

२. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो कोई साधु या साध्वी किसी को दीक्षित करे, उस नव-दीक्षित को किसी दूसरे साधु-साध्वी को सौप देना।[2]

---

१. तेरापथ सविधान [गणपति सिखावण, १।दो. १]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, समणी संपद हाथ।
तो नेठाउ पच ते, अधिक म सूपो आथ॥

२. वही, [गणपति सिखावण, १।दो. ३]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति जे कोइ दीक्षा देह।
सिख सिखणी लेणा उरा इण मे गुण अधिकेह॥

३. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो तीन मुनियों के वर्ग में जो अग्रणी हो, उससे प्रतिदिन पचीस गाथा लिखवाना । यदि कोई गाथा न लिख सके तो उसके बदले में ग्लान साधुओं की सेवा कराना या किसी अन्य कार्य में नियुक्त कर देना ।[1]

४. आचार्य के पास साध्वियां अधिक रहती हैं, उन्हें एक [illegible] मे न रखना । अनेक 'साहाय्य' कर देना । उनमें थोड़ी-थोड़ी स[illegible] से [illegible]ट रखना ।[2] [illegible] ता का [illegible]

५ गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण [illegible] र दर्शन किए बिना दूसरे क्षेत्रों में विचरने की आज्ञा मत देना । विशेष स्थिति की बात अलग है ।[3]

६. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो विशेष कारण के बिना साधु-साध्वियों को एक गांव में रहने की आज्ञा मत देना ।[4]

७. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो गुण-संपन्न साधु-साध्वियों को भी परिचय और संपर्क बढ़ाने का अवसर मत देना ।[5]

---

१ तेरापंथ मर्यादा [गणपति सिखावण, १।दो. ६-८]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, तिण मुनि जे अगवाण ।
गाहा पणवीस बहुल पणे, वलि द्रव्यादि पिछाण ।।
जिता दिवस अगवाण बण, विचरै जे सिंघाड ।
तेता दिवस गिलाण नी, व्यावच करणी सार ।।
तथा करावै कार्य अन्य, तसु पेटे विख्यात ।
वलि गुण जाणै तिम करै, (पिण) सपति राखै हाथ ।।

२ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १०-१२]

इमज गणी पासे रह्या एक साज रै मांय ।
बहु अज्जा नही राखणी कारणीक विण ताय ।।
गणी समीपे बहु रहे तो बहु साज करेह ।
पिण इक साजे बहु अज्जा, नेठाउ मत देह ।।

३. वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १३]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह ।
बाहुल्य दर्शन बिन किये, विचरण आण म देह ।।

४ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १४]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति सत सती गुणगेह ।
विण कारण इक ग्राम मे, रहिवा आण म देह ।।

५ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १५]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, सत सती गुणगेह ।
परिचय रूपज सेव नीं, तू आणा मत देह ।।

८. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण होने पर आने वाले साधु-साध्वियों के वर्गों की पूरी जानकारी स्वयं करना, उनका पूरा विवरण तुम स्वयं ध्यान में ले लेना।[1]

९. जो आपस में दलबंदी करें, उन्हें पहिचान लेना। उन्हें अलग-ल[illegible]ना, एक साथ रहे वैसा अवसर मत देना।[2] शासन का भार तुम्हारी वर[illegible] [illegible]है। तुम शासन के शृंगार हो, इसलिए तुम्हें यह पहचान अवश्य सम[illegible]हिए।[3]

१०. साधु-साध्वियों की प्रकृति को पहचान कर फिर उनके चातुर्मास-प्रवास की नियुक्ति करना। स्नेह-राग अथवा अन्य कोई पुकार न आए, इसका ध्यान रखना। सूखी दूब भी मेह बरसने पर हरी हो जाती है, वैसे ही रागीजन का संपर्क होने पर मोह की क्यारी हरी-भरी हो जाती है।[4]

११. कोई शरीर का रोगी होता है, कोई मन का रोगी होता है; पर यदि साधु-जीवन जीने की नीति हो तो उसे सहयोग देना। यदि साधुत्व के पालन की नीति न हो तो उसे संघ से अलग कर देना। इसमें संकोच मत करना, न डरना, न भयभीत होना।[5]

---

१. तेरापथ सविधान [गणपति सिखावण, १।दो. १६]
गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह।
सत सती आवै तसु, पूछा सर्व करेह॥

२. वही, [गणपति सिखावण, १।४७]
आपस मे जिल्लो कोइ बाधै, ओलखजे तसु जारी।
तेहनें भेला तू मत राखै, अवसर देख उदारी॥

३. वही, [गणपति सिखावण, १।४६]
सासण भार आछै थारे भुज, तू सासण सिणगारी।
तिण कारण तुझ ने चाहिजै, ए ओलखणा सारी॥

४ वही [गणपति सिखावण, १।६७-६६]
मुनि अज्जा नी प्रकृति ओलखी, मेलै क्षेत्र मझारी।
परिचय आदि पुकार न आवै, दीजै सीख उदारी॥
सूकी दोब दीसै पिण घन सूं, हरित हुवै तिणवारी।
तिम वलि तिण खेत्र तसु मेल्या, हुवै हरित मोह क्यारी।

५. वही, [गणपति सिखावण, १।७५,७६]
कोइक तो हुवै तन नो रोगी, कोई मन रोगी धारी॥
नीत हुवै चारित्र पालण री, स्हाज दियै हितकारी॥
चरण पालण नी नीत हुवै नही, तसु काढ़े गणधारी।
तिण री कांण मूल मत राखै, उर भय दूर निवारी॥

१२. आचार्य ने तुम्हें युवाचार्यपद का दायित्व सौंपा है, पर जब तक आचार्य रहें तब तक तुम शुद्ध मन से उनकी सेवा करना, उनका आज्ञाकारी होकर रहना ।[1]

१३. दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ मुनियों को वंदना करना तथा वे [illegible] करते हुए आएं तब आसन छोड़, खड़े होकर उन्हें वंदना करना ।[2]

मैंने यह शिक्षा युवाचार्य शिष्य मघराज को दी है, किन्तु [illegible] आने वाले सभी गणपतियों के लिए है ।[3]

जयाचार्य अनुशासन और स्वतंत्र चिंतन—दोनों में समन्वय [illegible] थे । उनकी दृष्टि में ये दोनों विरोधी तत्त्व नहीं थे । उन्होंने अपनी पूरी बात कह दी और अंत में सब कुछ मघवा के स्वतंत्र चिंतन पर छोड़ दिया । उन्होंने कहा—मैंने अपनी मति के अनुसार तुम्हें यह शिक्षा दी है, फिर तुम्हें जैसा सुख हो, जिस कार्य से गणवृद्धि हो, वही कार्य करना ।[4]

मघवा ने जयाचार्य की वाणी को जीवन-भर बहुमान दिया । वे अठारह वर्ष युवाचार्य अवस्था में रहे, अपने गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धावान् और पूर्ण समर्पित । जयाचार्य के शासनकाल में मघवा का अनिर्वचनीय योग है । दोनों व्यक्तित्व इतने एकात्मक हैं कि जयाचार्य के बिना मघवा को नहीं समझा जा सकता और मघवा के बिना जयाचार्य के व्यक्तित्व को रूपायित नहीं किया जा सकता ।

---

१. तेरापंथ संविधान [गणपति सिखावण, १।८१]
पद युवराज समापै गणपति, ते रहै त्यां लग सारी ।
तूं सेवा कीजै साचै मन, रहिजै आज्ञाकारी ॥

२. वही, [गणपति सिखावण, १।८२-८३]
चरण बड़ा सन्तां नै वनणा आछी रीत उदारी ।
तूं शुद्ध कीजै जग जस लीजै, मूल रीत ए भारी ॥
विहार करी नै बडा मुनीसर, आयां नगर मझारी ।
आसण छोडी ऊभो थइ नै, कर वदण हितकारी ॥

३. वही, [गणपति सिखावण, १।८५]
पद युवराज शिष्य मघराज भणी ए शिक्षा सारी ।
वले अनागत गणपति हुवै तसु, एहिज सीख उदारी ॥

४. वही, [गणपति सिखावण, १।८६]
शिक्षा ए गणपति नैं दीधी, म्हे निज बुध अनुसारी ।
वलि तुझ ने सुख हुवै जिम कीजै, सासण गण वृद्धिकारी ॥

३९

धर्म-परिवार

जयाचार्य महान् पराक्रमी और तेजस्वी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में जो किया, उसे अद्भुत और अनुपम कहा जा सकता है। व्यक्ति के पराक्रम का मूल्यांकन करते समय इस सचाई को आवृत नही करना चाहिए कि पराक्रम की ज्योति सहयोग से प्रज्वलित होती है और उसके अभाव में मंद हो जाती है। आचार्यवर के विकासक्रम मे अनेक व्यक्ति सहयोगी वने। उनका सहयोग पाकर आचार्यवर का कर्तृत्व और अधिक प्रखर हो गया। तेरापंथ संघ की व्यवस्था ही ऐसी है कि सभी साधु और साध्विया, सभी श्रावक और श्राविकाएं आचार्य तथा संघ के लिए कुछ न कुछ करके गौरव का अनुभव करते है। उनके इस हार्दिकभाव से आचार्य सहस्ररश्मि वन जाते है। वे व्यक्ति-विशेष उल्लेखनीय है, जिनके चरण निरंतर आचार्यवर के चरणों के साथ-साथ उठे और आगे वढ़े, जो संघ-विकास के लिए आचार्यवर के दाए-वाएं हाथ वन कर रहे। उनमे शिरोमणि हैं मघवा।

सं० १९०८ की घटना है। युवाचार्यश्री जय वीदासर में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। वहां एक बालक था, जिसका नाम था मघराज। वह युवाचार्यश्री के पास दीक्षित होना चाहता था। काका ने वाधाएं उपस्थित कर दी। एक वार दीक्षा का अवसर टल गया। दूसरे प्रयत्न में मघराज युवाचार्यश्री के कर-कमलों द्वारा दीक्षित हो गए।

उन दिनों आचार्यवर ऋषिराय रावलियां (मेवाड़) में विराज रहे थे। उनके पास मघराज की दीक्षा का समाचार पहुंचा। उस समय उन्हें

तीन छींकें आईं। छींकों के साथ जुड़ा हुआ है भविष्यवाणियों का इतिहास। आचार्यवर ने दूसरी छींक के समय कहा—कोई आश्चर्य नहीं, यह जीतमल का उत्तराधिकारी बने।

यह एक निर्मल चरित्र वाले संत की भविष्यवाणी थी। इसके सा[illegible] जुड़ी हुई थी जय और मघवा की नियति। मुनि मघराज के कुछ जी[illegible] यहां अप्रासंगिक नहीं होंगे। वे जयाचार्य के जीवन से जुड़े हुए हैं। [illegible]

सं० १९४८ में आचार्य मघवा ने जयपुर में चातुर्मास प्रवा[illegible] का था। पंडित दुर्गादत्तजी से वातचीत हो रही थी। वातचीत का प्रसं[illegible] संस्कृत व्याकरण। इसी क्रम में उन्होंने पंडितजी को सारस्वत का कुछ अंश सुनाया। पंडितजी ने आश्चर्यपूर्ण वाणी में कहा—आचार्यवर! इस अवस्था में भी आपको इतना पाठ कंठस्थ है, क्या आप इसे प्रतिदिन दोहराते हैं? आचार्यवर ने कहा—सं०१९२२ पाली चातुर्मास के समय यह पाठ मैंने जयाचार्य को सुनाया था। उसके वाद आज आपको सुना रहा हूं। इसके मध्य में इसका पुनरावर्तन मैंने कभी नही किया। यह था जयाचार्य के उत्तराधिकारी का व्यक्तित्व। यह था निदर्शन उनकी स्मृति का और मेधा का।

मघवा जयाचार्य के लिए प्रयोगभूमि थे। वे कोई नया प्रयोग प्रारंभ करते, उसका पहला परीक्षण मघवा पर होता। आहार का संविभाग, श्रम का संविभाग—ये सव नये प्रयोग थे। इनमें पहली स्वीकृति मघवा की होती। जयाचार्य के किसी भी प्रयोग में उनकी स्वीकृति निश्चित थी। उनमें सहयोग की भावना वहुत विकसित थी। वे अपने विभाग का सरस भोजन दूसरे साधुओं को दे देते, उनसे नीरस भोजन लेकर स्वयं खा लेते। जो साधु शारीरिक असमर्थता के कारण संविभाग के अनुसार प्राप्त कार्य करने में कठिनाई अनुभव करते, उनके कार्य में मघवा सहयोग करते। नई व्यवस्थाओं के प्रारंभ में उनका योगदान जयाचार्य के लिए वहुत मूल्यवान् रहा।

मुनि मघवा के वाद एक साधु की दीक्षा हुई। उसका नाम था रामदत्त। वह अवस्था में वृद्ध था। पुरानी व्यवस्था के अनुसार समुच्चय के कार्य उसे करने होते। वह थक जाता। उसने मुनि मघवा से कहा—मेरे समुच्चय के कार्य आप करें। मैं आपके पैर दवाऊंगा। मुनि मघवा में वदले में सेवा लेने की भावना नहीं थी। वे निस्पृहभाव से उस वृद्ध मुनि का सह-

योग करते रहे।

सं० १९१२ में जयाचार्य ने मघवा को मर्यादा-पत्र का वाचना-कार्य सौप कर उन्हें संघीय कार्य के प्रति अधिक उत्तरदायी वना दिया। मुनि [illegible]रूपचंदजी संसारपक्षीय वड़े भाई और साथ-साथ सहयोगी भी थे।[1] जया-[illegible] लक्ष्[illegible]के यशस्वी जीवन के साथ उनकी यशोगाथा जुड़ी हुई है।

वर[illegible] [illegible]मनुष्[illegible]मुनि हरखचंदजी विद्वान् साधु थे। जयाचार्य के मन में उनके प्रति सम[illegible][illegible]तोष था। संघीय विकास में उनके चिंतन का सदा उपयोग होता [illegible]ओर।[2]

मुनि सतीदास जी को जयाचार्य ने अपने मित्र के स्थान पर प्रतिष्ठित किया था। उनके परामर्श और सहयोग को आचार्यवर वहुत मूल्य देते थे।[3]

मुनि कालूजी प्रतिभा और पुरुषार्थ दोनों के धनी थे। जयाचार्य के समय में शक्तिशाली संघर्ष हुआ था। वह आंतरिक था। कुछ साधु संघ से अलग हो आचार्यवर का विरोध कर रहे थे। श्रावक भी वड़ी संख्या में उनके साथ थे। सरदारशहर उनकी प्रवृत्तियों का केंद्र वना हुआ था। उस समय मुनि कालूजी वड़ी सूझ-बूझ के साथ सारी स्थिति को संभाल रहे थे। उनके कार्य के प्रति आचार्यवर वहुत आश्वस्त थे। एक दिन ऐसा आया कि मुनि कालूजी के प्रयत्नों से सरदारशहर तेरापंथ धर्मसंघ की गतिविधियों का मुख्य केंद्र वन गया।

जयाचार्य ने तेरापंथ के इतिहास-संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसमें मुनिवर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होने तेरापंथ के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। वह ख्यात के नाम से प्रसिद्ध है। वे कुशल प्रतिलिपिकार थे। उन्होंने एक लाख श्लोकों की प्रतिलिपि कर अनेक ग्रंथ आचार्यवर के चरणो में उपहृत किए। वे लम्वी-लम्वी यात्रा करने वाले परिव्राजक थे।[4]

मुनि कोदरजी जयाचार्य के हनुमान थे। निस्पृह, आज्ञाकारी, तपस्वी और सेवाभावी। जव-जव कठिन काम सामने आया, तव-तव वे उसे संपन्न करने के लिए तैयार रहे। आचार्यवर ने उन्हें इष्ट के रूप में स्थान दिया। उन्होंने एक विघ्नहरण वाले मंत्र का निर्माण किया। वह पांच महान्

---

१. २ ३. देखें—जीवनवृत्त के कुशल शिल्पी।

४. डालमचरित्र, ढाल १८।

तपस्वियों के नाम के प्रथमाक्षर से निष्पन्न है। उस (अ भि रा शि को) में पांचवां नाम कोदरजी का है। प्रस्तुत जीवनी में उनके कर्तृत्व के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं।

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी संघ की हर गतिविधि में आचार्यवर का सहयोग करती रही। साध्वी समाज संख्या की दृष्टि से साधु सम[illegible] वड़ा था। यदि साध्वीप्रमुखा का पूरा सहयोग और समर्थन नहीं [illegible] तो नई व्यवस्थाओं के निर्माण में अनेक कठिनाइयां आती। आचा[illegible] जैसे-जैसे नई व्यवस्थाएं वनाईं, वैसे-वैसे साध्वीप्रमुखा उन्हें साध्वी स[illegible] में क्रियान्वित करती गईं। संघीय व्यवस्थाओं के विकास में उनका जो योगदान रहा, वह तेरापंथ के इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है।

साध्वीप्रमुखा गुलावांजी आचार्य मघवा की संसारपक्षीया वहन थी, वहुत कोमल, सुन्दर और सहृदय। सरस्वती की साक्षात् प्रतिमूर्ति। उन्होंने जयाचार्य की साहित्य-रचना मे वहुत योग दिया। भगवती की पद्यात्मक व्याख्या लिखना एक कठिन कार्य था। उसमें साध्वीप्रमुखा की एकाग्रता और तन्मयता ने उल्लेखनीय कार्य किया। आचार्यवर वोलते जाते और वे लिखती जातीं। उनके द्वारा की हुई वह प्रथम लिपि आज भी दर्शनीय है, भव्य अक्षर और शुद्ध लिपि। ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि यह किसी वड़ी रचना की प्रथम लिपि है।

रूपक की भापा में कहा जाता है—धर्मशासन एक रथ है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—ये चार उसके पहिए है। चारों पहिए सक्रिय होते हैं तव रथ ठीक चलता है। श्रावक और श्राविकाओं का योगदान भी वहुत महत्त्वपूर्ण होता है। जयाचार्य के शासनकाल में अनेक श्रावकों ने उल्लेखनीय कार्य किए।

सं० १९२० की घटना है। जयाचार्य चूरू में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। मृगसर कृष्णा १ को आचार्यवर ने एक नवयुवक को दीक्षित किया। उसका नाम था मुनिपत। वह जयपुर मे रहता था। उसकी माता की सहर्ष स्वीकृति से दीक्षा प्रदान की गई थी। मुनिपतजी के दादा का भाई थानजी जोधपुर में रहता था। कुछ लोगों ने उसे उकसा दिया। वह तेज प्रकृति का आदमी था। उसने जोधपुर के राजा तख्तसिंह के पास शिकायत की—जयाचार्य ने मेरे पोते को मेरी आज्ञा लिए विना साधु वना दिया। इसका

न्याय होना चाहिए। राजे लोग तात्कालिक निर्णय बहुत ले लेते थे। वे घटना की समग्र जांच करने की चिंता ही नही करते। इसी प्रकृति के कारण अनेक वार न्याय के वदले अन्याय हो जाया करता था। महाराज-तख्तसिह [illegible] आदेश लिख दिया—जयाचार्य को और नवदीक्षित साधु को पकड़ कर [illegible] आओ। राजा के घुड़सवार सिपाही उस आदेश-पत्र को लेकर वहां वर[illegible] उन दिनों जयाचार्य लाडनू मे विराज रहे थे। जोधपुर से उसकी [illegible]ग दो सौ किलोमीटर है।

[illegible]ादरमलजी भंडारी जोधपुर राज्य के उच्च अधिकारी थे। महाराजा उन्हे वहुत मानते थे। एक कहावत प्रचलित थी—माहें नाचै नाजरियो, वारै नाचै बादरियो। रनिवास मे नाजर की चलती है और वाहर वादर की चलती है। बादरमलजी जयाचार्य के परम श्रद्धालु थे। उन्हें इस बात का पता चला। वे मर्माहत-से हो गए। वे अपने आप को रोक नही सके। रात्रि का समय था, वारह वजने को थे। सव लोग सो चुके थे। महाराजा तख्तसिह भी सो चुके थे। सोए हुए राजा को जगाना मौत को निमंत्रण देना था, पर उन्हें कोई डर नही था मौत का। वे साहस या दुस्साहस कर महल में पहुंच गए। उन्होंने महाराजा को जगा दिया। आंखें मलते हुए महाराजा वोले—'वादर! इस समय कैसे आया? यह भी कोई समय है आने का!'

'महाराज! असमय है यह आने का और आपको जगाने का, मैं जानता हूं। मैं ऐसे ही नहीं आया हूं। आपने बुलाया है तब आया हूं।'

'मैंने कब बुलाया? किसने यह सूचना दी मेरे द्वारा तुम्हें बुलाए जाने की?'

'क्षमा करें महाराज! मैंने सुना, आपने लाडनू के लिए घुड़सवार सिपाही भेजे है। आपने आदेश-पत्र लिख कर दिया है जयाचार्य को पकड़ कर यहां लाने का?'

'हां, 'मैने ऐसा किया है।'

'बस, इसी घटना ने मुझे विवश किया असमय मे आने को और इस मध्यरात्रि के समय आपको जगाने को।'

'इसमें ऐसी कौनसी बात थी, जो तुम इतने अधीर हो गए'—महाराजा ने कड़क कर कहा।

भंडारीजी भी इस पार या उस पार का दांव खेल रहे थे। वे बोले—

'जयाचार्य मेरे गुरु हैं। मेरे इष्ट हैं। जीवन-धन हैं। उनके लिए मैं अपने प्राण निछावर कर सकता हूं, फिर आप अधीरता की बात पूछ रहे हैं?'

'परदादे की स्वीकृति लिए बिना पोते को दीक्षित कर लेना, क्या उचित है? जयाचार्य ने ऐसा किया तभी मैंने वह आदेश-पत्र लिखा'—महाराजा ने वार्ता में गंभीरता लाते हुए कहा।

'यह सर्वथा असत्य है महाराज! किसी ने असत्य सूच[illegible] आपको। सूरज पूरब से पच्छिम में उग आए, तो भी जयाचार्य [illegible] नही कर सकते। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मेरे विश्वास में कोई अंत[illegible] है। आप इस घटना की जांच करें। आपने जांच किए बिना, सही स्थिति का पता लगाए बिना यह आदेश-पत्र कैसे लिख दिया?'

अब महाराजा तख्तसिंह के मन में अपने अनालोचित कार्य पर अनुताप का भाव जाग उठा।

भंडारीजी महाराजा के चेहरे को पढ़ रहे थे। उन्होंने कहा—'क्या जयाचार्य को पकड़ना इतना सरल कार्य लगा आपको? क्या यह एक समस्या नहीं बन जाएगी? जयाचार्य के प्रति हजारों-हजारों लोग समर्पित हैं। क्या वे आप द्वारा किए गए इस अन्याय का प्रतिरोध नहीं करेंगे? क्या वे अपने गुरु के लिए प्राण निछावर करने के लिए कटिबद्ध नही होंगे? क्या आपके घुड़सवार सिपाही उनके सामने टिक पाएंगे? आपको पता है, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह और उनके युवराज जवानसिंह, जिन्हें गुरु के रूप में सम्मान देते हैं, जयपुर नरेश सवाई रामसिंह जिनके चरणों में बैठ तत्त्वचर्चा करते है, सैकड़ों सामंत और ठाकुर जिनको वंदना करते हैं, उन जयाचार्य के प्रति आप ने ऐसा व्यवहार कैसे किया? मेरे दिल में प्रज्वलित आग को शांत करने के लिए ही मुझे इस समय आना पड़ा, महाराज! क्षमा करें।'

महाराजा तख्तसिंह ने तत्काल स्याही और कलम मंगाई। पहले आदेश-पत्र को रद्द करने वाला दूसरा आदेश-पत्र लिख कर भंडारीजी के हाथों में थमा दिया और कहा—'यह पहले पहुंचे, ऐसी व्यवस्था करो। मुझे हर्ष है कि तुमने मुझे एक भयंकर अपराध से बचा लिया।'

भंडारीजी ने घुड़सवारों की व्यवस्था कर अपने पुत्र किशनमल भंडारी के नेतृत्व में उन्हें लाडनूं के लिए विदा कर दिया। उन्हें एक संतोष का अनुभव हुआ।

तख्तसिंहजी के आदेश-पत्र की वात लाडनूं के श्रावकों तक पहुंच चुकी थी। उस समय जयाचार्य दूलजी (दुलीचंद) दूगड़ की हवेली में विराज रहे थे। दूलजी ने लाडनूं के श्रावक समाज को इकट्ठा कर सारी स्थिति से [illegible] करा दिया। सव लोग पूरी सज्जा के साथ उस हवेली के पास [illegible] हो गए। दूलजी ने सैकड़ों मोयल जाति के राजपूतों के साथ दरवाजे पर [illegible]बंदी कर ली। उन्होंने कहा—मेरे शरीर में जव तक प्राण है तव [illegible] भी व्यक्ति जयाचार्य की ओर टेढ़ी आंख करके नही देख सकता। [illegible] आचार्यवर अपने आप में अविचल थे। न उन्हें पकड़े जाने का भय था और न उन्हें शिकायत थी जोधपुर नरेश के अविचारित व्यवहार के प्रति। उन्होंने श्रावकों से भी अक्षुब्ध रहने के लिए कहा, पर उनकी भूमिका दूसरी थी। वे जयाचार्य की भूमिका तक नही पहुंच पा रहे थे।

भंडारी किशनमलजी के नेतृत्व में आने वाले घुड़सवार लाडनूं में पहले पहुंचे। लोगों ने उन्हें देखा और वे उनका प्रतिरोध करने के लिए सन्नद्ध हो गए। भंडारी किशनमलजी आगे बढ़े। उन्हें देख भीड़ शांत हो गई। भंडारी किशनमलजी सीधे जयाचार्य के पास पहुंचे। प्रमुख लोगों को वहां एकत्रित कर उन्होंने दूसरा आदेश-पत्र पढ़ाया। सारी स्थिति की जानकारी दी। पूरे श्रावक समाज ने संतोष की सांस ली। हवेली के दरवाजे के वाहर खड़ी भीड़ को सारी स्थिति वताई। संकट के टल जाने की घोषणा की। सव लोग अपने-अपने घरों में चले गए। जयाचार्य के अंतर्वल और भंडारी वादरमलजी के मनोवल और सूझ-बूझ से एक अहेतुक दुर्घटना होते-होते टल गई।

कुछ दिनों वाद भंडारी वादरमलजी दर्शन करने आए। आचार्यवर ने उनकी श्रद्धा और शासन-सेवा का उल्लेख कर जोधपुर में चातुर्मासिक प्रवास करने की स्वीकृति दी।[1] आचार्यवर ने कहा—भंडारीजी ने संघ की इतनी बड़ी प्रभावना की है कि इन पर वड़े से बड़ा अनुग्रह किया जा सकता है, पर हमारे श्रावक अनुग्रह पाने के लिए काम नही करते। वे संघ को अपना मान कर काम करते है। यह हमारे सघ की विशेषता है। जयाचार्य का आशीर्वाद प्राप्त कर भंडारीजी ने परम आनंद का अनुभव किया।

---

१ (क) ते. आ. ख. २ पृ. १४७-१४९ [जयसुजश, ४८।१०-१४]
(ख) वही, [४९।दोहा १-४।१-६]

सं० १९२४ की घटना है। जयाचार्य लाडनूं में विराज रहे थे। वहां एक कन्या आचार्यवर के चरणों में दीक्षित होना चाहती थी। उसका नाम था भूरां, जाति थी सरावगी। कन्या वहुत वुद्धिमान और विवेक वाली थी। उसकी सगाई हो चुकी थी। उसके माता-पिता दीक्षा की अनुमति देने को तैयार थे, पर संभावित ससुराल वाले कन्या को दीक्षित करना नहीं [illegible] थे। वे इस मामले को जोधपुर राज्य के उच्च अधिकारियों तक [illegible] उन्होंने प्रार्थना की—यह दीक्षा रोकी जाए। उस समय देशी रि[illegible] का ब्रिटिश शासन की ओर से एक रेजिडेंट रहता था। यह वात उ[illegible] पहुंच गई।

भंडारी वादरमलजी ने रेजिडेंट को वस्तुस्थिति से परिचित कराया। भंडारीजी के प्रयत्न से राज्य सरकार ने उस स्थिति की जांच के लिए एक पर्यवेक्षक दल भेजने का निर्णय किया। वह लाडनूं पहुंचा। उसने कन्या से वातचीत की। उसके मुखिया ने कहा—तुम साध्वी किसके दवाव से वनती हो?

—दवाव किसी का नहीं है। अपनी इच्छा से वन रही हूं।

—क्यों वन रही हो?

—मेरी अंतर्-आत्मा की प्रेरणा है, इसलिए वन रही हूं।

—क्या तुम साध्वी वनने के विचार को छोड़ शादी करोगी?

—मैं अपना विचार वदल सकती हूं, यदि आप दायित्व लें कि मैं विधवा नहीं होऊंगी।

—यह दायित्व हम नहीं ले सकते।

—तो मैं अपना विचार भी नहीं वदल सकती।

पर्यवेक्षक दल प्रणत था उस कन्या के सामने। उसने राज्य सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। उसमें था—'दीक्षा सर्वथा आपत्ति से रहित है।'

फाल्गुन कृष्णा छठ को दीक्षा संपन्न हो गई। आचार्यवर लाडनूं से विहार कर वीदासर पधार गए। वहां किशनमलजी भंडारी ने दर्शन किए। आचार्यवर ने भंडारी वादरमलजी के प्रयत्न की सराहना की। किशनमलजी ने कहा—हम शासन के सेवक हैं। यह प्रयत्न हमारे अपने ही हित के लिए है। इसमें कोई विशेष वात नहीं है। मेरी एक प्रार्थना है कि आप मेरे पिताश्री पर अनुग्रह करें और सं० १९२५ का चातुर्मासिक प्रवास जोधपुर

में बिताएं। आचार्यवर प्रसन्नमुद्रा में थे। उन्होंने भंडारी किशनमलजी की प्रार्थना स्वीकार कर जोधपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।[1]

आचार्यवर ने पाच वर्षो में दो चातुर्मास जोधपुर में बिताए। दोनों [illegible] प्रभावशाली रहे। प्रथम चातुर्मास संपन्न होने पर विशाल जुलूस ल[illegible] आचार्यवर ने प्रस्थान किया। फिर प्रवचन किया। उस समय [illegible] दो हजार श्रोताओं की उपस्थिति थी। स्थानकवासी समाज के सम[illegible] व्यक्ति ने उसे आश्चर्यजनक बतलाया।[2] उस समय पैसे का भी [illegible]था और आदमी का भी मूल्य था। उस समय के दस हजार रुपयों का मूल्य आज दस लाख है। उस समय के दो हजार श्रोताओं की उपस्थिति आश्चर्यजनक हो सकती है, आज वीस हजार की भीड़ भी विस्मय पैदा नही करती।

भंडारीजी ने पीपाड में आचार्यवर के दर्शन किए। तीन सौ व्यक्ति उनके साथ थे। रथों और घोड़ों की एक छोटी सी सेना जैसी लग रही थी।[3] दूसरी बार भी पीपाड़ में ही दर्शन किए वैसे ही वड़े परिवार के साथ।[4]

नगराजजी बैगानी बीदासर के प्रमुख व्यक्ति थे। वे रहस्यपूर्ण व्यक्ति थे। नगराजजी जयाचार्य के रहस्यमय व्यक्तित्व के साथ में जुड़े हुए थे। कहा जाता है, उनके इष्ट सिद्ध था। वे अपने इष्ट से कुछ सूचनाएं प्राप्त कर जयाचार्य को निवेदन कर देते। आचार्यवर उनकी तुलना भ० महावीर के तुंगियानगरी के श्रावकों से किया करते थे। एक बार किसी साधु ने कह दिया—नगराजजी गधा है। यह रहस्यों की बातों को क्या जानता है? जयाचार्य को इसका पता चला। उस साधु को बुलाकर कहा—तुम रहस्य को जानते हो? 'मैं नही जानता' उस साधु ने कहा। आचार्यवर ने कहा—तुम स्वयं रहस्यविद् नहीं हो तव दूसरे के वारे मे कैसे कह सकते हो कि वह रहस्यों को नही जानता। साधु ने अविचारित वात कही थी। विचार सामने आने पर वह उसका उत्तर नही दे सका। आचार्यवर ने उसे उलाहने

---

१. ते. आ० ख. २, पृ. १५५ [जयसुजश, ५१। १०-१५]

२. ते. आ. खं. २, पृ. १४६ [जयसुजश, ४६।१४-१५, यतनी १,२]

३. ते. आ. ख. २ पृ. १४८ [जयसुजश, ४६।दोहा १,२]

४. ते. आ. खं. २, पृ. १५५ [जयसुजश, ५१।१८,१६]

के स्वर में कहा—'तुम्हें विना विचारे, विना सोचे-समझे ऐसी वात नहीं कहनी चाहिए।'

जयपुर का सिंघड़ परिवार अर्थ-संपदा और धर्म-संपदा – दोनों से काफी संपन्न रहा। इस परिवार ने आचार्य भिक्षु से गुरु-दीक्षा ली और सदा शासन की सेवा करता रहा। लाला भेरूलालजी जयाचार्य [illegible] भक्त थे। आचार्यवर ने उनकी भक्ति से प्रसन्न हो प्रथम चातुर्मा[illegible] में विताया। लालाजी पदयात्रा में साथ रहते। पूरा घर जैसे चल[illegible] का भी साथ में चलती। लालाजी का देहावसान आचार्यवर के स्वर्ग[illegible] कुछ दिन पूर्व ही हुआ था। आचार्यवर ने अंतिम समय में उन्हें चित्तसमाधि की प्रेरणा दी। उनकी समाधि के साक्षी रहे।[1]

मोखजी उदयपुर के प्रतिष्ठित नागरिक थे। महाराणा सरूपसिंह के कृपापात्र और कुशल प्रशासक। प्रारंभ में वे आचार्यवर के शिष्य नहीं थे। वे अपनी मां की प्रेरणा से वने थे। मां ने कहा—तू जयाचार्य के पास गुरु-दीक्षा नही लेगा, तो मैं भोजन नहीं करूंगी। मां के इस आग्रह पर उस विनयी पुत्र ने जयाचार्य के पास गुरु-दीक्षा ली। उसके पश्चात् वे जयाचार्य के वड़े भक्त वन गए। उदयपुर के महाराणा सरूपसिंह और जयाचार्य के वीच वे संपर्क-सूत्र वने हुए थे।

---

१. ते.आ. खं. २, पृ. १८४ [जयसुजश, ६२।६-१२]

४०

मनोबल की प्रेरक घटनाएं

जयाचार्य महान् मनोबली थे। उनका आभा-मंडल शक्तिशाली था। उसकी रश्मियां आस-पास के वातावरण में विकीर्ण हो रही थीं। उनके शासन-काल में मनोबल की अनेक घटनाएं घटित हुई। कुछ घटनाओ का प्रसंग के अनुसार उल्लेख हो चुका है। यहां दीर्घकालीन उपवास की चर्चा प्रस्तुत है।

उपवास संकल्पबल और मनोबल का जीवंत निदर्शन है। शरीरबली एक उपवास करने में भी अपने आप को असमर्थ पाता है, वहा मनोबली पुरुष बड़ी प्रसन्नता के साथ दीर्घकाल तक निराहार रह जाता है।

सं० १९१५ की घटना है। जयाचार्य लाडनू में प्रवास कर रहे थे। तपस्वी मुनि अनोपचंदजी ने प्रार्थना की—आचार्यवर ! कल से एक मासिक (तीस दिन का) उपवास करना चाहता हूं। आचार्यवर ने स्वीकृति दे दी। सांझ के समय महासती सरदारांजी आई। उन्होंने कहा—तपस्वीवर ! भिक्षा मे घी कुछ अधिक आ गया है। आपको वह लेना होगा। तपस्वी बोले—मैं आहार कर चुका हूं। महासती ने कहा—आप तपस्वी है, घी को पचा सकते है। इसलिए वह लेना होगा। तपस्वी उनका अनुरोध स्वीकार कर लगभग एक सेर घी कढी में मिला पी गए। रात के समय अजीर्ण हो गया। अतिरिक्त मात्रा में मलोत्सर्ग हुआ। प्रातःकाल तक वे वहुत कमजोर हो गए।

जयाचार्य ने कहा—तपस्वी ! अब एक मासिक उपवास का विचार बदल देना है। आज अस्वस्थ हो, फिर स्वस्थ होने पर वह कर लेना।

तपस्वी बोले—गुरुदेव ! मैंने वह विचार बदल दिया है। अब एक मासिक उपवास नहीं, छमासी (१८० दिन के) उपवास का विचार मैंने कर लिया है। वे आचार्यवर की सन्निधि में उनके पैर पकड़ कर बैठ गए और छमासी उपवास का संकल्प कराने का प्रबल आग्रह करने लगे।

आचार्यवर—अभी शरीरबल क्षीण हुआ है। इतने लंबे उप[illegible] संकल्प कैसे कराया जा सकता है ? [illegible]

तपस्वी—मनोबल बढ़ा है, इसलिए आप शरीरबल की निता[illegible] का [illegible]

आचार्यवर—मनोबल के साथ शरीरबल भी तो होना चाहिए [illegible]

तपस्वी—गुरुदेव ! आपका आत्मिक बल सहारा दे रहा है। मेरा मनोबल मजबूत है। शरीरबल अपने आप बढ़ जाएगा।

शरीरबल पर मनोबल की विजय हुई। आचार्यवर ने छमासी उपवास का संकल्प करा दिया। अब आचार्यवर के चरण तपस्वी के हाथों की पकड़ से मुक्त हुए।

उपवास शुरू हो गया। आछ का जल ले रहे थे। साथ-साथ यात्रा भी शुरू हो गई। तपस्वी लाडनूं से प्रस्थान कर तपस्या की अवधि में मालवा (उज्जैन और इंदोर) पहुंचे। प्रवास-काल में ग्रंथों की प्रतिलिपि भी करते रहे। तपस्या के मध्य लगभग पांच सो पन्नों की प्रतिलिपि की। राजस्थान में शुरू होने वाला उपवास मध्यप्रदेश में संपन्न हुआ। यह एक निदर्शन है प्राणशक्ति की प्रचंडता का। यह एक गाथा है मनोबल की अपराजेयता की।

साध्वियों के मनोबल की कहानी भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। सं० १९१० की घटना है। जयाचार्य के आचार्य पद की महिमा चारों ओर फैलती जा रही थी। साध्वी दीपांजी पाली में प्रवास कर रही थी। एक श्रावक घी लेकर कही जा रहा था। रास्ते में साध्वीजी का प्रवास-स्थल आया। उसने दर्शन किए और अंतर्भावना प्रकट की—मैं घी का दान देना चाहता हूं। उसकी अंतर्भावना को देख साध्वीजी ने उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया। घी का दान लेने के लिए उन्होंने पात्र रखा। उस भाई ने भावावेश में लगभग ३-४ सेर घी उस पात्र में डाल दिया। साध्वीजी ने पांच-सात साध्वियों को वह घी खिलाया। संध्या का समय हुआ। दीपांजी ने साध्वियों से पूछा—क्या तपस्या करोगी ?

साध्वियां—उपवास कर लेंगी।

दीपांजी—क्या उपवास करोगी ! उपवास का नाम सुन क्या घृत-भोजन लज्जित नही होगा ?

साध्विया—दो या तीन दिन का उपवास कर लेंगी।

दीपांजी—घृत-भोजन की शोभा कहां वढ़ी ?

[illegible] चतन कुछ आगे वढ़ा। पाच साध्वियां एक साथ वोल उठी—हम [illegible] (१८० दिन के) उपवास करेंगी। अव दीपाजी के मुख पर प्रसन्नता [illegible] दौड़ गई। उन साध्वियों ने छमासी उपवास का संकल्प स्वीकार [illegible] और साध्वी दीपांजी ने उन्हें वह संकल्प स्वीकार कराया। अद्भत था मनोवल स्वीकृत करने वालों का और अद्भुत था मनोवल स्वीकार कराने वालों का।

जयाचार्य का युग मनोवल के विकास की दृष्टि से स्वर्णिम युग था। जयाचार्य के समय में दीर्घकालीन उपवास करने वालो की लंवी सूची है।[1] यह सूची उन लोगों की नहीं है, जिन्होंने उपवास कर खाट को तोड़ा और रात को तारे गिनते रहे। यह सूची उन व्यक्तियो की है, जिनका मनोवल शरीरवल को चुनौती देता रहा। वह आयुर्विज्ञान के सिद्धांतों को भी चुनौती थी कि केवल आछ के आधार पर मनुष्य इतने लंवे समय तक जी सकता है और प्रवल पुरुषार्थ के साथ जी सकता है। यह एक शोध का विपय है पोषण विशेषज्ञों के लिए और एक विषय है उपवास-चिकित्सा पर गहन अनुशीलन करने वालों के लिए। स्थूल दर्शन मे लगता है, जयाचार्य दीर्घ-कालीन उपवास को प्रोत्साहन दे रहे थे, तपस्वियों की गुण-गाथा गा रहे थे। सूक्ष्म-दर्शन में प्रतीत होता है, वे मनोवल के विकास की सभावना का अध्ययन कर रहे थे।

---

१. ते आ. खं. २, पृ. १३५ [जयसुजश, ४३।२०-२६]। वही, [४२।दो. ३]

यात्रा और वर्षावास

जैन मुनि और यात्रा दोनों में गहरा संबंध है। मुनि-जीवन शुरू होता है, पद-यात्रा शुरू हो जाती है। कहीं भी स्थिरवास न करना और वाहन पर न चढ़ना—ये उसकी यात्रा की विशेष प्रवृत्तियां है। जयाचार्य जंघाबली थे। दीक्षित होते ही उनकी यात्रा शुरू हो गई। उनकी कुछ यात्राएं काफी लंबी और महत्त्वपूर्ण थीं। सं० १८८९ में उन्होंने चौदह सौ मील की यात्रा की। दिल्ली में चातुर्मासिक प्रवास कर जयपुर पहुंचे। वहां से मेवाड़, मेवाड़ से फिर मारवाड़, मारवाड़ से फिर मेवाड़, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ की यात्रा की। वहां से प्रस्थान कर मारवाड़ पहुंचे। वालोतरा में चातुर्मासिक प्रवास किया।[1] इस प्रकार आठ मास की अवधि में उन्होंने दो हजार दो सौ चालीस किलोमीटर की यात्रा संपन्न की। वीदासर से वीकानेर की ग्रीष्मकालीन यात्रा केवल एक सौ वारह किलोमीटर की थी, पर वह कसौटी की यात्रा थी।

मालवा की यात्रा उन्होंने दो वार की। एक वार ऋषिराय के साथ और दूसरी वार आचार्य अवस्था में। धर्मप्रसार की दृष्टि से वे दोनो यात्राएं वहुत महत्त्वपूर्ण रहीं।

आचार्यवर ने अपने जीवन-काल में पचास हजार किलोमीटर की यात्रा की। उनके वर्षावास की तालिका इस प्रकार है—

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. ८४-८७ [जयसुजश, ढा० १६]।

अग्रणी अवस्था के १३ चातुर्मास

	स्थान	संवत्	स्थान
	उदयपुर	१८८८	वीकानेर
[illegible]	नाथद्वारा	१८८९	दिल्ली
१८८४	पेटलावद (ऋषिराय के साथ)	१८९०	वालोतरा
१८८५	जयपुर	१८९१	फलौदी
१८८६	जोधपुर	१८९२	लाडनूं
१८८७	चूरू	१८९३	वीकानेर
		१८९४	पाली

युवाचार्य अवस्था के १४ चातुर्मास

१८९५	लाडनू	१९०२	किसनगढ
१८९६	चूरू	१९०३	नाथद्वारा
१८९७	उदयपुर	१९०४	जयपुर
१८९८	जयपुर	१९०५	उदयपुर
१८९९	वीदासर (ऋषिराय के साथ)	१९०६	वीकानेर
१९००	लाडनू	१९०७	वीकानेर
१९०१	जयपुर	१९०८	वीदासर

आचार्य अवस्था के ३० चातुर्मास

संवत	स्थान	संवत्	स्थान
१६०६	जयपुर	१६२४	सुजानगढ
१६१०	नाथद्वारा	१६२५	जोधपुर
१६११	रतलाम	१६२६	वीदासर
१६१२	उदयपुर	१६२७	लाडनूं
१६१३	पाली	१६२८	जयपुर
१६१४	वीदासर	१६२६	वीदासर
१६१५	लाडनूं	१६३०	वीदासर
१६१६	सुजानगढ	१६३१	सुजानगढ
१६१७	वीदासर	१६३२	लाडनूं
१६१८	लाडनूं	१६३३	लाडनूं
१६१६	सुजानगढ	१६३४	लाडनूं
१६२०	चूरू	१६३५	वीदासर
१६२१	जोधपुर	१६३६	वीदासर
१६२२	पाली	१६३७	जयपुर
१६२३	वीदासर	१६३८	जयपुर

यात्रा में श्रम अधिक होता है, तेज धूप से शरीर का रंग भी वदल जाता है। कभी-कभी पहचानने में भी कठिनाई हो जाती है। जयाचार्य अग्रणी अवस्था में गुजरात की लंवी यात्रा के वाद जसोल पहुंचे। वहां के सभी जैन वंधु तेरापंथ धर्मसंघ के अनुयायी थे। जयाचार्य वाजार मे खड़े थे। कोई भी व्यक्ति उनके स्वागत में खड़ा नहीं हुआ और न किसी ने वंदना की। ठहरने के स्थान के वारे में पूछा तो उत्तर मिला कि 'आगे जाओ।'

जयाचार्य और उनके सहवर्ती साधुओ को वडा आश्चर्य हुआ। वे लोगो की मन.स्थिति समझ नहीं सके। 'आगे जाओ, आगे जाओ' यह सुनते-सुनते वे गांव के इस छोर से उस छोर तक चले गए, पर लोग उन्हें नहीं समझ सके। यह यात्रा का ही प्रभाव था कि लोग अपने साधुओं को पहचान नही सके। किसी स्रोत से पता चला, तव वे एक-दूसरे को कहने लगे कि हमारी आंखों ने हमें धोखा दे दिया। यह धोखा उनकी आंखों ने दिया या वदले हुए रंग ने?

४२

स्वास्थ्य

जयाचार्य नौ वर्ष की अवस्था में भयंकर व्याधि से पीड़ित हो गए। गला रुंध गया। खाना-पीना कठिन हो गया। दीक्षा का संकल्प किया। वे स्वस्थ हो गए।

लंवी-लंवी यात्राओं, यात्रा में होने वाली कठिनाइयो के होने पर भी स्वास्थ्य ने सदा उनका साथ दिया। सं०१९१२ में उनकी आखो मे कुछ गड़वडी हुई। कुछ समय वाद आयुर्वेदिक चिकित्सा से वह ठीक हो गई।[1]

दुवले-पतले शरीर में वलवान् आत्मा का निवास था। मानसिक स्वास्थ्य सदा अच्छा था, इसलिए शारीरिक स्वास्थ्य प्रायः अच्छा रहा। वृद्धावस्था में कभी-कभी अस्वस्थता हो जाती।

सं० १९३० में आचार्यवर वीदासर मे विराज रहे थे। जेठ और आषाढ़ इन दो महीनो में आचार्यवर के शरीर में ज्वर का भारी प्रकोप रहा। अन्न की अरुचि हो गई। शक्ति क्षीण हो गई। विहार नही हो सका। सं० १९२९ का चातुर्मास-प्रवास वीदासर मे हुआ था, किन्तु शारीरिक दुर्वलता के कारण १९३० का चातुर्मास भी वही करना पड़ा।[2]

सं० १९२९ मे आंखों में मोतिया उतर आया। उस समय वैद्य या डाक्टर के द्वारा शल्य-चिकित्सा कराने की परंपरा नहीं थी, इसलिए मुनि कालूजी ने आचार्यवर के नेत्रो की शल्य-चिकित्सा की। घटना इस प्रकार घटित हुई कि जिस समय शल्य-चिकित्सा की जा रही थी, उस समय आकाश

१. ते. आ. ध. २ पृ. २१८ [मघवागुणम ढा० ६।दो० ४]
२. ते. आ. ध. २ पृ. १६८ [जयसुजश ५५। १९,२०]

में बादल मंडराए हुए थे। आवास-स्थान के भीतर पूरा प्रकाश नहीं था इसलिए शल्य-चिकित्सा खुले आकाश में की जा रही थी। जैसे ही मुनि कालूजी ने आंख में अस्त्र डाला वैसे ही बूंदे गिरने लगीं। आचार्यवर तत्काल उठ खड़े हुए। वर्षा के समय बाहर खुले में रहने की विधि नहीं है, इसलि वे आवास के भीतर चले गए। वहां शल्य-चिकित्सा हुई, पर उस व्य[illegible] के कारण कुछ कमी रह गई। उनका विहार-क्षेत्र सीमित हो गया [illegible] यात्री आचार्यवर आठ वर्ष की अवधि में तीस किलोमीटर की [illegible] विहार करते रहे। चातुर्मासिक प्रवास को तालिका से यह स्पष्ट है—

संवत्	गाव
१९२९	बीदासर
१९३०	"
१९३१	सुजानगढ
१९३२	लाडनूं
१९३३	"
१९३४	"
१९३५	बीदासर
१९३६	"

सं० १९३६ के फाल्गुन मास में आचार्यवर सुजानगढ में विराज रहे थे। वहां लाला भेरूंलालजी ने दर्शन किए। उन्होंने आचार्यवर से जयपुर पधारने की प्रार्थना की। आचार्यवर ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। आचार्यवर की शारीरिक शक्ति क्षीण थी। पद-विहार द्वारा जयपुर तक जाना संभव नही था। उस स्थिति में 'सुखपाल' (डोली या पालकी) का प्रयोग किया गया। मुनियों ने कंवलों को काठ के डांडों से बांधकर सुखपाल बना लिया। उसमें आचार्यवर विराज जाते। उसे मुनि ही अपने कंधों पर उठाते। यह कार्य चार मुनियो ने बड़ी श्रद्धा के साथ किया। उनके नाम ये हैं—१. मुनि मयाचंदजी, २. मुनि रामसुखजी, ३. मुनि छबीलजी, ४. मुनि ईसरजी। आचार्यवर ने उनकी सेवा का मूल्यांकन करते हुए, उनके श्रम का ध्यान रखते हुए उनके लिए 'पक्का पेटिया' देने का अनुग्रह किया। इस व्यवस्था के अनुसार उन चारों मुनियों को आहार, विभाग से पूर्व, सामुदायिक आहार से यथेष्ट दूध, घी आदि दिया जाता।

चैत्र शुक्ला अष्टमी को आचार्यवर ने जयपुर में प्रवेश किया। लाला भेरूंलालजी की हवेली में उनका प्रवास हुआ। चातुर्मास संपन्न हो गया। आचार्यवर जयपुर के आसपास ही विहार करते रहे। जेठ का महीना आया। ग्रीष्म ऋतु ने अपने पांव फैलाने शुरू कर दिए। चिलचिलाती धूप ने लोगों [illegible] में रहने को विवश कर दिया। जयपुर के लंबे-चौड़े रास्ते और [illegible]ड़े लगने लगे। ताप में संताप की स्थिति वनी। आचार्यवर के गले [illegible] गांठ उभर आई। जैसे-जैसे वह वढ़ी वैसे-वैसे वेदना भी वढी। आषाढ़ मास में वह पक कर फूट गई। शारीरिक शक्ति वहुत कम हो गई। स्वास्थ्य मे कोई सुधार नही हुआ। अन्न की अरुचि हो गई। अतिसार हो गया। श्रावण के शुक्ल पक्ष मे शल्य-क्रिया द्वारा गाठ का मुह चौड़ा किया गया। काफी मवाद निकला। ज्वर रहने लगा। इस अवस्था में ही उनका स्वर्गवास हुआ।

शरीर के रुग्ण हो जाने पर भी उनका चैतसिक स्वास्थ्य सदा अच्छा रहा। शरीर चित्त को प्रभावित करता है, चित्त शरीर को प्रभावित करता है। दोनों में गहरा संबंध है। पर दोनों एक नहीं है। इसलिए ऐसा भी होता है कि चित्त के स्वस्थ होने पर भी शरीर अस्वस्थ हो जाता है। सभी रोग मनोकायिक नही होते। कुछ रोग केवल कायिक ही होते है, वाहरी संक्रमणों से होते है। आचार्यवर ने शारीरिक रोग भोगा, पर उनके चित्त ने उन रोगो का साथ नही दिया। उनकी चैतसिक जागृति सदा वनी रही।

अंतिम समय मे उनकी चिकित्सा वैद्य दुर्गाप्रसादजी कर रहे थे। कष्ट-सहिष्णुता और समता अलौकिक थी। जीवन की संध्या में रात्रि के तीन प्रहर स्वाध्याय में विताते, केवल एक प्रहर नीद लेते। स्वाध्याय और ध्यान उनके जीवन के अनन्य सहचर वन गए थे। आचार्यवर की दीर्घ जीवन-यात्रा मे लंवा समय स्वस्थ शरीर और स्वस्थ चित्त के योग का वीता। जीवन-संध्या के कुछ वर्षो मे शरीर कुछ-कुछ अस्वस्थ रहा, फिर भी उनका चैतसिक स्वास्थ्य उत्तरोत्तर प्रगति करता रहा।

वंदना के स्वर

जयाचार्य अपनी तपस्या द्वारा जन-जन के लिए वंदनीय वन गए थे। सभी जातियों और संप्रदायों के लोग उनके पास आते और उनके ज्ञान की गहराई में निमज्जन करते। वंदना के स्वर अपने आप फूट पड़ते।

जोधपुर निवासी भंडारी सुखराजजी अच्छे कवि थे। उनके पास कवियों का दरवार जुड़ता था। एक दिन एक चारण कवि ने कहा—भंडारीजी ! आप जोधपुर नरेश के दरवार में कविता-पाठ क्यों नही करते ? उनकी यशोगाथा क्यों नहीं गाते ? भंडारीजी ने कहा—मेरा संकल्प है कि मैं अपने गुरु के सिवाय अन्य किसी भी व्यक्ति का यशोगान नही करूंगा।

चारण कवि—कल आपको कविता सुनानी होगी, यशोगान करना होगा। महाराजा के आदेश को आप कैसे टाल सकेंगे ?

भंडारीजी—न मेरी कविता होगी और न किसी की यशोगाथा गाऊंगा ? तुम्हें जो कुछ करना हो, सो कर लो। उन्होंने भाव के प्रवाह में तत्काल एक श्लोक रच कर सुनाया—

संघ को रंग रच्यो इण अंग, प्रसंग विरंग न मो मन भासी।
ईभ के अम्व चढचोडो अचंभ, गधेडै रै गल्लर हेत उम्हासी ?
राज को काज करै सुखराज भले पर गाज ओगाज सुणासी।
छन्द कवन्ध को संघ अमंद ओ नन्द सुणासी जठै ही सुणासी॥

सारे कवि मौन थे। चर्चा वही समाप्त हो गई। भंडारीजी ने अपना संकल्प जीवन-भर निभाया। उन्होंने जयाचार्य की वंदना में ही अपने आप को समर्पित कर दिया। उन्होंने आचार्यवर की वंदना में हजारों पद्य लिखे।

निदर्शन के लिए कुछ पद्य प्रस्तुत हैं—

श्याम वरन्न शरीर निको जानु नमि जिनेश्वर आप विराजै ।
वान पियूष भरी जिनकी सब जीव अभै करणी छवि-छाजै ।।
ज्ञान-निधान महान मसीह भये नित जीत गणाधिप गाजै ।
मांडल दूत सबे रहिये, 'सुखराज' फबे सुख-सम्पति काजै ।।

वधता दिन ज्यू प्रभुता बधती, जिन-शासन शोष धर्यो कल से ।
ऋषिराय के पाट विराजत जीत दिवाकर से वरसे जल से ।।
तप तेज लसे 'सुखराज' सदा, कर जोर नमे मन में हुलसे ।
उर ध्याय रहे जग जीत जिको नर ते सुख-सम्पत को बिलसे ।।

दीप की माल कहा ? ज्योतित मसाल कहा ?
रोशनी विशाल कहा ? भूपति के ठान की ।
हीरे द्युति श्वेत कहा ? पन्ने छवि देत कहा ?
चिन्तामणि लेत कहा ? ओपम समान की ,।

नक्षत्रन जोत कहा ? चन्द्र को उद्योत कहा ?
भने सुख होत कहा ? प्रभा शुक्र भान की ।
मेट के अज्ञान तिमि ज्ञान को प्रकाश करै,
सबन से अधिक शोभा जीत भगवान की ।।

अम्बन-अंगूर कहा ? खारक खिजूर कहा ?
ईखू-रस पूर कहा ? छेद जू अनार की ।
मधू वर वृन्द कहा ? मिश्री फिर कन्द कहा ?
रिखीश्वर रंध कहा ? प्रपा धन-धार की ।।

दाख-पुञ्ज-सेव कहा ? मिष्ठ गंज मेव कहा ?
कहा 'सुखराज' मीढ अमृत कासार की ।।
सबसे अधिक्क रती जति-पति जीत-वान ।
आन मधुराई वसी, विविध प्रकार की ।।

चक्रवर्ती निधि कहा ? गणपति की सिद्धि कहा ?
सरस्वती बुद्धि कहा ? ऋद्धि सौनन्द की ।
उदधि की लेर कहा ? घन की उसेर कहा ?
'सुखराज' मेर कहा, वधती नरिन्द की ।।

देव-तरु साख कहा ? कामधेनु लाख कहा ?
हमाउ की पांख कहा ? आंख शुभ इन्द की।
लोक-फल देत तेह, एह 'मुख' मोक्ष देत।
इन ते उदार रीझ, जीत-गण चन्द की ।।

मघवा जयाचार्य के उत्तराधिकारी है। उन्होंने वंदना के स्वरों का संकलन प्रस्तुत किया है—[1]

केई कहे जिन मारग माही, आप है सूर्य जिसा।
केई कहे म्हारे मते फुन आपरे, पिण होना मुसकिल वलि इस
केई कहे गणिराज क, जोति स्वरूप है।
केई कहे ए आज क, ईश्वर रूप है।
केई कहे महाराज, अवतार सु आज है।
केई कहे तारण जाज, वडा जोगीराज है।
जोगीराज है अति आज मोटा, साहाज्य धर्म नो दायका।
अन्यमति नें स्वमति फुन, बोलता इम वायका।

कविराज सांवलदानजी जोधपुर के प्रसिद्ध कवि थे। जयाचार्य के प्रति उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। एक वार वे किसी जैन मुनि के पास गए। उस मुनिवर ने जयाचार्य के वारे में कुछ हल्की बातें कही। कविराजजी को वे अच्छी नही लगीं। उन्होने तत्काल छह दोहे रच वहीं सुना दिए। वे सब दोहे हमें उपलब्ध नही हो सके। उनमें से तीन दोहे ये हैं—

टोलां मांही टालवों, भुजा उठावणहार।
मुंह वंध्या ही गाजणो ओ कुण 'रतन' विचार ।।
जीतमाल दिशि जोडिया, होय होय राजी हाथ।
जम स्यूं पडै ना जोडणा, वाता जग विखियात ।।
अणहूंता अवगुण ग्रहो, वोलो वच वे फेम।
करणी तो करने कहो, तेरापंथ्यां तेम ।।

वंदना के अनेक स्वर आकाश-मंडल में प्रकंपित है। हमने केवल प्रस्तुत किया है एक निदर्शन।

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. १६४।

पारस ज्यों पाहन में, एरापति वाहन में,
चक्री नर-नाहन में, देवन में इन्द है।

अभय-दान दानन मे, शुक्ल-ध्यान ध्यानन में,
केवलज्ञान ज्ञानन में, आनन्द जिनन्द है।
परिजात वृच्छन में, शशि नच्छत्रन मे,
ग्रहनन में भान ज्यों, कुसम अरविन्द है।
स्वयं भू समंदन में, मेरु ज्यों गिरंदन में,
श्रेष्ठ त्यो मुनिन्दन में, जीत गण-चन्द है॥[1]

पूज्य वांदीने पाछा गया जी कांई, रतलाम ना नर वृंद।
वखतगढ ना श्रावक भला जी, आई भेटया भांजण भव फंद।
सावलाजी आइज्यो म्हारे शहर।
पूज्यजी पधारो म्हारे शहर, दिज्यो सुख सायर नी लहर॥

ऋषभदास मोदी ने रंगसू जी, स्वाम कहै संता धारी सीख।
ऋषभ दाखे दयानिधि रे, एक दृष्टांत राजा नो ठीक॥

संभू चाकर सुण उंदरा रे, तू हिवे दिजे समझाय।
मोहरा कोला खावे नही, पदमसिघ पाट पाय॥[2]

महासती गुलावाजी मघवागणी की वहन थी। वे सहयोगिनी थी जयाचार्य की साहित्य साधना मे। उन्होने आचार्यवर के जीवन की अंतिम घड़ी में एक गीतिका रच कर सुनाई। उसका एक पद्य यह है—[3]

आप जिन मग जवर दीपायो, जिन शासन कलश चढायो।
प्रवल तेज प्रताप सवायो, इण आरे अवतर आयो।
भिक्षु शिष्य नीको, वारूं च्यार तीर्थ सिर टीको॥

---

१. सुखसागर।
२. ते आ. खं. २ पृष्ठ १२८ कपूरजी कृत।
३. ते आ ख. २ पृष्ठ १६४ गुलाबांजी कृत।

महाप्रयाण

जयाचार्य ने अपने विद्यागुरु से कहा था—'मृत्यु महोत्सव है। मृत्यु को महोत्सव मानने वाला उसमे नही डरता। उससे डरता वही है, जो उसे भयंकर मानता है।' आचार्यवर उस महोत्सव की तैयारी में संलग्न थे।

जयपुर के साथ उनका कोई प्राकृतिक संबंध था। मुनि जीवन का जन्म वही हुआ और समाधि-मरण की तैयारी भी वही होने लगी।

जयपुर राजस्थान का प्रसिद्ध नगर है। अपने प्राकृतिक और मानव निर्मित सौंदर्य के कारण वह हिंदुस्तान का एक आकर्षक नगर है। उसकी ख्याति गुलाबी नगरी के रूप में है। तेरापंथ धर्मसंघ का यह मुख्य केंद्र रहा है। समय-समय पर सभी आचार्य उसे उपकृत करते रहे है। आचार्य भिक्षु की चरण-धूलि भी वहां टिकी थी। सं० १८४८ मे वे वहाँ पधारे और सागानेर दरवाजे के पास जंवरी बाजार वाली हाटो में ठहरे। बाईस दिन तक वहां विराजे। द्वितीय आचार्य भारमलजी ने वहां चातुर्मास-प्रवास किया। तृतीय आचार्य ऋषिराय ने वहां छह चातुर्मास बिताए। अपने पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों ने जयपुर को जो मूल्य दिया, उसे जयाचार्य ने और आगे बढ़ाया।

सं० १९३७ का चातुर्मासिक-प्रवास संपन्न हो गया। अवस्था बुढ़ापे की ओर जा रही थी, इसके अतिरिक्त और कोई खास कठिनाई नही थी।

स० १९३८ के ज्येष्ठ में अकस्मात् आचार्यवर के गले मे एक गाठ उभर आई। उससे शरीर में काफी वेदना बढ़ गई। आषाढ़ में वह गांठ फूट गई।[1]

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. १८० [जयसुजश, ६१।दो. २]

चातुर्मासिक-प्रवास प्रारंभ हो गया। सावन की फुहारों ने वर्षावास की अगवानी की। जनता ने आकाश में उमड़ती कजरारी घटाओं का स्वागत किया। आचार्यवर ने स्वागत किया समाधि-मरण के पूर्व संकेतो का। सावन आते ही पहला संकेत मिला अरुचि का। आहार की रुचि जीवन का लक्षण है। दूसरा संकेत मिला वार-वार मलोत्सर्ग करने का। आचार्यवर [illegible] संकेत को समझा। श्रावण कृष्णा तृतीया, चतुर्थी और पंचमी को [illegible] मनुष[illegible]न किया। तृतीया के दिन उन्होने केवल पोदीना की चटनी मिला सम[illegible]ल का पानी लिया। चतुर्थी के दिन थोड़ी सी सूठ की 'मोई' और पांच तोला वाजरी की घाट ली। पंचमी के दिन ढाई तोला वाजरी की घाट दो-चार तोला दूध के साथ ली। इसके वाद थोड़ा-थोड़ा अन्न लेना शुरू किया। वह कभी लेते और कभी नही लेते।[1] इस प्रकार संलेखना (समाधि-मरण की तैयारी के लिए की जाने वाली तपस्या) का क्रम शुरू हो गया।

श्रद्धालु श्रावको को पता चला—आचार्यवर अस्वस्थ है। उनकी आहार की मात्रा वहुत कम हो गई है। श्रावकों का मन उद्वेलित हो गया। वे जयपुर पहुंचे। आने वालों के कुछ नामों का मघवा गणी ने उल्लेख किया है—चुरू से सागरमलजी कोठारी और वृद्धिचंदजी सुराणा, जोधपुर से वादरमलजी भंडारी आए। आचार्यवर कुछ स्वस्थ हैं, यह देखकर उन्हे प्रसन्नता हुई। आचार्यवर ने उनसे तत्त्वज्ञान की चर्चा की। कुछ दिन ठहर कर वे अपने-अपने स्थान पर चले गए।[2]

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन अकस्मात् लाला भेरूलालजी अस्वस्थ हो गए। वे आचार्यवर के परम श्रद्धालु थे। आचार्यवर ने मध्याह्न के समय उन्हे दर्शन दिए और उन्हें मृत्यु को महोत्सव मानने के लिए पूर्णरूपेण तैयार कर दिया। सायंकाल फिर उनके पास पधारे और शरणसूत्र के द्वारा उन्हें समाधि-मरण की प्रेरणा दी। उसी पूर्णिमा की रात्रि मे लालाजी का स्वर्गवास हो गया।[3] एक भक्त को अपने आराध्य का विछोह देखना नही पड़ा।

लालाजी जयपुर के प्रतिष्ठित नागरिक थे। उनकी मृत्यु के वाद संवेदना प्रगट करने वालो का ताता लग जाएगा, इस स्थिति को ध्यान में

१ ते. आ. ख २ पृ १८३ [जयसुजश, ६२।दोहा १-६]
२ ते आ. ख. २, पृ. १८३,१८४ [जयसुजश, ६२।३-६[
३. ते आ. ख २, पृ १८४ [जयसुजश, ६२।६-११]

रख आचार्यवर लालाजी की हवेली से सरदारमलजी लूणिया की हवेली में पधार गए। भाद्र कृष्णा एकम के दिन स्थान-परिवर्तन किया। एक दीर्घ पदयात्री ने आज कुछ पदो की यात्रा में ही थकान का अनुभव किया। उस दिन केवल चार तोला दूध लिया। शाम को कुछ भी नही लिया। द्वितीया के दिन ढाई तोला दूध एक मासा सूठ के साथ लिया। तृतीया के दिन भी सूंठ मिला दूध लिया। शाम को कुछ भी नही लिया। चौथ के [illegible] ट्टग्ण (नाभि के पास की नाड़ी) को स्थान स्थित करने के लिए [illegible] का दवाव से चिकित्सा की गई। उसके वाद सूठ की 'मोइ' ली। कुछ [illegible] कहा—इस चिकित्सा के वाद वरफी लेनी चाहिए। लोगों के कहने से चार-पांच मासा वरफी ली, पर उसका परिणाम ठीक नहीं रहा। उसने शौच-क्रिया को गडवड़ा दिया। पंचमी के दिन फिर धरण की नाड़ी-चिकित्सा की गई। उसके वाद ढाई तोला वाजरी की घाट डेढ़ तोला दूध के साथ ली। शाम को वहुत अनुरोध करने पर एक कोर लिया। अन्न की अरुचि होने के कारण वह भी खाया नहीं जा सका।[1]

पंचमी के दिन युवाचार्य मघवा ने प्रार्थना की—'यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपको आराधना सुनाना चाहता हूं—वह आराधना, जो आपकी कृति है। वह आराधना, जो मृत्यु को महोत्सव मानने के मानस का निर्माण करती है और कायर में भी पराक्रम की ज्योति प्रज्वलित कर देती है।'

आचार्यवर ने कहा—मै सुनना चाहता हूं, तुम सुनाओ। आचार्यवर की स्वीकृति पा युवाचार्य ने आराधना की प्रथम गीतिका का संगान किया। आचार्यवर ने पूरी सजगता से उसे सुना। युवाचार्य ने दो-तीन गाथाएं छोड़ दीं, तव आचार्यवर ने कहा—कुछ गाथाएं छूट गई है। युवाचार्य ने कहा—हां, दो-तीन गाथाएं मैंने छोड़ दी है।

छठ के दिन ढाई तोला वाजरी की घाट ली। शाम को मुनियों का अनुरोध मान ढाई तोला गेहूं का पटोलिया लिया। उस दिन आराधना की सात गीतिकाएं सुनीं। पांच महाव्रतों का पुनरुच्चारण किया। प्राणीमात्र से क्षमायाचना की। साधु-साध्वियों, संपर्क में आने वाले अन्य संप्रदाय के साधु-साध्वियों, संघ से पृथग्भूत साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं से

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. १८५ [जयसुजश, ६२।१२-१६]

क्षमा-याचना कर अपने मन को निर्भार बना लिया।[1] छठ के दिन सांझ के समय आचार्यवर सरदारमलजी लूणिया की हवेली से फिर लालाजी की हवेली में पधार गए।[2]

सप्तमी का सूर्योदय हुआ। रात को न दवा, न आहार और न जल। जैन मुनि की यह सामान्य चर्या है। उस दिन ढाई तोला दूध और दवा ली। अ[illegible]की नवी और दसवीं गीतिका सुनी।

[illegible] इन दिनों आचार्यवर का अधिक समय स्वाध्याय और ध्यान मे ही बीतता था। शेष कार्यों की देख-भाल युवाचार्य करते थे। वैद्य दुर्गाप्रसादजी नाड़ी देखने आए। आचार्यवर की आखे मुदी हुई थी। साधु बोले—वैद्य दुर्गाप्रसादजी आए है। आचार्यवर बोले नही। तब साधुओ ने सोचा—आचार्यवर के या तो मौन है या उन्हें नीद आ रही है। सब आचार्यवर के बोलने की प्रतीक्षा करते रहे। थोड़ी देर बाद आचार्यवर ने कहा—मैं ध्यान में था, इसलिए नही बोला।[3] शरीर अपना काम कर रहा था, रोग अपना काम कर रहा था, आचार्यवर अपना काम कर रहे थे। समाधि-मरण की तैयारी में इन तीनों में न झगड़ा होता और न एकता होती, सब अपने-अपने काम में लगे होते हैं।

अष्टमी के दिन थोड़ी घाट और थोड़ा दूध लिया। दवा ली और कुछ भी नही लिया।

नवमी के दिन दवा और जल लिया। साध्वियों ने बहुत आग्रह किया—आप कुछ आहार करे, पर आचार्यवर ने उस आग्रह को स्वीकार नहीं किया।

दशमी के दिन दो मुहूर्त्त दिन चढ़ने तक चारो आहार का त्याग कर दिया। समय की सीमा पूरी हुई तब साधु-साध्वियो ने आहार करने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध को स्वीकार कर आचार्यवर ने सवा तोला दूध और इतनी ही बाजरी की पतली घाट ली।

मलोत्सर्ग की गड़बड़ चल ही रही थी। शरीर बहुत दुर्बल हो गया। समभाव और पराक्रम प्रबल होता गया। शारीरिक दुर्बलता के कारण कभी-

---

१. ते आ. ख. २, पृ. १८७,१८८ [जयसुजश, ६३।५-७]

२ ते. आ. ख २, पृ १८९ [जयसुजश, ६३।१२]

३. ते. आ. ख. २, पृ. १९० [जयसुजश, ६४।दोहा १-४]

रख आचार्यवर लालाजी की हवेली से सरदारमलजी लूणिया की हवेली में पधार गए। भाद्र कृष्णा एकम के दिन स्थान-परिवर्तन किया। एक दीर्घ पदयात्री ने आज कुछ पदों की यात्रा में ही थकान का अनुभव किया। उस दिन केवल चार तोला दूध लिया। शाम को कुछ भी नहीं लिया। द्वितीया के दिन ढाई तोला दूध एक मासा सूठ के साथ लिया। तृतीया के दिन भी सूंठ मिला दूध लिया। शाम को कुछ भी नही लिया। चौथ के [illegible] (नाभि के पास की नाड़ी) को स्थान स्थित करने के लिए [illegible] का दवाव से चिकित्सा की गई। उसके वाद सूंठ की 'मोइ' ली। कुछ [illegible] कहा—इस चिकित्सा के वाद वरफी लेनी चाहिए। लोगों के कहने से चार-पांच मासा वरफी ली, पर उसका परिणाम ठीक नही रहा। उसने शौच-क्रिया को गडवड़ा दिया। पंचमी के दिन फिर धरण की नाड़ी-चिकित्सा की गई। उसके वाद ढाई तोला वाजरी की घाट डेढ़ तोला दूध के साथ ली। शाम को वहुत अनुरोध करने पर एक कोर लिया। अन्न की अरुचि होने के कारण वह भी खाया नही जा सका।[1]

पंचमी के दिन युवाचार्य मघवा ने प्रार्थना की—'यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपको आराधना सुनाना चाहता हूं—वह आराधना, जो आपकी कृति है। वह आराधना, जो मृत्यु को महोत्सव मानने के मानस का निर्माण करती है और कायर में भी पराक्रम की ज्योति प्रज्वलित कर देती है।'

आचार्यवर ने कहा—मैं सुनना चाहता हूं, तुम सुनाओ। आचार्यवर की स्वीकृति पा युवाचार्य ने आराधना की प्रथम गीतिका का संगान किया। आचार्यवर ने पूरी सजगता से उसे सुना। युवाचार्य ने दो-तीन गाथाएं छोड़ दीं, तव आचार्यवर ने कहा—कुछ गाथाएं छूट गई है। युवाचार्य ने कहा—हां, दो-तीन गाथाएं मैंने छोड़ दी हैं।

छठ के दिन ढाई तोला वाजरी की घाट ली। शाम को मुनियों का अनुरोध मान ढाई तोला गेहूं का पटोलिया लिया। उस दिन आराधना की सात गीतिकाएं सुनीं। पांच महाव्रतों का पुनरुच्चारण किया। प्राणीमात्र से क्षमायाचना की। साधु-साध्वियों, संपर्क में आने वाले अन्य संप्रदाय के साधु-साध्वियों, संघ से पृथग्भूत साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं से

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. १८५ [जयसुजश, ६२।१२-१६]

क्षमा-याचना कर अपने मन को निर्भार बना लिया।[1] छठ के दिन सांझ के समय आचार्यवर सरदारमलजी लूणिया की हवेली से फिर लालाजी की हवेली में पधार गए।[2]

सप्तमी का सूर्योदय हुआ। रात को न दवा, न आहार और न जल। जैन मुनि की यह सामान्य चर्या है। उस दिन ढाई तोला दूध और दवा ली। अनुष्टुप् की नवी और दसवी गीतिका सुनी।

सम। इन दिनों आचार्यवर का अधिक समय स्वाध्याय और ध्यान में ही बीतता था। शेष कार्यो की देख-भाल युवाचार्य करते थे। वैद्य दुर्गाप्रसादजी नाडी देखने आए। आचार्यवर की आंखें मुदी हुई थी। साधु बोले—वैद्य दुर्गाप्रसादजी आए हैं। आचार्यवर बोले नही। तब साधुओं ने सोचा—आचार्यवर के या तो मौन है या उन्हें नीद आ रही है। सब आचार्यवर के बोलने की प्रतीक्षा करते रहे। थोड़ी देर बाद आचार्यवर ने कहा—मैं ध्यान में था, इसलिए नही बोला।[3] शरीर अपना काम कर रहा था, रोग अपना काम कर रहा था, आचार्यवर अपना काम कर रहे थे। समाधि-मरण की तैयारी में इन तीनों में न झगड़ा होता और न एकता होती, सब अपने-अपने काम में लगे होते है।

अष्टमी के दिन थोड़ी घाट और थोड़ा दूध लिया। दवा ली और कुछ भी नही लिया।

नवमी के दिन दवा और जल लिया। साध्वियों ने बहुत आग्रह किया—आप कुछ आहार करे, पर आचार्यवर ने उस आग्रह को स्वीकार नहीं किया।

दशमी के दिन दो मुहूर्त्त दिन चढ़ने तक चारों आहार का त्याग कर दिया। समय की सीमा पूरी हुई तब साधु-साध्वियों ने आहार करने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध को स्वीकार कर आचार्यवर ने सवा तोला दूध और इतनी ही बाजरी की पतली घाट ली।

मलोत्सर्ग की गड़बड़ चल ही रही थी। शरीर बहुत दुर्बल हो गया। समभाव और पराक्रम प्रबल होता गया। शारीरिक दुर्बलता के कारण कभी-

---

१. ते. आ. ख २, पृ. १८७,१८८ [जयसुजश, ६३।५-७]

२ ते. आ. ख २, पृ १८९ [जयसुजश, ६३।१२]

३. ते. आ. खं. २, पृ. १९० [जयसुजश, ६४।दोहा १-४]

कभी मींट रहने लगी। पर अन्तश्चेतना में पूरी जागरूकता थी। आहार करते ही खान-पान का त्याग कर देते, यह क्रम लंबे समय से चल रहा था। शरीर के प्रति ममत्व का सूत्र पहले ही क्षीण था, अब वह क्षीणतर हो गया। वैराग्य प्रबल हो गया। बोलने की शक्ति कम हो गई।

सांझ के समय आचार्यवर बैठे थे तब युवाचार्य मघवा तथा अन्य साधुओं ने आचार्यवर से प्रार्थना की—यदि आप चाहे तो दवा [illegible] के अतिरिक्त अनशन स्वीकार करा दे। आचार्यवर ने अपनी स्वीकृ[illegible] युवाचार्यश्री ने दूसरी बार फिर पूछा तो दूसरी बार फिर स्वीकृति मिली। तब युवाचार्य ऊंचे स्वर में बोले, जब तक आप के शरीर की यह स्थिति है तब तक दवा और जल के अतिरिक्त शेष आहार करने का आपको त्याग है।

ग्यारस का प्रभात हुआ। युवाचार्य और अन्य साधु आचार्यवर की उपासना में बैठे थे। वे आतरिक जागरूकता बनाए रखने के लिए शरणसूत्र का उच्चारण करते रहते—'आप अर्हत् की शरण स्वीकार करें, सिद्ध की शरण स्वीकार करें, साधु की शरण स्वीकार करें, धर्म की शरण स्वीकार करें।

साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी ने भी समाधि बनाए रखने में बड़ा सहयोग दिया। सभी साध्वियां आचार्यवर की समाधि के प्रयत्न में लगी हुई थी।

सहिष्णुता को बनाए रखने के लिए अतीत के पराक्रमी मुनियो के चरित्र बार-बार सुनाए।

आचार्यवर के आस-पास समूचा वातावरण समाधि, समता, पराक्रम, सहिष्णुता और जागरण का हो रहा था।

बारस का सूर्य अनेक घटनाओं के साथ उदित हुआ। आचार्यवर की शारीरिक क्षमता बढ़ती जा रही थी। राजगढ़ (चूरू) से जीतमलजी पारख आए हुए थे। वे नाड़ी-परीक्षा में बहुत कुशल थे। उन्होंने आचार्यवर की नाड़ी देख युवाचार्यवर से कहा—अब आजीवन अनशन का उचित समय आ गया। नाड़ी की गति बहुत क्षीण हो चुकी है। अब यह शरीर ज्यादा टिकेगा नही। मुनिगण तथा अन्य श्रावको ने भी पारखजी की बात का समर्थन किया।

ग्यारह पर पचीस मिनट हुए थे। आचार्यवर बैठे हुए, तब युवाचार्य मघवा ने प्रार्थना की—आचार्यवर ! शरीर की स्थिति पल-पल विषम होती जा रही है। यदि आप उचित समझे तो आपको आजीवन अनशन

करा दे। दो-तीन बार इस बात को दोहराया। आचार्यवर ने युवाचार्य की बात पर अपनी स्वीकृति दी। तब युवाचार्य ने विधिवत् अनशन स्वीकार करा दिया।

युवाचार्य ने कहा—'गुरुदेव ! मै तुम्हारी शरण में हूं। तुमने मुझे ज्ञान और चारित्र दोनों दिए है। तुम दिनमणि हो। तुमने हजारों-हजारों मनुष्यों के हृदय को आलोकित किया है। तुमने सैकड़ों साधु-साध्वियो को समाधि-मरण का संबल दिया है। तुमने तेरापंथ के कल्पतरु को अनुशासन और व्यवस्था के सुरभित सलिल से अभिषिक्त किया है। तुमने सफलता के साथ सारे कार्यो का संचालन किया है। सफलता तुम्हारे चरण चूमती रही है। तुमने स्वाध्याय-ध्यान की एक धारा बहाई है। जो भी तुम्हारे संपर्क में आया, वह सुलभबोधि बना है। तुम्हारा जीवन कृतार्थ है। हम सब युग-युग तक तुम्हारे कृतज्ञ रहेगे। अब तुम्हारा मन केवल आत्मानुभव मे रहे। हे आराधना के संगायक ! तुम्हारी आराधना हम सब के लिए एक दिशा बनेगी। युग-युग तक उसी दिशा में साधक प्रस्थान करते रहेंगे।

आचार्यवर स्वयं समाधि में लीन थे। युवाचार्य की वाणी ने उन्हें और अधिक समाधिस्थ कर दिया।'

आचार्यवर के अनशन की बात सारे नगर मे फैल गई। हजारों-हजारो लोग दर्शन के लिए आने लगे। जैन और अजैन सभी लोग जयाचार्य के प्रति श्रद्धा रखते थे। उनके मन मे दर्शन की प्रबल भावना थी। लोग आ रहे थे, जा रहे थे। लालाजी की हवेली के आस-पास नाना स्वर सुनाई दे रहे थे। कुछ लोग कहते है—आप जैन धर्म के सूर्य हैं। कुछ कहते है—ऐसे आचार्य भविष्य में कम होगे। कुछ कहते है—ये ज्योति स्वरूप है। एक स्वर उभरता है—ये ईश्वर के रूप है। एक स्वर है—ये अवतार है। कुछ लोगों का मत है—ये सबसे बड़े योगिराज है। भिन्न-भिन्न चिंतन के लोग भिन्न-भिन्न स्वरों में अपने हृदय के उद्गार प्रगट कर रहे थे।

आचार्यवर शांत मुद्रा और समाधि की अवस्था में लेटे हुए थे। सूर्य अस्त होने जा रहा था। लगभग सत्तर मिनट दिन शेष था, तब युवाचार्य ने पूर्ण अनशन करा दिया। अभी जल पीने की छूट थी। उसका भी परित्याग करा दिया। अब आचार्यवर का जीवन भोजन की दृष्टि से अनाहार हो गया।

युवाचार्य, मुनिगण और साध्वीगण सभी ने अपनी पूरी शक्ति आचार्यवर की समाधि-साधना में नियोजित कर रखी थी। वे अब पल-पल जागरूक थे और आचार्यवर की जागरूकता में निमित्त बन रहे थे। युवाचार्यवर नमस्कार महामंत्र और शरणसूत्र सुना रहे थे। पूरा वातावरण मंगल भावना से महक रहा था। आचार्यवर ने दो-तीन हिचकिया ली। सबके देखते-देखते नेत्र-द्वार से प्राण बाहर चले गए। एक महाज्योति तिरोहित हो गई। सब चित्रवत् उस दृश्य को देखते रहे। युवाचार्य ने लिखा है—'जयाचार्य का महाप्रयाण बहुत अप्रिय लगा, पर मृत्यु एक सार्वभौम नियम है। इसे कोई बदल नही सकता। यह सोच मन को समता मे प्रतिष्ठित किया।

युवाचार्य ने तत्काल अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा—हे आत्मानुशासन और अनुशासन के मंत्रदाता! तुम्हारे जैसे आचार्य का अवतरण कभी-कभी होता है इस धरती पर। हे आगम-कामदुघा के दोहक! तुमने आगम-श्रुत का इतना दोहन किया कि सैकड़ों-सैकड़ो वर्षो तक उसका पान किया जा सकेगा। हे अतिशयधर! तुम्हारे गुणों की स्मृति होते ही मन आह्लाद से भर जाता है। हे महाकल्याण! तुम अपना कल्याण और जन-जन का कल्याण कर स्वयं कल्याण हो गए।

चरम कल्याण

परंपरा के अनुसार आधा घंटा से अधिक समय तक आचार्यवर के दिवंगत शरीर के आस-पास शातभाव से सब बैठे रहे। इस अवधि में प्राण-स्पंदन का कोई भी लक्षण प्रतीत नही हुआ, तब शरीर को सर्वथा प्राणमुक्त जान उसका विसर्जन कर दिया। श्रावकगण ने उसे अपने अधिकार मे ले लिया। जीवनकाल में जिस शरीर का संबंध साधुओं से था, वह शरीर अब श्रावकों के हाथों में आ गया। सूर्यास्त होते-होते यह सारी प्रक्रिया संपन्न हुई। महाज्योति के जाने के बाद जो अंधकार होता है, वही अंधकार अब भूमि पर उतरने लगा। लोगों ने त्रयोदशी के दिन सूर्य के साक्ष्य से दाह-संस्कार का निर्णय लिया।

युवाचार्य तथा समूचा संघ दिवंगत आत्मा के प्रति कल्याण-भावना और अपनी मध्यस्थ भावना के लिए कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठ गए। उस

मुद्रा में शक्रस्तुति (लोगस्स सूत्र) की ध्यान में चार आवृत्तियां की। धर्मसंघ में नए युग का प्रारंभ हुआ। पांचवें आचार्य का शासन प्रवृत्त हो गया।

रात के समय मूसलाधार वर्षा हुई। रात-भर वर्षा होती रही। इधर आचार्यवर के शरीर के आस-पास आराधना और स्तुति पदों की वर्षा होती रही। त्रयोदशी का सूर्योदय हुआ। अब भी आकाश बादलों से घिरा हुआ था। मंद-मंद फुहारें गिर रही थी। लोग चिंतित थे। वर्षा उनके कार्यक्रम में विघ्न डाल सकती थी। महान् आचार्य के शरीर को बैकुंठी में बिठाया गया तब भी फुहारें गिर रही थी। जैसे ही बैकुंठी आगे बढी, बूंदें बंद हो गईं और बादल फट गए। अभ्रमुक्त आकाश सूर्य की रश्मियों से उद्योतित हो उठा।

नगर-परिक्रमा में जयाचार्य के चरम-कल्याण का सजीव वर्णन किया गया है। प्रसंग यहां से शुरू होता है।

"जयपुर में जैन-धर्म और जैनियों का दौरदौरा महाराजा जयसिंह के काल से भी बहुत पहले से चला आ रहा था, फिर यह कैसे हो सकता था कि जयाचार्य जैसे मनीषी विद्वान्, स्वाध्यायी, ध्यान और साहित्य-साधना में रत धर्माचार्य इस नगर में जब-तब आकर प्रवास करते और रामसिंह जैसे गुणग्राही महाराजा की दृष्टि से छिपे रह जाते। समदर्शी महाराजा ने सद्विचारों, उच्च कल्पनाओ और ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने दिल-दिमाग की सारी खिड़किया खोल रखी थी। अच्छे विचारों को वे सभी दिशाओं, सभी धर्मो, सभी वर्गों और सभी व्यक्तियों से ग्रहण किया करते थे। इस बात के पुष्ट प्रमाण भी मिले है कि जयाचार्य के प्रति भी (जिनकी आरम्भिक दीक्षा नौ वर्ष की आयु में जयपुर मे ही हुई थी) महाराजा रामसिंह का विशेष आकर्षण हुआ था।

"महाराजा रामसिह आयु में जयाचार्य से पूरे इकतीस वर्ष छोटे थे, फिर भी दैवगति कि महाराजा केवल ४७ वर्ष की आयु (सं० १६३७) में परलोकवासी हुए और उसके अगले ही वर्ष जयाचार्य का ७८ वर्ष की आयु में निर्वाण हुआ।

"जयाचार्य से इकतीस वर्ष छोटे महाराजा रामसिंह १८८० ई० में दिवंगत हुए और जयाचार्य १८८१ ई० में। जयपुर के प्रशस्त राजमार्गों पर वर-यात्राएं या बारातें तो आरम्भ से ही दर्शनीय होती आई है, किन्तु

सन् १८८० और १८८१ में इन महाराजा और इन धर्माचार्य की जैसी शव-यात्राएं निकलीं, वे भी इस नगर में अविस्मरणीय और ऐतिहासिक थीं।

'मंदिरों, चैत्यालयों और ग्रन्थ-भंडारों से परिपूर्ण जयपुर को भारत भर के दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन---दोनों ही एक पवित्र नगरी मानते आये हैं। जयाचार्य जैसे मनीषी धर्माचार्य के निर्वाण ने इस नगरी की महत्ता और पावनता में और वृद्धि कर दी।'

उनकी चरम-कल्याण यात्रा उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही निकाली गई। जयपुर नगर में उस समय बैठक की मुद्रा में किसी की बैकुण्ठी नही निकलती थी, किन्तु विशेष राजाज्ञा-प्राप्त कर जयाचार्य के पार्थिव शरीर को इक्यावन कलशों के विमान मे आसीन किया गया और पूरे शासकीय लवाजमे के साथ उनकी चरम-कल्याण यात्रा जौहरी बाजार से त्रिपोलिया, किशनपोल और अजमेरी दरवाजे से होकर सरदारमल लूणिया के बाग मे पहुंची, जहा अन्त्येष्टि सम्पन्न हुई।'

इस ऐतिहासिक शव-यात्रा का वर्णन किशोरीदास धूपिया नामक एक श्रावक ने, जो उदयपुर का निवासी था और उस समय वह यहां आया हुआ था, जयाचार्य के निर्वाण के पांच दिन बाद अपने परिजनों को भेजे एक पत्र में किया था। इस प्रसंग मे उस पत्र के कुछ अंश उद्धृत करने योग्य है—

"जोग लिखी सवाई जयपुर से ताराचन्द ढीलीवाल चित्तौडवाल तथा किशोरीदास धूपिया श्री उदयपुर वाला का धर्म-स्नेह बंचस्यो। अठै श्री पूज्यजी महाराज श्री १००८ श्री जीतमलजी महाराज रा शरीर के कारण छो सो भादवा वदी १० ने सागारी-संथारो करायो और बुधवार सूं दोपहर तिविहार संथारो किधो और दिन घडी दोय रहता जावजीव संथारो हुयो। सो दिन वढतां सकल कारज सिद्ध कर सेज्या-संथारो शरीर छोड़ घणां सुख देवलोक में जाय विराजमान हुआ।

"खेद (रोग का प्रकोप) भादवा वदी २ उपजी, जी दिन थी विमाण (विमान जैसी बैकुण्ठी) वणावा लागा और शहर में हजारा मनुष्य दिन-प्रति श्रीजी का दर्शण करवा लागा। सव जात का धर्म-महोत्सव के वास्ते लवाजमा के ताईं पोहकरण के ठाकुरा का कामदार का वा कुचामण का ठाकुर राव बहादुर केशरीसिंहजी का कागद ठाकुर साहब गोविन्दसिंहजी को रावलजी साहब का नाम का भण्डारीजी बहादुरमलजी लिख कर भेज्या।

तिस पर से लवाजमा का हुक्म हुवा। बैठा निकालना और अजमेरी दरवाजे की परवानगी हो गई सो विमाण बारा-वारा तिबारा की, जी-ऊपर बीच में तो गुमट अर चौतरफो तोरण। जी पर सोने-रूपै का वो गगा-जमुनी कलश ५१, तिवारा में सिंहासन, सोने की जरी।

"वाहर की तरफ सोने जरी मंढचो हुयो और छत बंधी हरचा—पारचा सूं, गुमट हरी सारण सुनहरी गोटा लहकमा और लप्पो गोटा चाहे जठे। बारा ही तिबारा के छज्जा के सिंहासन के फिरनी। विमान के बाहिर की तरफ किरण रूपहरी, सनुमुख तिबारां के छाजा, सांचा मोतियां की लडचां और छतबंधी सिंहासन पर मोतिया का लड़, चन्द्रवे गंगाजमुनी वादला की फूदचां। सूरजमुखी चादर, चांदी की बारचां के साईवान के चांदी की सूरजमुखी दो और सोने का गोटे की डण्डिया लगी हुई। साचा मोत्यां को तिलक, सोने री जडाऊ मुख-वस्त्रिका। लवाजमा माहे हाथी दोय—एक पर तो निशान, दूसरो होदे को, जीमें सोने-रूपे रा फूल, कलदार रुपइया उण होदा मे सू उछाल करता हुता।

"छाडचा दोय, सोटा दोय चादी का, घोडा १३ कोतल नगारा-निसाणका, घोडा चिराग २०, निलगाण की पलटण का पहरा ४, कोटवाली का जवान १०, ढलेत दोय, साठ वार, साथ हरकारा दोय, पुलिस का जवान ५, वाजा पांच प्रकार ना मुंडे आगे नृत्य करता, दोय तरफ चमर करता, जय-जय शब्द करता सिरे वाजार तिरपोलिया के आगे होकर विमान मै बैठा हुआ लाखा मिनखा रा ठाठ स्यू अजमेरी दरवाजे होयकर सरदारमल लूणियां रा वाग में, चन्दन, अगर, तगर, केसर, कस्तूरी, कपूर, घृत में काया को संस्कार किधो। रुपइया हजाराई विमान के सिर लागा और हजारांई उछाल में लागा। सागी जिनराज के देव उच्छव करे उणी चाल की छवी सू ओच्छव हुवो। सो स्वमती सब इचरज पाया, जिन शासन को उद्योत घणो अधिको दिख्यो। लोक गुण-गाम करता बोल्या—इसो ओच्छव आगे हुवो नही, ऐसा जोगीश्वर हजारा कोसा में देख्यां नही, सुण्या नही। इसो हंगामो तो हजारा कोसा में देख्यो-सुण्यो नही, ए तो अमर है। हजारा मिनखा रै देखवा वास्ते किधो है, जीसा पुरुष जी काम उठ्या वो कारज सिद्ध कर पण्डित-मरण आराधक पद पाय देवलोक मे जाय विराजमान हुआ और ईं भरत क्षेत्र में सूरज समान था। अवतारी पुरुष श्रुतकेवली पूज्य

भगवान् जिस्या जिन शासन का पातशाह जिसा हा।

"ह्विवै पूज्य भगवान् महाराजाधिराज श्री १००८ श्री मघराजजी महाराज च्यार-तीर्थ के माथे नाम था, जो काल्ये वण रह्या है। अहो च्यार तीर्थ का भाग जो ऐसा चेला गुरां का सकल कारज सिद्ध कीधा और तीर्थ आशापूर्ण में कल्पवृक्ष चिंतामणि कामधेनु समान।

"महागुरुणी श्रीजी १०८ श्री गुलाब कुंवरी, सुरतरु समान या जिन-शासन में अधिक-अधिक गुण आगला। संत-सत्यां में सोही ऐसा ही शुभ नीति श्रावक, इण शासण को कोटि जिह्वा कर गुण वर्णन में पार पावे नहीं।

"श्रावक ताराचंदजी ढीलीवाल रुपिया ५००)पाना में मांड्या। रु० ५२५) मेल्या और सिवाय शाल जोडा दोय, एक सफेद श्रीजी ने धारण करायो, दूसरो सुरख (सुर्ख) नीचे विछायो। कीमत रुपइया अढाइसौ-तीन सौ। चद्दर रुपहरी आसावरी। जातरी सत्ताईस गावां का हजारां कोशां का आया। ज्यांरी भूरामलजी पटोलिया, सिरदारमलजी लूणिया आदि देई श्रावक इन शासण रा उद्योत में अन्तरंगा, प्रीत स्यू महनत करी। मिली भादवा वदी १३ सं० १९३८ शुभम्।

"भादवा सुदी २ शुक्रवार श्रीहजूर साहव साढ़े ग्यारह वजे पाट विराज्या। च्यार तीर्थ का थाठ। २८ गावा का जातरी, हजार-हजार कोशां का हाजिर। रुपया पनरेसे (पन्द्रहसौ) आसरै खरचाना दुसाला, मांगा थान, रुपिया प्रदेशा सूं दीया।

"फेर धर्म समाधी दीक्षा देण हवेली के पास ठठेरा का कुवां जहां श्री महादेवजी का मन्दिर, जहां वट वृक्ष के उठे दीक्षा उचराई। हरियाणा देश का भाया हरदयालजी हा। पाछा हवेली में पधारचा। धर्म-देसणा दीधी। सागी जिनराज के देव-मनुष्य ओच्छव करै, वैसी छटा देख स्वमती-अन्यमती चकित भया। श्रीजी (आचार्यश्री) गोचरी उठचा। पहिलां हमारे डेरे पधारचा। यू ही श्री महासतियांजी पिण पगल्या कीधा, संत-सत्यां के वृन्द स्यूं। श्रीहजूर अमृत सूं वृष्टि करके मारा ही व्रत सागे नीपना। जी से आनन्द अंग में नांहि समायो। कीर्त्ति श्री मघराजजी की मिति भादवा सुदी २, सं० १९३८, वैद्यराज किशोरदास घूपिया उदयपुर वाला।"

इस समसामयिक पत्र में जयाचार्य की अन्तिम यात्रा के साथ-साथ महाराज अथवा पांचवे आचार्य मघवागणी के पाट वैठ कर जयाचार्य के

उत्तराधिकारी बनने तथा उस समय जयपुर मे श्रावको के जमघट और उत्सव आदि के सम्बन्ध में भी कतिपय महत्वपूर्ण सूचनाएं आ गई है। सारे विवरण से स्पष्ट है कि जयाचार्य का 'चलावा' उनके भक्त श्रावकों ने राजसी ठाट-बाट से किया था, जिसे उस समय 'न भूतो न भविष्यति' माना गया था।[1]

सुखराजजी भंडारी ने जयाचार्य की चरम-कल्याण यात्रा का एक कविता में यथार्थ चित्रण किया है—

विद भाद्र द्वादशी जीत स्वाम, परलोक सिधारे स्वर्ग धाम।
चर मोच्छव महिमा कीध दास, वरणू जु ऐम कवियण विमास।।
वणवाय जबर अति ही बिमाण, अरु मडित कर साटण सु आण।
तिण ऊपर सुवरण कलश जाण, तिहसिरे जु बहु तुर्रा बखाण।।
सूरज मुखिया पुनि आण वेस, घर धजा-पताका अति विशेष।
पिछवाय चंदवो वर वणाय, मुक्ता झालर लुम्बा लगाय।।
जर किरण-किनारी विविध भान्त, जिह ठोर-ठोर शोभित नितान्त।
जिह मझ कनकासन धर्यो आंण, तकिया गादी मखमलिय जाण।।
पुनि लाल दुशालो वर विछाय, मझ व्राजमान किय जीतराय।
नग-जडित कनक मुखपतिय जाण, ओढाय दुशालो श्वेत आंण।।
इह भान्ति निकासी होत जीत, दरबार हुते आया पुनीत।
वर छत्र चंवर होवत सकाज, पुनि जान विविध बाना सुसाज।।
हय-करि-पलटन-प्यादा अनेक, वाजित्र बीण इत्यादिक केक।
घुरै घोर नगारा पुनि निसाण, कर ज्वलित मशाला जलै जाण।।
पूरो लवाजमो विविध सोय, छिब अधिक रहे नर नार जोय।
गजराज एक पर होद मंड, धर फूल हेम रूपे अखंड।।
पुनि भरे रुपैये नगद आण, इह भान्त भई जु उछाल जाण।
इम होय सिरे बाजार मांय, आवंत तठे नर-नार आय।।
लाखांइ मिल जोवत सकोय, पुनि कहत इसो मोच्छव सुसोय।
श्रवणा न सुण्यो दीठो न कोय, पुनि विविध भांति लौकिक विलोय।।

१. जयाचार्य : एक रेखा चित्र, नन्दकिशोर पारीक, पृ. ४२-४८।

जोगेन्द्र जीत सा अवर कोय, दीठा न सुण्या इह समय जोय।
इण भान्ति लोक जय जय करंत, अणमती आदि दे तिकण तंत ॥
वर किशनपोल दरवाजे होय, राजादि जात नही अवर कोय।
तिह पोल हुते निकसे गणिन्द, पहुंचे जु वाग में अतिहिमन्द ॥
वह वाग लूणिया जाति जोय, सरदार मल्ल को कहत लोय।
जिह वाग मंझ संस्कार कीध, वर अगर चंदण विच दाग दीध ॥
महा भाग्यवान अतिशय अपार, जति हुते जीत अति ही उदार।
जैसो जु महोच्छव चरम होय, महिमा जग प्रगटी विविध जोय ॥
ए सकल काम सावद सुजान, जिह मज्झ न धर्म न पुन पिछान।
लौकिक शोभा हित करत लोय, जिह माझ प्रभू आज्ञा न कोय ॥
गणनाथ अनघ गुणधाम जीत, प्रगट्यो जग उज्वल जस पुनीत।
गुण सुजश पार पावत न कोय, जो कहत देव इन्द्रादि लोय ॥
सुखराज निहार्यो जिस्यो नैण, नहिं भाषा वोलण सकै वैण।
जयपुर जन मुख-मुख जीत जीत, दिखला गये जीत अतीत-रीत ॥

स्मारक

रामनिवास वाग मे म्यूजियम की इमारत के पूर्वी पार्श्व में जयाचार्य की समाधि धवल संगमरमर के चवूतरे पर इसी पाषाण की एक कमनीय छत्री यद्यपि उनके श्रद्धालु अनुयायियों ने ही वनवाई है, किन्तु भक्तों के भाव और आस्थावानो के विश्वास जहां जम जाते है वहां जम ही जाते हैं, हिलते नही। जिस आनन्द-उछाह के साथ जयाचार्य की आरम्भिक दीक्षा, अनेक चातुर्मास और धूम-धड़ाके के साथ उनका अन्तिम-संस्कार इस गुलावी नगरी में हुआ, इससे इस जैन-संत के प्रति अनेक जैनेतर लोगों को भी लगाव हो गया। जयाचार्य का स्थान एक पवित्र और पूजनीय स्थान वन गया। आज भी इस समाधि पर केशर, चन्दन और फूलों की सुगन्ध छाई रहती है और यह सुरभि विखेरने वाले जयाचार्य के जैनेतर भक्त ही है। जहां तक तेरापंथी जैन समाज का सम्वन्ध है, उनके यहां तो मूर्तिपूजा का निषेध है।

जहां जयाचार्य की समाधि है वहां सं० १९३८ (१८८१ ई०) में ही नहीं, वहुत वाद तक सरदारमल लूणिया का वाग था। जानकार लोगों के अनुसार सन् १९३७ से १९४० ई० तक इस वाग के मकानात में भूतपूर्व

जयपुर रियासत के महकमा हिसाव के आडिट आफिसर विष्णुदयाल कायस्थ किरायेदार थे। समाधि-स्थल पर छत्री तो बाद मे वनी है, उस समय मात्र एक चबूतरा ही था जिस पर जयाचार्य के 'पगलिये' या चरण-चिह्नों की एक चौकी वनी हुई थी। कहते है, आडिट आफिसर के वच्चे एक वार एक साथ ही वीमार पड गये। वे सव वाग मे धमा-चौकड़ी मचाते थे और समाधि के चबूतरे पर भी खेल-कूद मे कुछ गन्दगी फैला आते थे। अपने वच्चों की वीमारी से चिन्तित विष्णुदयाल उनकी आवश्यक चिकित्सा करा ही रहे थे कि एक वार उन्हे चबूतरे के पास जयाचार्य के सदेह दर्शन हुए। आश्चर्यंकित विष्णुदयालजी वाग के मालिक लूणियाजी के पास गए और सारा वृत्तान्त सुनाया। जव लूणियाजी ने उनको जयाचार्य की सारी गाथा सुनाई तो वे भी श्रद्धापूर्वक जयाचार्य का स्मरण करने लगे। उसी दिन से उनके वच्चे स्वस्थ होते चले गए। फिर तो वे जितने दिन वाग मे रहे इस समाधि की सफाई और रख-रखाव का विशेष ध्यान रखने लगे।'[1]

श्रद्धांजलि

जयाचार्य की चरम-कल्याण यात्रा में सभी धर्मो के लोग सम्मिलित थे। वे चल रहे थे और साथ-साथ अपनी श्रद्धाजलि भी समर्पित कर रहे थे। हजारों लोगों के हजारो स्वर आकाशिक भंडार मे सुरक्षित हो गए। हम इस धरती के वासी है, इसलिए जो धरती पर उपलब्ध है, उसे ही अपने पाठको तक पहुंचा सकते है।

आचार्यवर मघवा ने श्रद्धाजलि समर्पित करते हुए लिखा—

गुण गणधारक भवदधि तारक, कारक वर मर्याद।
सुमति सुधारक दोष निवारक, वर दायक मुक्ति अह्लाद ॥
समय सुज्ञाता ध्यान सु ध्याता, अरु त्राता जीव छः काय।
वोधि सुदाता भव्य ने राख्या, काई जाता दुर्गति माहि ॥
तिमिर हरण वर सहस्र किरण सम, करण हृदय उजियार।
पिण ते बाह्य तिमिर जन मेटे, तुम्ह दियो अंतर तिमिर निवार ॥
गणबाड़ी सीचन गणि धन सम, वर सुमति बेल सु वधार।
व्रत ग्यान वर पुष्प फल करी, प्रफुल करी श्रीकार ॥

१. जयाचार्य : एक रेखाचित्र, पृ. ५४,५५।

करी गण विशुद्ध करण हाजरी, ते आज री वखत मझार।
मुनि अज्जा ने अति हित काज री, महाराजा री बुद्धि उदार ॥
वलि लिखत मर्यादा अति ही ज्यादा, करी खलता मेटण काज।
अति शिक्षा आपी कुमति जु कापी, हिये थापी सुमति महाराज ॥'[1]

सुखराजजी भंडारी ने उस समय मरसिया लिखे, जो वहुत ही मार्मिक हैं—

सकल सिद्धान्त जाके लसत मुखारविन्द,
अनघ-अनन्त-गुण वृष्टि वरसायगो।
छत्र विद्वानन को, पवित्र रायचन्द-पाट,
दे नर विचित्र वोध, जग जश छायगो ॥
भने 'सुखराज' आह! कृतान्तगति जोर कहा?
जीत गण-कन्थ पन्थ स्वर्ग के सिधायगो।
मुकुट जिन-शासन को, शील दृढ आसन को,
सुधा बेन भासन को, वासन विलायगो ॥१॥
ज्ञान को दिनन्द पुर-पुर में प्रकाश करी
दास उर अरविन्द की राश विकसायगो।
प्रभुता अशेष वेश कहां लो कवेश पढे,
छिति पे जिनेश जैसी छटा छिव छायगो।
पाखंड हटाय, जीत डंका वजाय ग्राम,
ग्राम नाम ख्यात जीत कीर्त्ति को वधायगो।
मुकुट जिन-शासन को, शील दृढ आसन को,
सुधा बेन भासन को वासन विलायगो ॥२॥
सत्य को सुमेर ओ कुवेर ज्ञान कमला को,
वृन्दन मुनिन्द्र तामे इन्द्र-पद पायगो।
सुगती मग-दाता, त्राता, विख्याता भरत बीच,
भ्राता जन गोतम की ज्यूं जैन को जमायगो॥
मुद्रा-छवि प्यारी वलिहारी कवि वेर-वेर,
जीत-ब्रह्मचारी अवतारी, दिन आयगो।
मुकुट जिन-शासन को, शील दृढ आसन को,
सुधा बेन भासन को, वासन विलायगो ॥३॥

---

१. ते. आ. खं० २ पृ० २०३,२०४ [जयसुजश ६७।३३-३६, ४०,४१]

आगम अनुसारे केते भारे-भारे ग्रन्थ रचे,
आज जिनराज सो प्रकाश धर करगो।
न्याय अरु नीत को वधाय, जीत कीर्त्ति निधे!
गण में प्रबन्ध अति बान्ध प्रभा भरगो॥
भने 'सुखराज' भव-वार ए अपार जामे,
ज्याज ज्यों अनेक जीव तार आप तर गो।
रायचन्द-पाट को दिपाय के वधाय दोर
तीरथ चढाय शोभा देव लच्छी वरगो॥४॥

उस महान् आत्मा के प्रति उनकी निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर हमारी और हमारे समूचे धर्मसघ की तथा अनुशासन, साम्य और संप्रदायातीत धर्म मे विश्वास करने वाले सभी लोगों की विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित है।

परिशिष्ट

श्रीमज्जयाचार्य की कृतियां और उनका ग्रन्थमान

क्रम सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थमान (अनुष्टुप् श्लोकों में)
	साधना	
१.	छोटी चौबीसी	२४१
२.	बडी चौबीसो	७११
३.	आराधना	२६५
४.	ध्यान प्रकरण	१८७
	आख्यान	
५.	ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती	१७१
६.	खंधक संन्यासी	१६२
७.	जमाली	३५२
८.	महावल चरित्र	२४५
९.	पार्श्वनाथ चरित्र	३५४
१०.	अभ्यंगसेन	१७२
११	मंगल-कलश	२०९
१२	रत्नचूड	११३
१३.	महीपाल चरित्र	१६९५
१४.	सुरसुंदरी दवदंती	४८५
१५.	मोहजीत राजा	८०
१६.	दीपजश रसायण	२५५९
१७.	जयजशकरण रसायण	५०९३
१८.	गुणसुंदर शील मंजरी	१४७
१९.	सीतेन्द्र	२२३
२०.	धनजी	१०४९
२१.	यशोभद्र	७८
२२.	भरतबाहुबली	२१०
२३.	व्याघ्रक्षत्री	अपूर्ण
२४.	उज्झिया	"
	संस्मरण	
२५.	भिक्खुदृष्टान्त	२४२६
२६.	हेमदृष्टान्त	३८१
२७.	श्रावकदृष्टान्त	३९३
२८.	दृष्टान्त	
२९.	भिक्खु दृष्टान्त की जोड	
	जीवनियां	
३०.	भिक्षुजशरसायण	२१९९
३१	लघु भिक्षुजशरसायण	२८७
३२.	ऋषिराय सुजश	२५७
३३.	ऋषिराय पचढालियो	१२२
३४.	भिक्षु गणी गुण वर्णन	४४१
३५.	भारीमाल गणी गुण वर्णन	९४
३६.	रायचंद गणी गुण वर्णन	१०५
३७.	खेतसी चरित्र	२३७
३८.	शातिविलास	३८९
३९.	हेमनवरसो	४६७
४०.	सरूपनवरसो	२९९
४१.	भीमविलास	१०३
४२.	मोतीजीस्वामी	१११
४३.	उदेराज तपसी	२३५
४४.	हरख ऋषि	५७
४५.	सरदार सुजश	५२५
४६.	शिवजी स्वामी	१०२
४७.	सरूप चौढालियो	१५४
४८.	हेम चौढालियो	४६
	स्तुति काव्य	
४९.	संत गुणमाला	३८
५०.	शासन विलास	५४७
५१.	सती गुणवर्णन	८७७
५२.	सत गुणवर्णन	१२९०
५३.	जिनशासनमहिमा	३००
५४.	आर्या दर्शन की चौपाई	४४३

क्रम सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थमान (अनुष्टुप् श्लोकों में)
विधान-मर्यादा		
५५.	लिखतां री जोड	८०१
५६.	वडी मर्यादा	२५४
५७.	छोटी मर्यादा	२२८
५८.	गणपति सिखावण	८६
५६.	सिखावण री चौपी	६६०
६०.	मोच्छव री ढालां	६२२
६१.	परंपरा री जोड	४३६
६२.	टालोकरां री ढालां	२०७
६३.	टहूको	१५०१
६४.	परंपरा रा वोल (१)	६४०
६५.	परंपरा रा वोल (२)	७००
६६.	गणविशुद्धिकरण हाजरी	३२८७
६७.	लघु रास	१३४०
आगम-भाष्य		
६८	उत्तराध्ययन री जोड	५४२१
६६.	आचारांग री जोड	४१२६
७०.	आचाराग रो टव्वो	७४०७
७१.	ज्ञाता री जोड	२४८६
७२.	भगवती री जोड	६०६०६
७३.	निशीथ री जोड	६०७
७४.	अनुयोगद्वार री जोड	२०५
७५.	पन्नवणा री जोड	५५०
७६	चौरासी आगमाधिकार	१४५
७७.	निशीथ री हुंडी	४२५
७८.	बृहत्कल्प री हुंडी	२२५
७६.	व्यवहार री हुंडी	३२५
८०.	भगवती री संक्षिप्त हुंडी	४२५
तत्त्व-दर्शन		
८१.	झीणी चर्चा	११६७
८२.	झीणो ज्ञान	२२५
८३.	झीणी चर्चा रा वोल	२६६
८४.	भिक्खु पृच्छा	२६८
८५.	परचूनी वोल	१४३०
८६.	संजया री जोड	१३०
८७.	नियंठा री जोड	१८१
८८.	चर्चा रत्नमाला	१४६१
८६.	भिक्षुकृत हुंडी री जोड	३६७
६०.	भ्रमविध्वंसन	१००७५
६१.	प्रश्नोत्तर तत्त्ववोध (१)	१२४८
६२.	प्रश्नोत्तर तत्त्ववोध (२)	१८८३
६३.	जिनाज्ञा मुखमंडन	१३७८
६४.	कुमति विहंडन	१२४२
६५.	संदेह विषौषधि	७१००
६६.	प्रश्नोत्तरसार्धं शतक	१५७८
११२.	दीर्घ सिद्धान्तसार [१६ कृतियां]	४१७६१
१२०.	लघु सिद्धान्त सार [८ कृतियां]	८४१२
न्याय और व्याकरण		
१२२.	नयचक्र की जोड	२०१२
१२२.	पंचसंधि की जोड	२४०
१२३.	आख्यात की जोड	६६०
११४.	साधनिका	१७६६
उपदेश		
१२५.	उपदेश की चौपी	५०३
१२६.	उपदेश रत्न कथाकोश	६६५६६